अनुक्रम

१. सौन्दर्य शास्त्र की रूपरेखा ९-२९

सौन्दर्य शास्त्र · परिभाषा और परिधि ९, सौन्दर्य : विभिन्न शास्त्र-विज्ञान की दृष्टि मे १७, मनोविश्लेषण २२, दर्शन २६

२ सौन्दर्य : योरोपीय दृष्टि मे ३०-४६

३ सौन्दर्य : भारतीय दृष्टि मे ४७-६०

४ सौन्दर्य तत्व ६१-१०१

सौन्दर्य · प्रकृतिगत और कलागत ६१, सौन्दर्य : विषयगत या विषयीगत ६२, कला का सौन्दर्य ६९, क्रोचे का अभिव्यजनावाद और सौन्दर्य ७३, वक्रोक्तिवाद और अभिव्यजनावाद ८४, कुरूपता कहाँ रहे ? ८८, उपयोगिता का आग्रह ९३, कल्पना की रमणीयता ९७, प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता १००

४ उदात्त तत्व १०२-१२७

भावपक्ष के तत्व १०४, अलकारो की समुचित योजना १०५, उत्कृष्ट भाषा १०६, गरिमामय एव ऊर्जित रचना-विधान १०७

५. वैदिक साहित्य मे उदात्त तत्व १२८-१५१

६. वाल्मीकि की सौन्दर्य और उदात्त भावना १५२-१९६

७ व्यास की सौन्दर्य साधना १९७-२२८

८. कालिदास की सौन्दर्य-सृष्टि २२९-२६४

१ सौन्दर्यशास्त्र की रूपरेखा

सौन्दर्यशास्त्र : परिभाषा और परिधि

सौन्दर्यशास्त्र कला का दर्शन है। काव्य, सगीत, चित्र, मूर्ति, नृत्य आदि कलाओ की उत्पत्ति का रहस्य क्या है ? कला मे रूप तत्व का क्या स्थान है ? कलागत द्रव्य का क्या महत्व है ? कलाकृति के आस्वादन से आनद क्यो होता है ? कलामूलक सौन्दर्य और आनद का क्या स्वरूप है ? कला विषयक ऐसे अनेक प्रश्नो के उत्तर का दायित्व सौन्दर्यशास्त्र के ऊपर है।

सौन्दर्यशास्त्र यदि केवल कला जगत के ही सौन्दर्य का विश्लेषण करता है, तो फिर लता-पुष्प, वन-निर्झर, ऊषा-सध्या, पशु-पक्षी और नर-नारी के सौन्दर्य का निरूपण कौन शास्त्र करता है ? मानव या मानवेतर प्रकृति के अतर्गत अपनी ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा हम जिस सौन्दर्य की प्रत्यक्ष अनुभूति करते है, क्या वह इस शास्त्र का प्रतिपाद्य नही हो सकता ? हो सकता है। लेकिन, प्रकृतिगत सौन्दर्य की अनुभूति में ऐन्द्रिकता या स्थूलता की प्रधानता रहती है और कलागत में मानसिकता, काल्पनिकता और सर्जनात्मकता की। पहला सीमा मे घिरा हुआ, क्षणस्थायी और इन्द्रिय-प्रधान होता है, दूसरा देशकाल की सीमा से बिल्कुल उन्मुक्त या अत्यल्प आबद्ध एव कल्पना-प्रधान होता है। पहले की अनुभूति बार-बार दुहराई जाने पर नीरस हो जाती हे, लेकिन दूसरे की क्षण-प्रतिक्षण नूतन होती है। पहला रूपाकृति मे घिरा हुआ है, दूसरा अभि-व्यजना मे तरंगित होता रहता है। सौन्दर्य विज्ञान पहले का और सौन्दर्यशास्त्र दूसरे का विश्लेषण करता है।

शास्त्र और विज्ञान मे थोडा अतर है। युक्ति, तर्क, प्रमाण आदि के आधार पर शास्त्र अपना मत निर्धारित करता है। व्यक्ति की आतरिक प्रयोग-शाला मे जब जीवन का तथ्य सत्य के रूप मे प्रमाणित होता है, तब वह शास्त्रीय हो जाता है। उसमें चिंतन, मनन, ऊहापोह, निष्कर्ष, और सिद्धात-निरूपण का विशेष स्थान है। विज्ञान मे बाह्य प्रकृति के किसी द्रव्य या

तथ्य का यत्र, प्रयोग, तुलना, सामान्यीकरण आदि के द्वारा विश्लेषण किया जाता है। मानवजगत् के सुख-दुख, आदर्श, उत्कर्ष, मूल्य, कल्याण, श्रेय-प्रेय आदि का विवेचन विज्ञान का लक्ष्य नही होता। मानवीय श्रेय-प्रेय से तटस्थ रह कर वह सत्य का विश्लेषण करता है। पानी, नमक, अणु आदि का विश्लेषण यान्त्रिक प्रयोगो के आधार पर ही सभव है। अपने को मानवीय सदर्भ से अलग हटा कर इस बाह्य उपकरण का विवेचन किया जा सकता है। कुछ विचारको ने सौन्दर्य का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है। विभिन्न युगो की कलाकृतियो को सामने रख कर उनके रूप का तुलनात्मक अध्ययन, इस पद्धति के अन्तर्गत आयेगा। फ्रेंच विचारक तेन ने कला का विवेचन मानसिक, सामाजिक, ऐतिहासिक और भौगोल्मिक तत्वो के आधार पर प्रस्तुत किया है। सौन्दर्य विज्ञान कला के बाह्य उपकरणो को ध्यान मे रख कर सामान्य नियमो का प्रतिपादन करता है। प्रायोगिक मनोविज्ञान सुन्दर की अनुभूति का, यत्रो की सहायता से भी, विश्लेषण प्रस्तुत करता है। विभिन्न विज्ञानो के बीच सौन्दर्य-सत्ता का क्या स्वरूप है, इस पर शीघ्र ही विचार किया जायगा। अभी द्रष्टव्य यह है कि सौन्दर्य शास्त्र कलावत या रसिक को किस रूप में साहाय्य प्रदान करता है।

सौन्दर्य-विषयक विचारको को हम तीन कोटि मे रख सकते है :

(क) कलाकृतियो के अध्ययन से अलग रह कर, ऐतिहासिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन करने वाले,

(ख) कलाकृतियो से यत्किंचित परिचय प्राप्त कर दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण करने वाले, और

(ग) कलाकृतियों से बिल्कुल तटस्थ रह कर केवल दार्शनिक दृष्टि से निरूपण करने वाले विचारक।

उपर्युक्त तीन कोटि के विचारको का प्रतिनिधित्व क्रमश तेन, शोपेनआवर और काट करते है। इस प्रकार की दार्शनिक कृतियों के अध्ययन से सौन्दर्यानुभूति मे हमे कहाँ तक सहायता मिलती है यह विचारणीय है[1]।

सौन्दर्यशास्त्र दर्शन-क्षेत्र के अतर्गत आता है। अपनी कल्पना से क्रीडा करने वाला किशोर कलाकार इस क्षेत्र में प्रवेश नही करना चाहता। कला-सृजन के प्रसग मे इस शास्त्र की उसे तनिक भी आवश्यकता प्रतीत नही होती।

सौन्दर्य का शास्त्र के रूप मे प्रतिष्ठित होने के पूर्व भी विश्व मे अनेक कलाकृतियाँ प्रणीत हो चुकी थी। किसी विषय का शास्त्रीय ज्ञान, अधिक मात्रा मे, कला-सृजन मे बाधा उत्पन्न करता है। शास्त्र का निष्णात पडित कलामदिर का पुजारी नही हो पाता। केवल कलाकार बहुत कुछ भूलना चाहता है, केवल पडित बहुत कुछ सीखना चाहता है। पाडित्य का ग्रह कला मे शिवोऽहं हो जाता है। साहित्य शास्त्र के सभी लक्षण ग्रथ रट कर कोई 'मेघदूत' नही लिख सकता, कोई 'हैमलेट' या 'मेन एड सुपरमेन' नही लिख सकता। रस-सिद्धात का प्रवीण व्याख्याता सरस काव्य भी रच सकता हे, ऐसा कथन हास्यास्पद होगा। सौन्दर्यशास्त्र कला के सैद्धातिक पक्ष का विश्लेषण करता है, सृजन-पक्ष का निर्देशन नही। बोसाके का कथन है कि 'सौन्दर्यमूलक सिद्धात दर्शन की एक शाखा विशेष है और इसकी सत्ता ज्ञान के लिए है, स्रष्टा के निर्देश के लिए नही। सौन्दर्य शास्त्री, सक्षेप मे, कलाकार को समझने की इच्छा करता है, इसलिए नही कि वह उसके क्षेत्र मे दखल दे, बल्कि इसलिये कि वह अपनी बौद्धिक जिज्ञासा को सतुष्ट कर सके।'[१]

उक्त मत के विरोध में यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि कलाकार जब अपनी कृतियो की समालोचना सुन कर या पढ कर प्रभावित होता है, तो वह सौन्दर्यशास्त्र सबधी मान्यताओ को जान कर प्रभावित क्यो नही होगा? आलोचको की स्तुति या भर्त्सना से कई कलाकार बुरी तरह प्रभावित होते देखे गये हैं। स्वय अपने दोष या गुण का उन्हे पक्का पता नही रहता। आलोचकों द्वारा दर्शाये जाने पर वे उनसे प्रभावित होते है, और अगली रचनाओ मे उनसे लाभान्वित होते है। आलोचना से प्रभावित हो कर कुछ कवि अपनी मान्यताएँ भी बदल लेते है, छायावादी से प्रगतिवादी और उससे प्रयोगवादी बन जाते है।

---

[१]Aesthetic Knowledge is a branch of philosophy, and exists for the sake of knowledge, and not as a guide to practice. . The aesthetic theorist .. desires to understand the artist not in order to interfere with the latter, but in order to satisfy an intellectual interest of his own.

—Bernard Bosanquet : A History of Aesthetics (Preface).

मार्क्स और गाँधी के सिद्धान्त से जब राजनीतिक जगत् मे उलट-फेर हो सकते है, तो सौन्दर्यमूलक सिद्धान्त से कला-जगत् मे क्यो नही होगे ? सौन्दर्यशास्त्र केवल विचारमूलक या सिद्धान्त प्रतिपादक ही नही, वह विवरणमूलक या व्यावहारिक भी हो सकता है। लोगिनुस ने, उदात्त पर अपने विचार प्रस्तुत करते समय, कई यूनानी कवियो की सुन्दर पक्तियो को उद्धृत किया है। रस, अलकार आदि पर विवेचन करते हुए सस्कृत के आचार्यो ने उत्कृष्ट काव्य-पक्तियो का भी यत्र-तत्र उल्लेख किया है। ऐसी कृतियो के अध्ययन से कलाकार का मानस जगत् आन्दोलित और प्रभावित होता है। लेह्मान का कथन है कि जिस प्रकार आचार-शास्त्र मे नवीन मत के प्रवेश से व्यक्तियो के चरित्र पर कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार कलाशास्त्र के विवेचन से कलाकार की कृतियाँ, अल्पमात्रा मे ही सही, अवश्य प्रभावित होती है।[1]

बोसाके और लेह्मान के उपर्युक्त मत अपनी-अपनी जगह पर ठीक है। पहला मत सौन्दर्यशास्त्री को कलाकृति से बिल्कुल तटस्थ रखता है। उसे विचार-शिखर पर आसीन हो कर, कलाजनित सवेदन से शून्य हो कर, नीरस दार्शनिक की तरह, सौन्दर्य का निर्मम विश्लेषण करना चाहिए। क्योकि, भावन करता हुआ मन चिंतन नही कर सकता, और चिंतन करता हुआ मन भावन नही कर पाता। कविता-लता मे खिले हुए फूलो को न वह देख सकता है, न छू सकता है, न सूँघ सकता है। काट एक ऐसा ही सौन्दर्य-शास्त्री है। दूसरा मत सौन्दर्य-शास्त्री को छूट देता है कि वह फूलो की सुगध का आस्वादन भी करे और उसका तटस्थ विश्लेषण भी। आस्वादन और विश्लेषण एक दूसरे की सीमा मे, 'प्रवेश-निषेध' की तख्ती हटा कर, आ-जा सकते है। लोगिनुस, बर्क, ब्रैडले, मम्मट, शुक्ल जी आदि विचारक दूसरे मत के अवलम्बी दिखाई पड़ते है। मेरे विचार

[1]'No one will pretend that conduct remains unaffected by even the most dispassionate reflection on ethics; equally no artist can prevent reflection on his art by any one whose work comes to his notice from affecting the way he treats it ..
—A G. Lehmann ; The Symbolist Aesthetics in France, p 5.

से दूसरा मत अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है । सौन्दर्य-शास्त्री अपने सिद्धात का निरूपण कलाकृतियो के रसास्वादनोपरात करे, तो वह अधिक विश्वसनीय होगा । कभी-कभी तो कलाकृतियो मे से ही कला के सिद्धान्त प्रादुर्भूत होते है । और शास्त्रो की अपेक्षा इसमे सिद्धात और व्यवहार अधिक सनिकट दीखते है । काम-शास्त्र के किसी प्रश्न का उत्तर जानने के लिए, कहा जाता है, कि शकराचार्य को एक राजा के शरीर मे प्रवेश करना पडा था । उसी प्रकार, सौन्दर्य-शास्त्र के ज्ञान के लिए आचार्य को किसी कवि की काया मे प्रवेश करना पडेगा । इस शास्त्र का आचार्य परकायप्रवेश-विद्या मे भी निपुण होता है ।

धर्म और दर्शन के प्रवाह से कला की सरणियाँ भी प्रभावित होती रही है, इस कथन का औचित्य भारत की विभिन्न कलाएँ अपने उदाहरणो द्वारा सिद्ध करती है । बौद्ध और भक्ति दर्शन का प्रभाव यहाँ की मूर्ति और काव्य कला पर अत्यधिक मात्रा मे पडा है । कला-जगत् के सैद्धातिक पक्ष से, किसी-न-किसी रूप मे, कलाकार प्रभावित होते हैं, यह निर्विवाद सत्य है । कुछ मूर्धन्य कलाकार औरो के सिद्धातो से स्वय प्रभावित न हो कर उन्हे ही प्रभावित कर देते है, यह भी सत्य है । लेकिन यदि दूसरा सत्य अपवाद स्वरूप मान लिया जाय, तो पहला सत्य नियम बन जाता है । फिर भी, सौन्दर्यशास्त्र की इतनी उपयोगिता तो अवश्य है कि उससे कला सबधी हमारी जिज्ञासा को सतुष्टि मिलती है । सौन्दर्य का सागोपाग विवेचन देखने से हमारी धारणा मे प्रौढता, चिंतन मे गभीरता और भावना मे शालीनता आती है । रूप, द्रव्य, अलकार, प्रतिभा, रुचि, आनद, सुन्दर, कुरूप, उदात्त आदि विषयो का यह शास्त्र सम्यक् निरूपण उपस्थित करता है । एतद्विषयक अध्ययन से हमारे ज्ञान का क्षितिज व्यापक होता है, और साथ ही, कला की कोई कसौटी भी हाथ लग सकती है । सौन्दर्यशास्त्र की परिभाषा पर विचार करते हुए डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा ने लिखा है :

"अपनी अनुभूति—प्रत्यक्ष, स्मृति, कल्पना आदि—द्वारा आनद को उत्पन्न करने वाली वस्तु के गुण को 'सौन्दर्य' और उस वस्तु को 'सुन्दर' कहते है । सौन्दर्य का अनुभव व्यापक और महत्वपूर्ण है । इससे हृदय सरस और जीवन उर्वर होता है, बुद्धि को नवीन चेतना और कल्पना को सजीवता प्राप्त होती है । इस महत्वपूर्ण अनुभूति का अनुशीलन करने, इसके स्वरूप और स्वभाव को समझने, जीवन की दूसरी अनुभूतियों के साथ इसका सबध स्पष्ट करने तथा इसकी पुष्ट और रचनात्मक शक्ति को समझने के लिए, जिससे कला का जन्म

होता है, हमें एक विशेष विचारमाला की आवश्यकता होती है । इस व्यवस्थित विचारमाला को हम सौन्दर्यशास्त्र कहते है । सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य की शास्त्रीय विवेचना है ।"[१] बोसाके ने 'एस्थेटिक्स' को 'दि फिलासफी ऑव दि ब्युटिफुल'—'सौन्दर्य का दर्शन' कहा है । लेह्मान के मतानुसार "सौन्दर्य शास्त्र उन स्थितियो या मान्यताओ का अध्ययन है जिन पर कोई कलाकार और उसके श्रोता अपनी क्रियाशीलता आधारित करते है ।"[२] इस परिभाषा मे सौन्दर्य—रस—के स्रष्टा और उसके उपभोक्ता—सहृदय—दोनो की चित्त-दशा के विश्लेषण पर बल दिया गया है । इसमे दोनो की सामाजिक स्थिति और आतरिक मान्यता के विवेचन को प्रमुख स्थान मिला है । सौन्दर्य के विषय और विषयी, वाह्य स्थिति और आन्तरिक मान्यता एव रूप और अनुभूति के पक्ष-द्वय पर विवेचन करना इस परिभाषा का अभीष्ट है । श्रोता वर्ग की क्रिया प्रतिक्रिया का अध्ययन भी सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत आ जाता है । लेह्मान ने उक्त परिभाषा को स्पष्टतर करने के लिए एक स्थल पर कहा है कि "कला का सृजन कैसे हो—इस पर कलाकार एव अन्य जन जो कुछ विचारते है, सौन्दर्यशास्त्र उसी का एक ब्योरा है ।"[३] इस परिभाषा मे तथ्य और आदर्श दोनो का समावेश हो जाता है, जिससे सौन्दर्यशास्त्र विवरणमूलक (कलाकृति सौन्दर्य-तथ्य का उल्लेख) और विशुद्ध विचारमूलक (कला-प्रभाव से अनासक्त हो कर विशुद्ध वैचारिक दृष्टि से कला सौन्दर्य का विवेचन करना, कला को कैसा होना चाहिए—इसका निर्लिप्त चिंतन)—Descriptive–Normative—दोनो ठहरता है ।

सौन्दर्यशास्त्र की परिभाषा का उल्लेख हो चुका । अब, सौन्दर्य की

---

[१] सौन्दर्य शास्त्र—पृ० १०

[२] ...aesthetics studies the conditions and assumptions on which any artist—and his andience—base their activities.

—The Symbolist Aesthetic in France, p. 6

[३] ...to define aesthetics as giving us an account of how artists and others think art ought to be produced.

—वही पृ० ८

परिभाषा का भी एक रूप प्रस्तुत है। अपनी तुच्छ बुद्धि से सौन्दर्य को समझने के प्रयास मे मैं इस निष्कष पर पहुँचा हूँ .

जिस वस्तु, व्यापार या भाव मे व्यक्ति का चित्त रमण करता है, वह उस क्षण उसे सुन्दर प्रतीत होता है। उस समय विषय और विषयी मे, दृश्य और द्रष्टा मे, प्रमेय और प्रमाता मे एक सामजस्य स्थापित हो जाता है। एकात अनुकूलता उपलब्ध होते ही व्यक्ति का चित्त वस्तु के साथ रमण करता है। एक तत्व के दो भिन्न रूप, जब अपनी भिन्नता को भुला कर, उस तत्व की अभिन्नता का अनुभव करते है, तभी वे रमण करते है। वस्तु और व्यक्ति की चित्रवृत्ति का सम्यक् योग—सयोग—रमण कहा जायगा। जिस वस्तु या व्यापार के साथ चित्त रमण करता है, वह रमणीय हो जाता है, सुन्दर लगता है। इसलिए सौन्दर्य वह गुण है जो वस्तु और व्यक्ति के, वाह्य और अतर के सामजस्य से उत्पन्न होता है। यह गुण वस्तु पर आरोपित होते समय सुन्दर और चित्त मे अनुभूत होते समय सुखद प्रतीत होता है। सुखानुभूति का कारण चित्तवृत्तियो का सामजस्य है। अलौकिक सौन्दर्य की अनुभूति सुख-दुख से परे होती है, इसलिए उसे आनन्द की सज्ञा मिली है।

मेरा उपर्युक्त कथन, जैसा मै अनुभव करता हूँ, दार्शनिक शब्दावली के कारण, बहुतो को अस्पष्ट प्रतीत होगा। क्योकि, दर्शन से व्याख्या बोझिल और मनोविज्ञान से वह स्पष्ट होती है। देखा जाय, आगे यह कहाँ तक स्पष्ट होती है।

अनेक विचारको ने सौन्दर्य को अपनी-अपनी दृष्टि से पारिभाषित करने का प्रयास किया है। मैं उन सबो का विवेचन नही कर सकूँगा। फिर भी, बोसाके की एक परिभाषा, जो मुझे अधिक जँची, का उल्लेख यहाँ करता हूँ। "सुन्दर वह है जिसमे चारित्र्य या वैशिष्ट्यमूलक प्रकाश रहता है। वह ऐन्द्रिय या कल्पना-रूप मे प्रकाशित, वस्तु-धर्म है। उसे प्रकाशित होने के लिए कोई माध्यम चाहिए। अभिव्यक्त सौन्दर्य मे सार्वजनीन अथवा अमूर्त्त व्यजनात्मकता सनिहित होती है।"[१]

---

[१]That which has characteristic or individual expressiveness for sense perception or imagination subject to the condition of general or abstract expressiveness in the same medium.
—A History of Aesthetics, p. 5.

प्राचीन यूनानी आचार्य रूपगत सौन्दर्य (फॉर्म) पर बल देते थे, बोसाके ने रूप की शास्त्रीयता से ऊपर उठ कर सौन्दर्य के स्वच्छदतावादी पक्ष—प्रकाश या अभिव्यजना-पर जोर दिया है। उन्होने सौन्दर्य को न केवल आत्मा की आतरिक प्रक्रिया के रूप मे देखा, बल्कि उसका सबध वाह्य जगत् की वस्तु से भी स्थापित किया। वस्तु का वाह्य रूप जब तक हमारी कल्पना या ऐन्द्रिकता का विषय नही बन जाता, तब तक सौन्दर्यानुभूति की उत्पत्ति सभव नही। कल्पना के वृत्त मे प्राकृतिक वस्तु सत्ता का जो आभास मिला करता है, उसी के साथ सौन्दर्यानुभूति का सबध है। सौन्दर्यानुभूति मे चारित्र्य या वैशिष्ट्य-मूलक प्रकाश भी अनिवार्य है। केवल सामान्य ज्ञान के आधार पर वस्तु का सौन्दर्यबोध सभव नही। हमारी दृष्टि मे वस्तु की विशिष्टता, खासियत, विचित्रता, उसके निजी व्यक्तित्व का बोध होना चाहिए। कोई सहृदय जब तक अपनी कल्पना मे किसी वस्तु के विशेष रूप या गुण या चारित्र्य का भावन नही करेगा, जब तक वह उसकी किसी खासियत पर नही रीझेगा, तब तक उसे सौन्दर्यानभूति नही हो सकती। सौन्दर्यबोध के लिए उस वस्तु की विशिष्टता का बोध अनिवार्य है। लेकिन, वह वस्तु-वैशिष्ट्य, किसी माध्यम से अभिव्यक्त होने पर, सार्वजनीन प्रतीत होता है। कलाकार की कल्पना मे आया हुआ विशेष प्रकार का इन्द्र धनुष, शब्दो के माध्यम से अभिव्यजित होने पर अपनी विशिष्टता खो कर, सार्वजनीन हो जाता है। सौन्दर्यानुभूति मे वैयक्तिक सुख-दुख का हर्ष-विषाद नही रहता। सहृदय अपने तुच्छ स्वार्थ के घेरे से ऊपर उठ कर, देश, काल, नाम, रूप की सीमा का अतिक्रमण कर विशिष्ट वस्तु के साधारणीकृत रूप का, भाव का, आस्वादन करता है।

उपर्युक्त परिभाषा मे हम आतरिक कल्पना—चित्तवृत्ति—और वाह्य वस्तु दोनो का सामंजस्य पाते है। सौन्दर्य के प्रमुख तत्व वैशिष्ट्य और कल्पना का भी यहाँ उल्लेख हैं, साथ ही अनुभूति के साधारणीकृत रूप की ओर भी सकेत किया गया है। प्रकाश या अभिव्यजना को, उक्त परिभाषा मे, सौन्दर्य का मूलाधार माना गया है। यह सब कुछ होते हुए भी इसमे 'आनद' का उल्लेख नही मिलता है। बोसाके सौन्दर्य-सृष्टि मे आनद तत्व की सत्ता स्वीकार करते हैं, लेकिन इसे वह सौन्दर्य का अव्यभिचारी लक्षण नही मानते। उनका कथन है कि कुछ कलाकृतियों मे साधारण जन को आनद का अनुभव होता है, लेकिन उच्च कोटि के कलाकार उनमे कोई रस नही लेते। उसी प्रकार,

उत्कृष्ट कलात्मक चित्रो को देख कर साधारण जन को कोई आनद नही होता, क्योकि, वे उनकी गहराई मे प्रवेश नही कर पाते। बोसाके यह स्वीकार करते है कि सौन्दर्यमूलक अनुभूति आनददायक अनुभूति होती है, लेकिन, हर प्रकार की आनदानुभूति सौन्दर्यानुभूति भी नही हो सकती है।

सौन्दर्य : विभिन्न शास्त्र-विज्ञान की दृष्टि में

पदार्थ विज्ञान—पदार्थो की रचना के मूल मे तत्वो का सघटन है। अनुसधान के द्वारा तत्वो की सख्या ९२ से बढकर ९६ तक पहुँच चुकी है। इनमे हाइड्रोजन का पहला, हेलियम का दूसरा और यूरेनियम का अतिम स्थान है। पदार्थ एकाधिक तत्वो का मिश्रित रूप है। इसका निर्माण मोलेक्यूल द्वारा होता है। जल के एक मोलेक्यूल मे दो एटम हाइड्रोजन और एक एटम ऑक्सिजन रहता है। जब तक रेडियोसक्रियता का आविष्कार नही हुआ था, लोग समझते थे कि अब एटम को आगे नही तोडा जा सकता। यह अविभाज्य, अविनाशी और अतिम मूल तत्व है। कुछ दिन हुए, एटम तोडा जा चुका और उसकी दो इकाई—एलेक्ट्रोन और प्रोटोन—का आविष्कार हुआ। जितने एलेक्ट्रोन है, वे सब आपस मे एक दूसरे के बराबर है। जितने प्रोटोन है, वे सब भी आपस मे एक दूसरे के बराबर है। लेकिन एक प्रोटोन एक एलेक्ट्रोन से करीब १८३५ गुना अधिक भारी है। हर प्रोटोन मे कुछ मात्रा मे धनात्मक विद्युत् वर्तमान रहती है। हर एलेक्ट्रोन मे ठीक उसी मात्रा मे ऋणमूलक विद्युत् उपस्थित रहती है। प्रत्येक एलेक्ट्रोन एक प्रकार का ढाँचा है, जिसमे एलेक्ट्रोन और प्रोटोन वर्तमान रहते है। सबसे सरल और सीधा हाइड्रोजन एटम है। इसमे एक प्रोटोन और एक एलेक्ट्रोन रहता है। एलेक्ट्रोन प्रोटोन के चारो ओर घूमता रहता है। हो सकता है, इस एटम का एलेक्ट्रोन टूट जाय, विनष्ट हो जाय, तब, वह एटम केवल धनमूलक विद्युत से सयुक्त हो जायगा। यह ध्यान देने की बात है, कि, प्रोटोन अपने मे एक दूसरे को ढकेलते रहते है। वे आपस मे सटना नही, हटना चाहते है। और, यही गति एलेक्ट्रोन की भी है। लेकिन एक एलेक्ट्रोन और एक प्रोटोन एक दूसरे को आकर्षित करते है, वे हटना नही, सटना चाहते है। मेरे एक मित्र ने, जो दिलचस्प डाक्टर हैं, एटम के ढाँचे की उपमा श्री कृष्ण की रासलीला से दी है। एक कृष्ण बीच मे खडे है, और कई गोपियाँ मडलाकार हो उनके चारो ओर नृत्य कर रही है। उसी प्रकार एक प्रोटोन को केन्द्र मान कर एक या एकाधिक एलेक्ट्रोन मडलाकार घूमते

रहते है । प्रोटोन, धनमूलक विद्युत्, पुरुष—श्री कृष्ण है, एलेक्ट्रोन, ऋरणमूलक विद्युत्, नारी गोपिका है । अणु की त्रियाशीलता श्री कृष्ण की रास लीला है । इस प्रकार, जगत् का मूल तत्व एलेक्ट्रोन-प्रोटोन हुआ ।

एलेक्ट्रोन और प्रोटोन कोई ठोस या तरल कण नही है, बल्कि वे एक प्रकार की तरग है । यह विद्युत्-तरग भी एक प्रकार की घटना (इवेन्ट) है । इस तरग का, घटना का, सबध सपूर्ण समुद के कण-कण से जुडा हुआ है । इन अणुओ मे, घटनाओ मे, वस्तु के सृजन, पोषण और सहार की शक्ति स्वत वर्तमान रहती है । एक अणु मे ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक साथ निवास करते है । ऊपर जो कुछ कहा गया उसका निष्कर्ष सिर्फ इतना ही है, कि प्रोटोन-पुरुष और एक्लेट्रोन-प्रकृति दोनो एक दूसरे को आकर्षित किया करते है ।

युवक के अदर का प्रोटोन युवती के अदर के एलेक्ट्रोन से प्रतिक्षण आकृष्ट हो रहा है । आकर्षण के कारण दोनो का मिलन होता है और पुनः सृजन, सवर्धन होता है । विकर्षण आकर्षण की प्रतित्रिया मात्र है । हर अणु मे आकर्षण-विकर्षण की प्रवृत्ति मौजूद रहती है । आकर्षण मिलन, सृजन, यानी प्रेम को जन्म देता है, विकर्षण विलगता, विनाश, यानी घृणा को जन्म देता है । जो वस्तु आकर्षित करती है वह सुन्दर कहलाती है, जो विकर्षित करती है, वह कुरूप । सुन्दरता आनद की और कुरूपता दुख की, घृणा की अनुभूति है ।

पुरुष के शुक्र मे शुक्राणु और नारी के रज मे डिम्बाणु नामक कीटाणु वर्तमान रहते है । शुक्राणु गतिशील और डिम्बाणु स्थितिशील होता है । जिस प्रकार क्रियाशील शुक्राणु स्थितिशील डिम्बाणु के द्वारा आकृष्ट हो कर सृजन व्यापार मे सलग्न होता है, उसी प्रकार पुरुष रमणी के द्वारा आकर्षित हो कर सृष्टि के कार्य में तत्पर होता है । युवक-युवती का परस्पर आकृष्ट होना प्राकृतिक है, लेकिन, उनकी सजातीय रतिभावना निश्चय ही रति का विकृत रूप है । विकृत इसलिए, कि वह सृजनमूलक नही है ।

समाज विज्ञान—डार्विन के विकासवाद ने चितन के हर क्षेत्र को प्रभावित किया है । समाज विज्ञान भी इस वाद के प्रकाश मे व्यक्ति, समुदाय और राज्य का अध्ययन करता है । जिस प्रकार धर्म, राजनीति और शासन व्यवस्था का क्रमिक विकास हुआ है, उसी प्रकार सौन्दर्य भावना का भी । धार्मिक विधिविधान या नैतिकता की मर्यादा की स्थापना सामाजिक व्यक्तियों

के पारस्परिक विचार विनिमय के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है। सुन्दरता का मापदड भी पूर्णतया सामाजिक तत्वो पर निर्भर करता है। भाषा की तरह सौन्दर्य-चेतना सामाजिक प्रक्रिया का परिणाम है।

कही काले मोटे ओठ, कही छोटे-छोटे पाँव, कही भूरी नीली आँख, कही दूधिया गोराई और कही चम्पई रग अच्छा लगता है। शीत और उष्ण कटिबध वालो के लिए फूल की सुन्दरता का मापदड निश्चय ही भिन्न होगा। सहारा और कश्मीर की सौन्दर्य भावना एक-सी नही हो सकती। भिन्न-भिन्न देशो मे, सामाजिक, भौगोलिक, और राजनीतिक परिस्थितियो के कारण, सौन्दर्य भावना के भिन्न-भिन्न रूप है। काल या युग का प्रभाव हमारी चेतना पर पडता रहता है। वैदिक काल से ले कर आधुनिक काल तक हमारी सौन्दर्य सबधी मान्यताओ मे काफी परिवर्तन हुआ है। कविता, नृत्य, सगीत आदि कलाओ मे सदा परिवर्तन होता रहा है। पहले के चित्रो की कान तक खिची हुई आँखे, धनुष की तरह ऊँची भौहे, मुट्ठी भर पतली कमर, और तालफलोपम उरोज, इन दिनो शायद उतने पसद नही किये जाते। (पता नही, शायद पसद किए भी जाते हो) सौन्दर्य-भावना बदलते वातावरण के साथ हमेशा बदलती आई है।

व्यक्ति की जन्मजात अतर्वृत्तियो को कुछ विद्वानो ने, अहमूलक, काम-मूलक और समाजमूलक—इन तीन भागो मे बाँटा है। आत्मसरक्षण की अतर्वृत्ति समाजमूलक है। हर अवयव अपनी सत्ता कायम रखने के लिए हर प्रकार से सघर्ष करता है। वह लडता, झगडता, मेल करता, जीता रहना चाहता है। जाति की सुदृढ़ता मे समुदाय की रक्षा होती है, और समुदाय से व्यक्ति की सुरक्षा होती है। इसलिए, व्यक्ति समाज की रक्षा के लिए प्राण तक देने के लिए तैयार रहता है। जिस वस्तु या व्यापार के जरिये व्यक्ति को सरक्षण प्राप्त होता है, सुख के साथ जीने का अवसर मिलता है, वह वस्तु या व्यापार उसके लिए अनुकूल है, सुखदायक है, सुन्दर हैं। लेकिन जिससे उसका विनाश हो सकता है, वह प्रतिकूल वस्तु उसके लिए दुखदायक और बदसूरत है। राजा (राजते, शोभते) प्रजा के लिए ईश्वर का अवतार है, चिरसुन्दर है; और आक्रमण करने वाला शत्रु राक्षस है। शूर्पणखा, कुभकर्ण, खर, दूषण, त्रिशिरा, दशानन आदि नाम शत्रु पक्ष के प्रति हमारी घृणा के परिचायक है। इस प्रकार किसी वस्तु का सुन्दर होना बहुत कुछ आत्मसरक्षण की भावना पर निर्भर है।

अकेले मे हर किसी को डर लगता है। बिन घरनी घर भूत का डेरा हो जाता है। अकेलापन आदमी को काटने दौडता है। वह सामाजिक प्राणी है। उसे केवल अपने बेटो को ही देख कर नही, बल्कि, अपने नाती-पोते के नाती-पोते को देख कर सतोष होता है। अपनी और अपनी जाति की रक्षा के लिए व्यक्ति एक से अनेक होना चाहता है। प्राणी की यह कामना मरने न पावे, इसके लिए प्रकृति ने प्रत्येक अवयव मे प्रजनन की बलवती वासना भर दी है। प्रजनन-व्यापार के द्वारा वह एक से अनेक होता है। इस कार्य मे सहायिका होने के कारण युवती रानी, रमणी, कामिनी और प्रेयसी बन कर सामने आयी। युवक भी राजा, रमण, कत, वल्लभ, बालम बन कर आया। अपनी प्रेमिका का पालन करने वाला व्यक्ति पति या भर्त्ता कहलाया। प्रसविनी होने के कारण नारी शरीर से सदा दुर्बल बनी रही, इसलिए वह दासी, अबला और गृहिणी कहलाई। हाकिम बन कर, हल जोत कर, व्यापार कर, ठीकेदार बन कर, बेटा माँ-बाप का पालन करेगा, इसी आशा पर, उसके शुभ जन्म के उपलक्ष मे बधावा बजता है। इसके विपरीत, एक-दो करके लगातार पाँचवी कन्या का जन्म सुनते ही, अपना धीरज खो कर, सास बहू पर टूट पडती है। वह अपने बेटे के दूसरे ब्याह की धमकी भी देती रहती है। सामाजिक परिस्थितियो के कारण बारहवे बेटे का भी जन्म उत्साहवर्द्धक, और कन्या के रूप मे पहली सतान का भी शुभागमन चिंताजनक दीखता है। तात्पर्य यह कि किसी वस्तु का सुन्दर और सुखद होना हर समाज की अपनी परिस्थितियो पर निर्भर करता है।

कॉडवेल ने—'फर्दर स्टडीज इन ए डाइग कल्चर' मे सौन्दर्य पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से एक विचारोत्तेजक निबध लिखा है। उन्होने सौन्दर्य को सामाजिक उत्पादन (ए सोशल प्रॉडक्ट) कहा है। व्यक्ति जिस वातावरण में सौन्दर्य का आस्वदन करता है, वह प्राकृतिक की अपेक्षा मामाजिक है। जैसे, गर्मी स्थूल पदार्थों के सघर्षण से उत्पन्न होती है, और उसके प्रकट होते ही, उसमे एक नयी आभा—नयी गति—आ जाती है, उसी प्रकार सौन्दर्य भी समाज के ठोस तत्वो से उत्पन्न हो कर नयी चेतना ग्रहण करता है। गर्मी किसी वस्तु मे देखी जाती है, सौन्दर्य, कॉडवेल के मतानुसार, समाज मे देखा जाना चाहिए। व्यक्ति और वातावरण की अतर्प्रक्रिया मे सौन्दर्य का जन्म होता है। सौन्दर्यानुभूति एक सच्ची, वास्तविक और यथार्थ अनुभूति है। समाज से बिल्कुल अलग हट कर इस अनुभूति की कल्पना नहीं की जा सकती।

दुख, दर्द और खुशी समाज का उत्पादन उसी अर्थ मे है, जिस अर्थ मे एक शिशु का जन्म। हमारे सुख-दुख का कारण कुछ अशो मे सामाजिक वातावरण और कुछ अशो मे हमारा निजी स्वभाव और सयम है। सुख-दुख का अनुभव हम अपने मन मे करते है, इसलिए लाचार हो कर उसे आतरिक अनुभूति कहते है, यद्यपि इसके कारण का अधिकाश समाज मे वर्तमान रहता है। सुख-दुख भले ही आतरिक अनुभूति हो, लेकिन सौन्दर्य के मापने का दड समाज मे है, वस्तु मे है। सौन्दर्य सामाजिक है, वस्तुनिष्ठ है, व्यक्ति के अन्दर की नही, बाहर की चीज है। जिस प्रकार एक वक्तव्य या वाक्य मे सत्य निहित रहता है, उसी प्रकार वस्तु मे, व्यापार मे, अपनी सामाजिक मर्यादा के अनुसार सौन्दर्य निहित रहता है। सत्य किसी कथन का, और सौन्दर्य किसी वस्तु का विशिष्ट और आवश्यक गुण है।

सौन्दर्य व्यक्ति की मानसिक चेतना के कारण परिलक्षित होता है, वह उसके चैतन्य की चीज है। यदि यह सच है, तो शका होती है कि सौन्दर्य बाहर की वस्तु का गुण कैसे हुआ ? इसके उत्तर मे कॉडवेल कहेगे कि चैतन्य कोई अजनबी, आसमानी चीज नही है। वह व्यक्ति और वातावरण के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम है। चेतना और सौन्दर्य दोनो का जन्म सामाजिक प्रक्रिया के कारण है। व्यक्ति और सौन्दर्य को सबधित करने वाला तत्व, ठोस तत्व, समाज है। व्यक्ति वातावरण से सघर्ष करता है, उसे बदलता है, स्वय को बदलता है, और समन्वय की खोज मे रहता है। समाज एक ऐसा ठोस तत्व है जो व्यक्ति को चॉद-सितारे और शबनम मे सौन्दर्य देखने के लिए उत्प्रेरित करता है। समाज व्यक्ति और सौन्दर्य का मध्यमपद ('मिडल टर्म') है।

जहाँ कही जानी पहिचानी चीजो से, समाज द्वारा, हमारा भावात्मक संबध स्थापित होता है, और वे जब किसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था प्रकट करती हों, तो बस, वही हमें सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। अर्थात्, वे ही चीजे सुन्दर है जो हमारे लिए सामाजिक उपयोग की है, जो हमे सामाजिक शृखला या सतुलन ('सोशल ऑर्डरिंग') बताती है और जो हमारे मन मे राग उत्पन्न करती है। सौन्दर्य, समाज द्वारा अभिसात वस्तुओ का भावात्मक तत्व है।[१]

---

[१] ...effective elements in socially known things.

—कॉडवेल।

Caudwel—Further Studies in a Dying Culture.

सामाजिकता से दूर हट कर कोई वस्तु या व्यापार सुन्दर नही हो सकता। जिन वस्तुओ का सामाजिक कल्याण की दृष्टि से उत्पादन होगा, उनमे उसके सदस्यो की सुरुचि और आवश्यकता का स्वभावत. समावेश हो जायगा। लेकिन, इन दिनो कलाकार की कृतियो का बाजार मे कोई सम्मान नही रह गया है। बुर्जुआ मिलमालिक जनता की रुचि और जरूरत को नही समझता। वह हमेशा बाजार मे अपने मुनाफे को देखता है। उसकी फैक्टरी के मजदूर अपने श्रम मे कला का वैशिष्ट्य नही दिखा पाते। वे माँग के मुताबिक माल तैयार करते है, जनता की परिष्कृत रुचि के मुताविक नही। इस प्रकार के बुर्जुआ समाज मे कला का प्रति दिन ह्रास होता जायगा, उत्पादन की हुई वस्तुओ से राग तत्व हटता जायगा और वह 'कैश'—पैसे पर चिपक जायगा। पूंजीवादी समाज मे कलाकृति या श्रम सुन्दर नही है, सुन्दर है पैसा। 'पैसा श्रम का सगीत है, और वही वस्तुनिष्ठ सुन्दरता हासिल करता है'।[१]

मनोविश्लेषण

मनोविज्ञान की इस शाखा के प्रमुख प्रवर्त्तक फ्रायड ने मानव जीवन मे काम का सर्वोपरि स्थान स्वीकार किया है। जीवन की शेष प्रवृत्तियाँ बस इसी एक की भिन्न-भिन्न रूप है। काम का वह शक्ति-श्रोत, जिससे मनुष्य की सारी प्रवृत्तियाँ सचालित होती है, 'लिबिडो' (Libido) के नाम से पुकारा गया है। युग ने एक जगह लिबिडो की तुलना उपनिषद् के ब्रह्म से की है। जीवन की इस मूल धारा को जिस नाम से भी पुकारा जाय—ब्रह्मा, आत्मा, प्राण, काम, चेतना जो भी इसे कहा जाय,—मतलब एक ही है। छादोग्य उपनिषद् मे प्राण को मन सहित सभी इन्द्रियों से ज्येष्ठ और वसिष्ठ कहा गया है।[२] प्राण के उत्क्रमण करने पर नेत्र, श्रवण, रसना और मन ये सभी निरर्थक हो जाते है। जीवन के प्रत्येक क्रिया-व्यापार के मूल मे प्राण ही है। प्राण प्रत्येक व्यापार में अपनी अभिव्यक्ति करता है। फ्रायड का लिबिडो भी मनुष्य की प्रत्येक क्रिया का प्रेरक है। फ्रायड ने नवजात शिशु मे भी काम-वृत्ति का आविष्कार किया है। प्रत्येक शिशु ज्यो-ज्यो बढता है,

---

[१]Cash is the music of labour. .. cash achieves objective beauty. —वही पृ० १०७।

सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।

[२]प्राणोवाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च। छान्दोग्य—५।१।१

उसके अदर ईडीपसकाम्प्लेक्स भी जटिल होता जाता है। इस ग्रथि के भली प्रकार सुलझने पर ही उसका भविष्य सुन्दर हो सकता है । माता-पिता की अनभिज्ञता, सामाजिक रूढियो और वर्त्तमान परिस्थितियो के कारण शिशु या बालक की कामवृत्ति का बुरी तरह दमन-अवदमन (रिप्रेशन) हो जाता है । अवदमित काम व्यक्ति के अचेतन मे विकृत रूप धारण कर उसके मानस को रुग्ण बना देता है । इसलिए इस प्रवृत्ति का विधिवत् नियमन या उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) होना चाहिए । कलाकार की कामवृत्ति का उदात्तीकरण उसकी कलाकृतियो मे देखा जा सकता है ।

साधारणत· व्यक्ति अपने यथार्य जीवन मे अपने मनोनुकूल यश, धन या प्रेम की उपलब्धि नही कर सकता । उसका अह हमेशा सुखोपभोग की ओर दौडता है, लेकिन उसके जीवन-पथ मे सामाजिक परिस्थितियो के कारण अनेक रोडे उपस्थित होते है । व्यक्ति के सुखवाद (Pleasure Principle) को समाज के यथार्थवाद (Reality Principle) से लडना पडता है । जब उसकी अधिकाश अभिलाषाएँ अधूरी रह जाती है, तब निराश हो कर, बाहरी दुनिया से अपने को समेट कर, भीतरी दुनिया यानी अपने मन के किले मे, वह लौट आता है । तब वह दिवा स्वप्नो या ख्याली पुलाव के द्वारा अपने मन की अतृप्त अभिलाषाओ की काल्पनिक पूर्त्ति कर सुख प्राप्त करता है । जो व्यक्ति अपने काल्पनिक जगत् के चित्र को, किसी माध्यम के द्वारा, पुन उसे मूर्त्त रूप में व्यक्त करता है, वह कलाकार है । कलाकार अपनी कृति मे किसी भी मन-चाही प्रेमिका से जी भर प्यार करता है । वह स्वच्छद हो कर अपनी कल्पना में स्वर्गीय सुख-भोगता है । वह स्वनिर्मित कल्पना लोक मे राजा होता है, शासन करता है, शत्रुओ को पराजित करता है, उन्मुक्त प्रेम करता है । दाते ने 'डिवा-इन कामेडी' मे बियट्रिश को प्यार किया और अपने शत्रुओ को इनफर्नो मे झोंक दिया ! फ्रायड के तर्क की कसौटी पर कालिदास का शृगार काव्य उनकी अतृप्त कामवासना की मानसिक पूर्त्ति का प्रतीक समझा जायगा । फ्रायडवादी आलोचक एक ही लाठी से सूर-मीरा ग्रोर रवि-महादेवी को हॉक देते है । ऐसे लोगों के लिए, 'एकोरस सेक्समेव निमित्त भेदात्' ।[1]

फ्रायड का मत है कि सौन्दर्य की जड कामोत्तेजन की मिट्टी मे गडी

[1]फ्रायड ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'लियोनार्दो द विंची : साइको-सेक्सुएल स्टडी ऑव एन इन्फैण्टाइल रेमिनिसेंसै' मे विंची के मानस की एक अजब व्याख्या प्रस्तुत की है ।

हुई है। पहले वही चीज सुन्दर कही जाती होगी जिससे कामवासना का उत्तेजन होता होगा। व्यक्ति कभी-कभी जिस वस्तु को सब से अधिक प्यार करता है, अपने अचेतन मन मे वह उससे बेहद घृणा भी करता है। जननेन्द्रिय को देख कर सब से अधिक कामोत्तेजन होता है, इसलिए स्वभावत उसे सुन्दर होना चाहिए, लेकिन मनुष्य उसे अश्लील कह कर ढँक देता है। सुन्दर अगो को, कामोत्तेजक अगो को, व्यक्ति ने वस्त्र से आच्छादित कर रखा है। वह उन अगो की चर्चा को अश्लील कहता है। शिष्ट व्यक्ति अश्लील मज़ाक सुन कर नाक-भौ तो सिकोडते है, लेकिन मन ही मन उसका आनद भी लेते है। अश्लील मजाक से वे शर्मिन्दा इसलिए होते है कि सबो के सामने उसके मज़े लेते समय वे पकडे गये। अश्लीलता के खिलाफ जेहाद ठाननेवाले ऐसे एक मित्र को मै जानता हूँ जो ऐसी गप्पें सुनते समय सदा लम्बकर्ण हो जाते है। मेघदूत के दो-एक श्लोको की व्याख्या करने मे कुछ अध्यापक, विशेषकर मिश्रकक्षा मे, खूब झेंपते है, उस जगह तेजी से आगे बढ जाते है, लेकिन वे अपने अन्तरग मित्रो मे उनका बेहद बखान करते है। अध्यापक जिसे छोडते है, छात्र उसे छेडते है। तटस्थ व्याख्या हो तो अश्लील श्लील हो जाता है। फ्रायड की दृष्टि मे वही वस्तु या व्यापार सुन्दर है, जो द्रष्टा या विषयी के काम-भाव को उत्तेजित करने मे सफल होता है। सुन्दरता एक सेक्स-अपील है।

व्यक्ति का अह अपने सुख की प्राप्ति के लिए बाहरी दुनिया का चक्कर लगाता है। जो वस्तु उसके सुख मे सहायक सिद्ध होती है वह सुन्दर, और जो बाधक, वह कुरूप है। सुखदायक, सुन्दर वस्तु को अपने अधीन करना, या उसके अधीन होना, एक ही बात है। काम-सुख सभी सुखो से बढ कर है। इसलिए काम को उत्तेजित करने वाली वस्तु सब से सुन्दर समझी जाती है। षोडशी 'रमणी' है, इसलिए वह सुन्दर है। प्रकृतिगत सुन्दरता प्रत्यक्ष सेक्स-अपील है। कलामूलक सुन्दरता अतृप्त सेक्स की कल्पना-मूलक परितृप्ति है। सुन्दरता की अनुभूति सेक्स की या सेक्स-जैसी अनुभूति है।

सुन्दरता की व्याख्या के लिए 'सेक्स-अपील' जैसे पद के प्रयोग पर लारेस अफसोस प्रकट करता है। वह कहता है कि सुन्दरता जीवन-ज्वाला का एक स्फुलिंग (a bit of life flame) है। उसकी दृष्टि में सेक्स और सौदर्य दोनो एक ही चीज है, ज्वाला और अग्नि की तरह।[1] यदि आपको

[1]Sex and beauty are one thing like flame and fire. —डी० एच० लारेन्स।

सेक्स से नफरत है तो सौन्दर्य से भी है। सेक्स मूल और सौन्दर्य फूल है।[१] कोई युवती इसलिए सुन्दर है कि उसके मुख पर सेक्स की ज्योति जल रही है। वह मुझ मे कामोत्तेजना भर रही है, इसलिए सुन्दर है। बहुत सी नारिया मुँह की बनावट और रग-रूप के कारण सुन्दर कही जाती है, लेकिन, उन्हे सुन्दरी न कह कर रूपवती कहा जाय तो उपयुक्त होगा। सुन्दर तो वे है जो तुरत हममे कामाग्नि प्रज्वलित कर देती है। पुरुष नब्बे का क्यो न हो, उसकी काम-शिखा कभी बुझती नही। ज्योति मलिन हो सकती है, लेकिन मौका मिलने पर वह तुरत जगमगा जाती है। राह चलते ऐसी अनेको नारियाँ दिखाई पडती है, जो हममे उत्तेजना नही भर पाती, लारेन्स की दृष्टि मे ऐसी सभी नारियाँ व्यर्थ है। उसके मतानुसार सुन्दरता एक अनुभूति है। सजावट, चेहरे की बनावट या रूप रग मे सुन्दरता नही रहती। सुन्दरता दिल को छूने वाली, महसूस की जाने वाली कोई चीज है। यह कोई चमक है, तेज है, लताफत है, जो हम तक पहँचाई जाती है। सुन्दर रमणी एक अनुभूति है, और कुछ नही।

सेक्स की माया सर्वत्र है। यदि लेडी सेक्रेटरी के नियुक्त करने का फैशन न चला होता, लारेन्स कहता है, तो सारा बिजनेस फीका पड जाता। इन्ही सुन्दरियो की सेक्स अपील के चलते तोदे मुस्कराती है। ऑफिस, पार्क, सिनेमा, ओपेरा, बैले कही जाइए, हर जगह सेक्स की हरियाली छायी रहती है।[२]

सौन्दर्य सभोग-सुख का उद्दीपन मात्र है—फ्रायडवादियों के इस कथन से लारेन्स को काफी चिढ है। मोर अपनी मोरनी को कामोत्तेजित कर प्रसन्न करने के लिए सुन्दर पख धारण करता है, मुर्गा अपनी माशूका को रिझाने के लिए मुकुट धारण करता है, नाईटिंगेल अपनी प्रेमिका को लुभाने के लिए गाता है—आदि बाते लारेन्स की दृष्टि मे सरासर झूठ है। मोरनी, वह कहता है, शायद, नीले पीले रग का फर्क भी नही जानती होगी। मुर्गी को अपने आशिक की खूबसूरती का शायद ही पता हो। सभोग-सुख या प्रजनन के लिए कोई सुन्दर

---

[१]Sex is the root.. ...beauty the flower. —वही।

[२]मेरे एक मित्र महोदय का कथन है कि जिस दिन उनके क्लास में केवल लड़के ही आते है, पढ़ाने में जी नहीं लगता। किसी खास ट्यूटोरियल को पाने के लिए मित्रों में स्पर्धा भी देखी गई है।

वेश धारण क्यो करेगा ? यह काम तो अधेरे मे भी चलता है। और फिर, मुर्गी ही अपने माथे पर लाल चोटी गूँथकर, बन ठन कर क्यो नही निकलती है ? सौन्दर्य को केवल प्रजनन-सुख का कारण या साधन मानना, लारेन्स के विचार से अन्याय है।

लारेन्स के मत की समीक्षा—यह दुर्भाग्य की बात है कि लारेन्स जैसा उत्कृष्ट कलाकार प्रकृतिगत और कलागत सौन्दर्य मे कोई भेद नही देख सका। कलागत सुन्दरता एक नवीन कल्पना है, एक अभिनव सृजन है, एक लोकोत्तर आनद है, इस तथ्य का उसे पता नही था क्या ? उसने सुन्दरता के प्रत्यक्ष रूप को देखा, कल्पना के सौन्दर्य को नही। किसी का मत है, सुन्दर तो केवल नेत्र का ही क्षेत्र नही है। श्रवण, नासिका, जिह्वा के द्वारा अनुभूत सौन्दर्य को क्या सुन्दर नही कहेगे ? माना, कि कामोत्तेजित करने वाली युवती मेरे लिए सुन्दर है। तो क्या, नारी केवल पुरुषो का सेक्स उभारने के लिए ही है ? वात्सल्य, दया मातृत्व, स्नेह इन सबो का जीवन मे कोई स्थान नही ? क्या सुन्दरता केवल सेक्सभरी जवानी मे ही है ? क्या 'नै बै चढती वार' ही सुन्दर है ? शिशु की दूधिया मुस्कान और बूढी दादी की जालीदार झुर्रियाँ क्या सुन्दर नही है ? सिंह के बच्चे से खेलता हुआ भरत हर दुष्यत के लिए सुन्दर है ? रूपगर्विता पार्वती शकर को प्रसन्न नही कर सकी लेकिन तपस्विनी उमा के वे स्वय क्रीतदास हो गये, 'तवास्मि दास क्रीत तपोभि'। सेक्स की अनुभूति सुन्दर है, इसे हर कोई स्वीकार करेगा; लेकिन, सौन्दर्य केवल इसी मे है, और कही नही, इसका समर्थन कोई भला आदमी नही करेगा। कला की दृष्टि मे कोहवर और कब्रिस्तान दोनो सुन्दर है। लारेन्स का कथन सत्य है, लेकिन जीवन के अश को ले कर, सपूर्ण को ले कर नही। यदि प्राकृतिक सौन्दर्य की अनुभूति घुमा फिरा कर सेक्स की ही अनुभूति है, तो भाई, इसे सेक्स नही प्रेम कहो, हिम्मत हो तो, परमात्मा कहो।

दर्शन

पुराने दार्शनिकों मे से किसी ने सौन्दर्य को आत्म का प्रकटीकरण कहा, किसी ने वस्तु के स्वरूप का उसे स्थायी गुण कहा, किसी ने उसे देखने वाले के भीतरी मन का गुण बताया। किसी ने सौन्दर्य का शृखला, अनुसारत्व, सामञ्जस्य आदि मे दर्शन किया, किसी ने उसे शिव या सत्य का पर्याय बताया, किसी ने ईश्वर या धर्म के रूप मे उसे देखा, किसी ने उसे सुखानुभूति या

निरुद्देश्य आनद के नाम से पुकारा, और किसी ने किसी नाम से और किसी ने किसी नाम से। यहाँ मै दो-एक दार्शनिको के मत का सक्षेपत उल्लेख करना चाहता हूँ।

सौन्दर्य विवेचन को एक स्वतत्र शास्त्र का रूप प्रदान करने मे काट का सब से बडा हाथ माना जाता है। कुछ के लिए उसके विचार अत्यत प्रौढ और गभीर है, और कुछ के लिए वाक् वितडा मात्र है। रसेल ने काट को हत-भागा तक कह दिया, 'ए मियर मिसफॉर्चुन।' अच्छा हो या बुरा काट कुछ है जरूर। उर्दू जुबाँ की तरह वह आते आते आता है। उसके दार्शनिक विचार तीन भागो मे प्रकाशित है द क्रिटीक ऑव प्योर रीजन, द क्रिटीक ऑव प्रैक्टिकल रीजन और द क्रिटीक ऑव द पावर ऑव जजमेट। पहले ग्रथ मे प्रकृति और आत्म के सार्वभौमिक नियमो का विवेचन है। दूसरे मे व्यावहारिक जगत् की रीतिनीति का विचार है। तीसरे मे अनुभूति से उत्पन्न विषयीगत सौन्दर्य का विश्लेपरण है। ये तीनो क्रमश प्राकृतिक, नैतिक और सौन्दर्यमूलक पद्धति का आलोचन प्रस्तुत करते है। प्रकृति और नैतिक जगत् के तथ्यो मे भिन्नता है, पहला विचार और तर्क का, और दूसरा इन्द्रिय-बोध का जगत् है। शकराचार्य के शब्दो मे इन दोनो को हम क्रमश पारमार्थिक सत्ता—जहाँ सब ब्रह्म है, और व्यावहारिक सत्ता—सुख दुखमय प्रत्यक्ष द्वन्द्वात्मक जगत्, कहेगे। मनुष्य किसी उद्देश्य या इच्छा से प्रेरित हो कर प्रकृति के साथ सपर्क स्थापित करता है। उसकी क्रिया मे उसके ज्ञान और इच्छा पक्ष का मिलन हो जाता है। जगत् के साथ व्यावहारिक रुचि दिखाने से व्यक्ति मे सुख-दुख की अनुभूति उत्पन्न होती है। विशुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टि से सत्य, ईश्वर, धर्म, सदाचार आदि की कोई आवश्यकता नही, लेकिन व्यावहारिक जगत् मे इन सबो की आवश्यकता हम महसूस करते है।

निर्णयात्मिका शक्ति (पावर ऑव जजमेट) व्यक्ति के समझने की प्रक्रिया (अडरस्टैन्डिग) या बोधवृत्ति और तर्क (रीजन) को मिलाने वाली बीच की कडी है। इसके द्वारा वह विभिन्न वस्तुओ मे, उसकी खास-खास खूबियो को प्रत्यक्ष देख पाता है। हमारे मन मे बहुत सी बातें बिखरी होती है, खडश पडी रहती है। इन अनुभव खडो को, जो पूर्ण के ही रूप है, यह शक्ति सश्लिष्ट रूप प्रदान करती है। यह इस जगत् में सोद्देश्यता, लक्ष्यमूलकता की दृष्टि प्रदान करती है। हम यह समझते हैं कि जगत् के जितने व्यापार है,

वे सब निश्चय ही किसी महान् लक्ष्य, किसी परम उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए घटित हो रहे है। इस सपूर्ण सृष्टि का कोई लक्ष्य है। यह निर्णयात्मिका शक्ति इस लक्ष्य का उद्घाटन करती है। यह दो रूपो मे प्रकट होती है। प्रथम रूप किसी उद्देश्य से बँध कर प्रकट होता है और दूसरा विशुद्ध आनद मे, बिना किसी खास मतलब के रमता दिखाई देता है। दूसरे का कोई स्पष्ट, उपयोगिता-मूलक लक्ष्य नही दिखाई देता है। काट ने इसे ऐसा उद्देश्य कहा है जिसका यथार्थ उद्देश्य से कोई सबध नही। सौन्दर्यमूलक विशुद्ध आनद मे व्यक्ति की इच्छा और ज्ञान की कुछ विशेषताएँ भी मौजूद रहती हैं। साधारण सुख की उपलब्धि मे व्यक्ति का आत्मपरक उद्देश्य स्पष्ट दिखाई पडता है। कल्याण और धर्म की भावना मे भी उसका ध्यान साधन और साध्य की ओर लगा रहता है। किसी वस्तु को प्राय दो दृष्टियो से हम देखते है, वाह्य रूप से हम उसकी व्यावहारिक उपयोगिता का ख्याल करते है, और आतरिक रूप से हम उसके मूल्य की व्यापकता पर ध्यान देते हैं। लेकिन, ये सारी बाते व्यावहारिक जगत् की है। सौन्दर्य के आनद मे हम ऊपर की सारी विशेषताएँ—नीति, धर्म, मूल्य, उपयोगिता, लक्ष्य आदि भूल जाते है। सौन्दर्य विशुद्ध आनंद का क्षेत्र है।

सौन्दर्य के विवेचन मे काट ने निम्नलिखित तथ्यो की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है —

(क) सुन्दरता से कोई व्यावहारिक या उपयोगी काम नही सधता है।

(ख) सुन्दर एक ऐसा लक्ष्य है जिसमे कोई सासारिक उद्देश्य नही रहता है।

(ग) सुन्दर मे निखिलता का तत्व रहता है। हमे सुन्दर की आवश्यकता महसूस होती है।

(घ) सुन्दर की अनुभूति में कार्य-कारण का, पूर्वापर सबध का, कुछ पता नही चलता है।

कांट की सलाह है कि कवि को अपनी कविता में किसी आदर्श या विचार के प्रति अनुरक्ति नही दिखानी चाहिए। क्योकि, तव उसकी कविता किसी उद्देश्य मे बँध कर विशुद्ध नही रह पायगी। कविता पर लादे हुए इस आदर्शवाद को उसने अतिरिक्त सौन्दर्य (एक्स्ट्रा एस्थेटिक) कहा है। इस प्रसग मे उसने रुचि (टेस्ट) की अत्यत सूक्ष्म व्याख्या की है।

हिगेल ने आत्म को विश्व का मूल तत्व माना है। यह अपने को विभिन्न रूपो मे अभिव्यक्त कर रहा है। यह चेतन, सतत प्रवहमान और सर्वव्यापी शक्ति है। जगत् का मूर्त्त रूप इसी का वाह्य प्रकाशन है। प्रतीकमूलक, शास्त्रीय और स्वच्छदतामूलक कलाओ[१] के माध्यम से आत्म का क्रमिक विकास हो रहा है। स्थूल और मूर्त्त उपादानो से सघर्ष करता हुआ यह आत्म अपने को काव्य मे पूर्णतया अभिव्यक्त कर पाता है। कला जगत् का सार सौन्दर्य है। वास्तविक सुन्दर तो चेतन सत्ता है, जो कला के माध्यम से मूर्त्त रूपो मे प्रकट हो रही है। आत्म, सुन्दर, चेतन, सत्य . ये एक तत्व के विभिन्न नाम है। कलाकृति मे सौन्दर्य का दर्शन उसी स्थल पर होता है जहाँ किसी आत्म (आइडिया) की अभिव्यक्ति होती रहती है। माता के वात्सल्य, प्रेमिका के प्रणय और शत्रु के क्रोध मे सर्वत्र वही आत्म अभिव्यक्ति पा रहा है। आत्म कला के रूप मे बँध कर आदर्श (आइडियल) हो जाता है। कलामूलक आत्म मे तीन गुण प्रत्यक्ष दीखते है सार्वभौमिकता, वैयक्तिकता और व्यापकता। कला का सौन्दर्य दिव्य सत्य, आत्म, की अभिव्यक्ति मे है।



[१]Symbolical—वास्तु कला।
Classical—मूर्त्ति कला।
Romantic—चित्र, संगीत, काव्य कला।

२

सौन्दर्य

योरोपीय दृष्टि में

प्लेटो ने इस सृष्टि को दो रूपो मे देखा है चेतन (आइडियल) और प्रतीयमान (फिनोमिनल)। चेतन जगत् नित्य है, चिन्मय है तथा आदि अत से परे है। इसमे कोई परिवर्तन नही होता, यह सदा एक रस रहता है। प्रतीयमान जगत् मे जो सौन्दर्य दिखाई देता है, उसका मूल उत्स इसी चेतन जगत् मे है। चेतन के सौन्दर्य की तरग—चिद् विलास—सर्वत्र व्याप्त है। चेतन का एकत्व प्रतीयमान के अनेकत्व के माध्यम से प्रकाशित हो रहा है। जहाँ अनेकत्व उस एकत्व के प्रकाश को अभिव्यक्त करता है, वही सौन्दर्य है। प्लेटो ने सौन्दर्य को तत्वज्ञान का साधन माना है। सौन्दर्य मे शिव—मगल विधान का तत्व—स्वत: निहित है। सौन्दर्य की आराधना के द्वारा व्यक्ति दिव्य सत्य का दर्शन करता है, पवित्र प्रेम का साक्षात्कार करता है और अपनी आत्मा का ईश्वरीय सत्ता मे निलय करता है। सौन्दर्यानुभूति के द्वारा व्यक्ति की दृष्टि नैतिक, चित्त पवित्र और चरित्र दिव्य हो सकता है। सौन्दर्य-विवेचन के प्रसग में प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने कहा है कि सुन्दर वह शिव है जो इसलिए आनन्ददायक है क्योकि वह शिव है।[1] सुन्दर के साथ सत्य, शिव और सदाचार की चर्चा प्राचीन यूनानी आचार्यों से प्रारभ हुई और यह आज तक किसी-न-किसी रूप में जारी है।

प्राचीन यूनानी आचार्यो मे अनेकता मे एकता का सिद्धात सौन्दर्य के स्वरूप विवेचन में अत्यंत प्रमुख रहा। कुछ आचार्यो ने सौन्दर्य को वस्तुविशेष की रूपाकृति मे अधिष्ठित पाया और कुछ ने व्यक्ति के चेतन मानस में उसका मूल तत्व देखा। प्रथम की दृष्टि से सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ और दूसरे की दृष्टि से आत्मनिष्ठ कहा जायगा। वस्तुनिष्ठ दृष्टि ने रूपाकृति पर बल दिया और

[1] The beautiful is that good which is pleasant because it is good.

तत्सबधी अनेक प्रतिमानो का उद्घाटन किया। रूपाकृति के प्रसग मे सौन्दर्य के निम्नलिखित तत्वो का प्राय विवेचन होता है,—

सम्मात्रा—सिमेट्री	सयम—मॉडरेशन
एकरूपता—युनिफॉर्मिटी	मसृणता—स्मूथनेस
विविधता—वैराइटी	व्यजना—सजेशन
औचित्य—प्रोप्राइटी	स्पष्टता—सिम्प्लिसिटी
सगति—हार्मनी	कोमलता—टेन्डरनेस
प्रमाणबद्धता—प्रोपोर्शन	वर्ण प्रदीप्ति—कलरिंग

एक ही प्रकार के दो या दो से अधिक अगो मे समानरूपता के तत्व को सम्मात्रा कहते है। एक समान अगो मे समरूपता का होना आवश्यक है। यदि किसी व्यक्ति का एक हाथ उसके जानु तक पहुँचता हो, और दूसरा उसकी कमर तक लटकता हो, तो वह हास्यास्पद हो जायगा। दोनो हाथो का लम्बाई, मुटाई आदि मे एक समान होना आवश्यक है। प्रमाणबद्धता या सानुपातिकता मे अनुपात का विचार किया जाता है। शरीर के विभिन्न अगो मे समविभाजन और सतुलन का होना आवश्यक है। जिस वस्तु मे जिस अग को जिस अनुपात मे, जिस अश मे होना चाहिए उसका उसी अनुपात मे होना प्रमाणबद्धता है। विशाल राजभवन में विशाल सिंह-द्वार शोभा देगा, लेकिन छोटे से मकान का बडा-सा फाटक भद्दा लगेगा। भवन की ऊँचाई के अनुसार ही उसके गुम्बद, कलश, द्वार आदि की ऊँचाई होनी चाहिए। किसी वस्तु के विविध अगो मे जिस तत्व के कारण उनमे सामजस्य का बोध होता है, वह सगति है। सगति का अर्थ विरोध का अभाव है। किसी सुन्दर पदार्थ के विभिन्न अवयव विभिन्न प्रतीत होते हुए भी घुल मिल कर एक तरग मे आ जाते है। इन्द्रधनुष के सात विभिन्न रग सगतितत्व के कारण एक इन्द्रधनुष दृष्टिगोचर होते है; उनमे सामजस्य और समन्वय का बोध होता है। यहाँ एक रग के द्वारा जो आभा व्यक्त होती है, वह दूसरे रग द्वारा पुष्ट होती है। इसमे एक के द्वारा दूसरे की सपुष्टि और समृद्धि होती रहती है। चित्र, नृत्य और सगीत मे विभिन्न प्रकार के वर्ण, गति और लय का प्रयोग होता है, लेकिन वे एक-दूसरे की सदा श्रीवृद्धि ही करते हैं। परस्पर विरोधी अगो मे भी सगति पाई जाती है जैसे काले मख-मल के परिपार्श्व मे सोने की अँगूठी या जार्जेट की काली साडी में गोरी तरुणी। इस प्रकार सगति में सवाद का होना अनिवार्य है। संवादात्मक प्रभाव एक-दूसरे

की श्री को परिपुष्ट करते है, बाधित नही करते। वस्तु मे अनेक तत्वो की सगति से ही 'रूप' का अनुभव होता है। इसी प्रकार औचित्य, सयम, व्यजना आदि तत्वो की भी उपयोगिता समझनी चाहिए।

अरस्तू ने सौन्दर्य को सापेक्ष और निरपेक्ष इन दो रूपो मे भी देखने का प्रयास किया है। शुद्ध सगीत, स्वत पूर्ण वर्ण चमत्कार, ये निरपेक्ष सौन्दर्य की श्रेणी मे आयेगे। लेकिन जहाँ सौन्दर्यानुभूति मे प्रसग, सबध और साहचर्य की आवश्यकता होती है, वहाँ वह सापेक्ष है। जिस सगीत से चित्त मे वासना, उत्तेजना और चचलता की उत्पत्ति होती है वह 'सुन्दर' नही है। लेकिन, जो रागिनी हमारे मानस के पवित्र भावो को प्रतिमूर्त करती है, वह निश्चय ही सुन्दर है। भाव की शुद्धता दिव्य या ईश्वरीय शक्ति से उद्भूत होती है।

अरस्तू ने सौन्दर्य के विवेचन मे प्रतीकवाद की भी चर्चा की है। लेकिन यूनानियो का पूर्व जन्म, परलोक और आध्यात्मिकता पर प्रगाढ विश्वास न होने के कारण प्रतीकवाद का सूक्ष्म विवेचन वहाँ न हो सका। यह सिद्धात सादृश्यवाद (सेम्ब्लेन्स) के सामने गौण पड गया। रूपाकृति के सौन्दर्य पर जो दृष्टि अधिक रीझती थी वह प्रतीकमूलक सौन्दर्य का विवेचन करने मे असमर्थ सिद्ध हुई।

प्लाटिनस ने प्लेटो के 'कला प्रकृति का अनुकरण है' का खडन किया और प्रतीकवाद की महत्ता का पुन: प्रतिपादन किया। प्लाटिनस का जन्म मिस्र मे २०५ ई० मे हुआ था। इन्होंने रोम मे २४५ ई० से २७० ई० तक अध्यापन का कार्य किया। इनके कला-विवेचन मे तीन प्रतिवाद द्रष्टव्य है :—

(क) अनुकरणवाद और प्रतीकवाद का प्रतिवाद। यह तत्वदर्शन की समस्या है।

(ख) सौन्दर्यमूलक और व्यावहारिक दृष्टिकोण का प्रतिवाद। यह नैतिकता की समस्या है।

(ग) अमूर्त्त और मूर्त्त का प्रतिवाद। यह सौन्दर्यशास्त्र की समस्या है।

प्लाटिनस के मतानुसार किसी वस्तु के साधारण प्रत्यक्षीकरण में सौन्दर्य का मूल तत्व नही देखा जा सकता। प्रत्येक दृश्यमान पदार्थ किसी महत् या ऋत की अभिव्यंजना करता है। कोई वस्तु इसलिए सुन्दर प्रतीत होती है कि

उसके माध्यम से सार्वभौम चेतना का प्रकाश होता है। इसलिए किसी वस्तु का सौन्दर्य चित् शक्ति की छाया मात्र है। प्लाटिनस के विचार से सगति या समानरूपता सौन्दर्य का पर्याय नही है। सौन्दर्य सामजस्य पर खेलने वाला एक आलोक है, जो दिव्य और ईश्वरीय है। सुन्दर वस्तु महत् सत्य या चित्त का प्रतिविम्बन करती है। इस प्रकार कला, प्लॉटिनस की दृष्टि मे, अनुकरण नही बल्कि प्रतीकीकरण है। प्लेटो ने कला को सत्य से त्रिधा दूर घोषित किया था, प्लाटिनस ने उसे ऐन्द्रिय रूप मे सत्य का प्रतीकात्मक प्रकाश कहा।

प्राचीन यूनानी आचार्यों का युग धीरे-धीरे समाप्त हो चला और योरोप मे ईसाई मतानुयायियो का अभ्युदय हुआ। इस क्रिश्चियन युग मे सत टॉमस, सत फ्रासिस, दाँते, जीतो आदि विचारको ने कला-दर्शन पर अपने मत प्रकट किये। मसीही धर्म मे ईश्वर सत्ता का आलोक इतना प्रखर है कि कला, दर्शन, जगत्, जीव आदि उसी से भासित होते दिखाई देते है। उपर्युक्त विचारको ने सौन्दर्य को ईश्वरीय या दिव्य ज्योति का प्रकाशन कहा है। प्रकृति और कला के माध्यम से उसी परम प्रभु की ज्योति उद्भासित हो रही है। कला की अपेक्षा प्रकृति उस दिव्य ज्योति को अधिक सफलता के साथ व्यक्त कर सकती है। क्योकि, कला सीमाबद्ध और परतत्र है, किन्तु प्रकृति नि सीम और समर्थ है। जिस भौतिक सौन्दर्य से हमारी ज्ञानेन्द्रियो को वासनात्मक उत्तेजना प्राप्त होती है, वह दूषित एव त्याज्य है। यदि हमारी आध्यात्मिक दृष्टि उसमे दिव्यज्योति का दर्शन कर सके तो वह अभिनदनीय है।

ईसा की चौथी शताब्दी मे स्पेन की एक धर्म सभा ने यह फैसला दिया था कि किसी भी गिरिजाघर में कोई भी मूर्ति या चित्र नही रह सकता है। ग्रेगरी महान् के राज्यकाल मे, ईसा की छठी शताब्दी मे, मार्सेलिस के पादरी ने अपने गिरिजाघरो की सभी मूर्तियो को तोड़ देने की आज्ञा दे दी। लेकिन, ग्रेगरी ने यह कह कर उन मूर्तियो को विनष्ट होने से बचा लिया कि ये मूर्तियाँ पूजन के लिए नही वरन् हमे शिक्षित करने के लिए गिरिजाघरों मे रखी जायँ। वर्णमाला की तरह मूर्तियाँ भी जनसाधारण को ज्ञान प्रदान करती है। तब योरोप के बहुतेरे गिरिजाघरो मे मूर्तियाँ साधारण जन को शिक्षित करने के बहाने रखी जाने लगी। उपयोगिता की दृष्टि से भले ही यह दृष्टिकोण लाभदायक हो, लेकिन सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से यह कदापि श्लाघनीय नही है। सत अगस्टाइन को भी ललितकला की सात्विकता पर अविश्वास हो चला था। दीवार मे चित्रित ईसामसीह की छवि को उन्होने देखने से मना किया था।

संत अगस्टाइन सौन्दर्य के विवेचन मे प्लेटो की तद् विषयक मान्यता से आगे नही पहुँच सके, फिर भी, कुरूपता पर उन्होने कुछ मौलिक विचार प्रस्तुत किये। कुरूपता सौन्दर्य के अंतर्गत एक निम्न कोटि का तत्व है। यह उसका पूरक बन कर वर्तमान रहता है, शासक बन कर नही। प्लुटार्क ने कुरूपता को कला के क्षेत्र से बहिष्कृत तो कर दिया था, फिर भी वे इतना मानते थे कि यदि कुशलता के साथ कुरूपता का अनुकरण किया जाय तो कुछ आनंदानुभूति हो सकती है। अगस्टाइन तत्वदर्शी संत थे। उन्होने आकृतिमूलक बाह्य सौन्दर्य को गौण स्थान दिया और आध्यात्मिक सौन्दर्य को प्रधान। किसी भौतिक पदार्थ की सुन्दरता उसके अंगो के सामंजस्य के साथ ही उसके वर्ण-माधुर्य पर आश्रित होती है, लेकिन उसका वर्ण-माधुर्य कितना महान हो उठेगा जब परमपिता के राज्य मे अध्यात्म की ज्योति सूर्य की तरह उद्भासित होती रहेगी।[१]

मध्य युग की समाप्ति के उपरांत आधुनिक युग का श्रीगणेश होता है। इस युग में गंभीर दर्शन की प्रधानता रही। सौन्दर्य—अनुभूति और प्रज्ञा का मिलन विन्दु होने के कारण—दार्शनिको के लिए एक आकर्षण हो गया। साथ ही, उनके मानस मे यह विचार भी क्रियाशील था कि सौन्दर्य मानव जीवन के प्रतिपल परिवर्तित क्षणो की अभिव्यंजना है। इन्ही दो दृष्टि-विन्दुओ के मेल से आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र का जन्म हुआ।

प्लाटिनस से कांट तक, ईसा की तीसरी से अठारहवी शताब्दी तक, सौन्दर्य के सैद्धांतिक पक्ष पर किसी-न-किसी रूप मे विचार-विमर्श होता रहा। दकार्त्त से कांट के जीवन काल तक सौन्दर्य-शास्त्र की समस्याएँ सामने लाई गयी। सिडनी और स्कैलिजर से लेसिंग और विंकलमान तक सौन्दर्य संबधी तथ्य और दर्शन प्रस्तुत किये गये। दकार्त्त, स्पिनोजा, लेबनिज, ऊल्फ और बामगार्टन के विवेचन में विचार, तर्क और बौद्धिकता की प्रधानता है। लेकिन, बैकन, लॉक, शेफ्ट्सबरी, बर्कले, ह्यूम और रूसो ने सौन्दर्य के सिद्धांत-पक्ष की अपेक्षा उसके

---

[१]'The beauty of any material object is congruence of parts together with a certain sweetness of colour. ..But how great will be the sweetness of colour when the righteous shall shine forth like the sun in the kingdom of their Father.

—बोसांके के 'इतिहास' से उद्धृत, पृ० १३५

व्यवहार-पक्ष पर, प्रायोगिक पद्धति पर, विशेष जोर दिया। सूखे तर्क की अपेक्षा निजी अनुभव कही श्रेयस्कर है, यह उनका विश्वास था। काट ने अपने विवेचन मे सैद्धातिक और व्यावहारिक, तर्क-मूलक और प्रायोगिक, प्रज्ञात्मक और सवेदनात्मक, दोनो पद्धतियो का सामजस्य किया।

लेबनीज की दृष्टि मे सख्या का सर्वाधिक महत्व था। कला-विवेचन मे भी उन्होने इस सिद्धात को घटा कर ही दम लिया। उनके मतानुसार गीति-कला एक प्रकार की गणना है, जिसमे मन अनजाने कुछ गिनता रहता है।

सौन्दर्य की अनुभूति कुछ सख्याओ के सामजस्य की अनुभूति है। अगस्टाइन की तरह कला मे कुरूपता का स्थान वे इसलिए स्वीकार करते थे कि उससे सौन्दर्य की अभिपूर्ति होती है। कुरूप सुन्दर का पूरक है। सुन्दर वस्तु किसी सामजस्य की अभिव्यक्ति होती है।

बामगार्टन (१७१४ से १७६२ ई०) ने सवेदनमूलक प्रत्यक्ष ज्ञान (पर्सेप्शन) और अनुभूति (फीलिग) इन दोनो के लिए Aesthetic शब्द का प्रयोग किया। आगे चल कर योरोपीय साहित्य मे सौन्दर्यशास्त्र अथवा कला-दर्शन के लिए इसी 'एस्थेटिक' का प्रयोग प्रचलित हो गया। बामगार्टन ने 'एस्थेटिक' को अनुभूति के रूप मे एक विशिष्ट प्रकार का ज्ञान कहा है, यद्यपि इस शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ 'अस्पष्ट परिज्ञान' है। सौन्दर्य अथवा कला-सृष्टि अपने आप मे पूर्ण है, यह विचार दकार्त्त से बामगार्टन तक किसी-न-किसी रूप मे प्रचलित रहा। बामगार्टन का कथन है कि पूर्णता में ही आनद है, अपूर्णता मे नही। उनकी यह उक्ति छान्दोग्य उपनिषद् के उस उद्गार से मिलती है जिसमे भूमा को ही सुख कहा गया है। पूर्णता सदा आनददायक होती है। सौन्दर्य मे शाश्वत आनद है, इसलिए वह भी पूर्ण है।

जर्मन विचारको की सौन्दर्य-भावना को प्रभावित करने वाले मुख्यत: तीन ब्रिटिश लेखक है : बर्क, लार्ड केम्स और हाग्रथ। रेनाल्ड्स ने भी चारित्र्य-मूलक भावना (Idea of characteristic) का समावेश कर सौन्दर्य-शास्त्र को परिपुष्ट किया है। उन्होने इस भावना को सौन्दर्य और अभिव्यजना के बीच की चीज कहा है।

एडमड बर्क का कथन है कि व्यक्ति को किसी भी मनोवेग का स्वाभाविक व्यापार अपने आप में सुखद प्रतीत होता है। हर्ष की तो बात ही छोड़िए, पीड़ा-

जनक मनोवेग स्मृति मे आने पर कष्टकर नही बल्कि सुखद प्रतीत होते है। किसी विख्यात डाकू को किसी चौराहे पर फाँसी दी जाती हो, तो, यह सुनते ही सुन्दर-से-सुन्दर नाटक को छोड कर दर्शक चौराहे पर इकट्ठे हो जायँगे। इस करुण दृश्य मे निश्चय ही उन्हे एक सुखद अनुभूति होती है। इस प्रकार उनके मानसिक विकारो का रेचन होता रहता है। उदात्त के प्रसग मे बर्क के विचारो का आगे पुन विवेचन करेगे।

हाग्रथ ने प्रवहमान रेखा में सौन्दर्य का दर्शन किया है। वह रेखा, जिसमे तरग, प्रवाह, गति, वर्त्तुलता और तरलता रहेगी, निश्चय ही सौन्दर्य-विधायिनी होगी। रेखाओ की विभिन्नता के बीच एकतारता की अभिव्यक्ति आवश्यक है। हाग्रथ ने सौन्दर्य मे वैशिष्ट्य भावना को उच्चतर स्थान प्रदान किया है। लेकिन इनका कथन चित्रकला के साथ जितना युक्तियुक्त है उतना अन्य कलाओ के साथ नही। रूसो (१७१२ से १७७८) ने कला-विवेचन मे स्वछदतावाद का प्रतिष्ठापन किया। योरोप के विचारक सौन्दर्यशास्त्र की समीक्षा मे एक-न-एक कडी हमेशा जोडते आते है।

कला-समीक्षा पर लेसिंग का प्रसिद्ध ग्रथ है, 'लैकून'। इसमें कलागत शास्त्रीयतावाद, स्वच्छंदतावाद, नाटकीयता, कुरूपता, सुन्दरता आदि तत्वो का युक्तियुक्त और विस्तृत विवेचन है। इन्होने कला मे कुरूपता की आवश्यकता इसलिए स्वीकार की है कि इससे कॉमिक तत्व की पूर्ति हो जाती है। पदार्थगत या वस्तुगत सौन्दर्य मे, उनका मत है, कोई खास विशिष्टता, अर्थवत्ता और व्यंजकता नही रहती। सौन्दर्य तो बस कला-क्षेत्र मे ही उपलब्ध होता है। कला का एक मात्र लक्ष्य सौन्दर्य का प्रकाशन है। 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है', यह सही है; और, मनुष्य ने अनेक यत्रों का आविष्कार किया यह भी सही है; लेकिन कला को इस स्थूल आवश्यकता से क्या सरोकार! सौन्दर्य मे अभिव्यजना का तत्व निहित है, इसे लेसिंग ने स्पष्ट स्वीकार किया है। चारित्रिकता या वैशिष्ट्य (characteristic) [वस्तु मे छिपी हुई खासियत, निजीपन, वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति] का भी समर्थन किया है। काव्य-कला के विवेचन मे जीवन के कर्म-पक्ष पर जोर देते हुए स्पष्ट कहा है कि यह कला कर्म-सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण करती है। सक्रिय जीवन का सौन्दर्य प्रबध-काव्य मे भले ही देखने को मिले, लेकिन गीति-काव्य मे उसका अपेक्षाकृत अभाव तो खटकेगा ही!

विकलमान सुन्दरता और अभिव्यजना को एक-दूसरे का विरोधी मानते है। उनकी मान्यता है कि अभिव्यजना तत्व के प्रकट होने से वस्तु का रूप बिखर जाता है। सौन्दर्य का निवास रूप मे है, अभिव्यजना मे नही। रूप यदि गतिशील, चचल या व्यजनाप्रधान होगा तो सौन्दर्य वहाँ ठहरेगा ही नही, इसके लिए तो शाति, विश्राम और स्थिरता चाहिए। वस्तु के गतिशील होने से उसका रूप-स्तर परिवर्तित होता रहता है, इस तरह उसकी सुन्दरता भी निश्चित नही रह पाती। विकलमान की उक्त मान्यता निश्चय ही सदोष है, क्योकि अभिव्यजकता रूप को सुन्दरतर बनाती है, उसे आकर्षण और विशिष्टता से मडित करती है। आदर्शवाद पर अपना मत प्रकट करते हुए इन्होने कहा है कि जब व्यक्ति शिक्षित और सस्कृत दृष्टिकोण से अपने अनुभवो का निरीक्षण करता है तभी उसका प्रादुर्भाव होता है। निरीक्षक व्यक्ति की मानसिक सक्रियता के द्वारा जीवन का जो रूप परिमार्जित हो कर सामने आता है, वही आदर्श है। यह आदर्श सुन्दर ही हो—कोई आवश्यक नही। सौन्दर्य का उद्गम स्थल तो हमारा मानस है। इसी से सौन्दर्य की किरणे फूटती है। इस प्रकार, किसी वस्तु का सौन्दर्य भी द्रष्टा के मानसिक वातावरण, परिस्थिति, द्रव्य आदि के अनुसार कई प्रकारो मे विभाजित हो जाता है। भावुक के मन की अपनी गति सौन्दर्य को विविध रूपो मे काटती-छाँटती रहती है। फिर भी जहाँ सौन्दर्य के महत् रूप का दर्शन होगा वहाँ मानसिक और प्राकृतिक सौन्दर्य का सघटन आवश्यक है। विकलमान ने रूप और द्रव्य (फार्म एड कन्टेट) की चर्चा चला कर कला-दर्शन मे एक नवीन मत का सूत्रपात किया जो आज तक विवाद का विषय बना हुआ है। इन्होने शैली के दो विभाग किए है, उदात्त और ललित। उदात्त शैली (ग्रैंड स्टाइल) आत्मा की अर्थवत्ता और मुखर मूकता की अभिव्यजना है।[1] अर्थात्, जब कलाकार का मानस अपनी आत्मा का आनद-मधु पी कर विभोर हो उठता है, तभी गूढ भावो की व्यजना उदात्त शैली मे प्रकट होती है। ललित शैली (स्टाइल ऑव ग्रेस) से आशय कोमलकात मधुर पदावली से है। जब कलाकार का मानस जीवन और निसर्ग के सौन्दर्य को सहज प्रसन्नता के साथ अभिव्यक्त करता है, तभी ललित शैली जन्म लेती है।

लेसिंग और विकलमान के बाद काट का प्रसिद्ध ग्रथ 'दि क्रिटीक ऑव दि

[1]Grand style is the cxpression of a significant and eloquent silence of the soul.

पावर ऑव जजमेन्ट' १७९० ई० मे प्रकाशित हुआ। काट ने नैतिक जीवन को प्रकृति और विचार का मिलन-विन्दु कहा है। प्रकृति और व्यक्ति-स्वातत्र्य ये दो क्षेत्र परस्पर विरोधी है, लेकिन नैतिक-जीवन मे दोनो का मिलना सभव है। ज्ञान-चक्षु से हम भले ही पूर्णता या सार्वभौम सत्य का दर्शन करे, लेकिन व्यवहार-पक्ष मे हमारे सामने उस विराट पूर्ण का एक तुच्छ अश ही आता है। केवल नैतिक आचरण के समय ही अश और पूर्ण का, प्रकृति और स्वातत्र्य का, ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय का मिलन होता है। काट के सौन्दर्य-शास्त्र का प्रारभ रुचि के विवेचन (जजमेन्ट ऑव टेस्ट) से होता है। इन्होने इस प्रसग मे कई विषयो की अपने ढग से गभीर विवेचना की है। आत्मनिष्ठ, वस्तुनिष्ठ, समष्टि, व्यष्टि, उपयोगिता, सोद्देश्यता, शिव, सत्य, विवेक, प्रज्ञा, ऐन्द्रिकता, रूप, वस्तु, आदि अनेक विषयो की चर्चा इन्होने की है। कुछ विचारको की दृष्टि मे काट का सौन्दर्यशास्त्र एक पूरा भूल-भुलैया है, उसमे कही स्पष्ट सिद्धात-निरूपण नही है। परस्पर विरोधी विचार वहाँ तैरते नजर आते है। लेकिन हिगेल का मत इससे बिल्कुल भिन्न है। उनके मतानुसार काट का कथन सौन्दर्य के सबध मे पहला विवेकपूर्ण वक्तव्य है : 'the first rational word concerning beauty.'

काट ने सौन्दर्यानुभूति से उत्पन्न आनद को इन्द्रिय-जनित सुख से भिन्न माना है। विशुद्ध सौन्दर्य-बोध के अवसर पर व्यावहारिक जीवन मे आने वाली सोद्देश्यता नही पाई जाती है। सौन्दर्यानुभूति मे तर्क-जनित विरोध नही रहता, उसमे तो एक सार्वजनीन सत्ता रहती है। शिव (गुड) में लक्ष्य का, अंतिम फल का, श्रेय का विचार निहित रहता है, सुन्दर मे ऐसा कोई लक्ष्य नही रहता। सुन्दर उस वस्तु की सुखानुभूति है, जो एक ही साथ सार्वभौम एव आवश्यक है। सौन्दर्यानुभूति के क्षणो में पूर्वापर, अन्तर्वाह्य, तारतम्य, सोद्देश्यता, जाति, प्रकार, मात्रा, अनुक्रमत्व आदि का बोध नही होता है। यह एक वास्तविक, प्रत्यक्ष और आनदमूलक अनुभूति है। काट की सौन्दर्यानुभूति और भरत की रसानुभूति का आतरिक स्वरूप बहुत-कुछ एक-सा ही प्रतीत होता है।

शिलर (Schiller) ने ललित कला को मानव-सस्कृति का एक प्रमुख तत्व माना है। यह बर्बर पशुता से हमे सभ्य मानवता तक ले आई है। इनकी दृष्टि मे सौन्दर्य न तो वस्तुनिष्ठ है, न आत्मनिष्ठ, यह आत्म-वस्तु-निष्ठ है। अर्थात्, सौन्दर्य विषय-प्रधान भी है और विषयी-प्रधान भी। शिलर

का कथन है कि "सौन्दर्य हमारे लिए सचमुच 'वस्तु' है, क्योकि इसकी अनुभूति हमे किसी विचार के फलस्वरूप प्राप्त होती है। साथ ही, यह हमारी एक भावदशा है क्योकि अनुभूति के बिना इसका प्रत्यक्षीकरण सभव नही। इस तरह यह रूप है, क्योकि इसका हम ध्यान करते है। यह प्राण है, क्योकि हम इसका भावन करते है। सक्षेप मे, सौन्दर्य हमारे भाव और कर्म का सगम-विन्दु है"।[1]

काट के सौन्दर्य-सिद्धात से अभिप्रेरित हो कर शिलर ने इस क्षेत्र मे अपने दो मतो का युक्तियुक्त प्रतिपादन किया। पहला है कलानिष्ठ सादृश्य और दूसरा क्रीडा-भावना।[2] व्यक्ति के प्रत्यक्षीकरण (पर्सेप्शन) का आकृतिमूलक या रूपगत अर्थ कलानिष्ठ सादृश्य है। वास्तविकता स्वय वस्तु से उपन्न होती है, लेकिन व्यक्ति की कल्पना या प्रत्यक्षीकरण उसमे सादृश्य-विधान कर लेता है। अर्थात्, जब किसी वस्तु के रूपगत अर्थ का बोध हमारी ज्ञानेन्द्रिय को होता है तभी कला के सादृश्य-विधान का उद्‌गम होता है। क्रीडा-भावना तो हमारी जन्मजात प्रवृत्ति है। खेल मे हमारा कोई लक्ष्य या सासारिक उद्देश्य निहित नही रहता। अपने मन को अनुरजित करने के लिए हम खेल मे तल्लीन होते है। जब हम किसी चीज को देखते हैं और देखते ही रहते है, देखने मे ही जब आत्मसुख का अनुभव होने लगता है, तभी क्रीडा-भावना का उद्‌भव होता है। खेल मे सासारिक लाभ-हानि के झमेले से मुक्त हो कर हम आनद-विभोर हो जाते है, सभी बधनों से मुक्त हो कर स्वच्छदता के साथ वहाँ आनदानुभूति प्राप्त करते है। कलाकृति के आस्वादन मे भी, शिलर का मत है, यही क्रीड़ा-भावना काम करती

---

[1] "Beauty is, therefore, indeed an object for us, because reflection is the condition under which we have a feeling of it; but at the same time, it is a state of our subject, because feeling is the condition under which we have a perception of it. It is, therefore, a form, because we contemplate it; it is life because we feel it. In one word, it is at once our state and our act."

—बोसाके का इतिहास, पृ० २९०

[2] Aesthetic Semblance; Play Impulse

है (जब वास्तविक वस्तु मे कल्पना या प्रत्यक्षीकरण के द्वारा कलानिष्ठ सादृश्य का विधान सभव होता है, तब उस सदृश वस्तु मे, काल्पनिक वस्तु मे, हम असदिग्ध होकर उसे यथार्थ समझ कर, रस का आस्वादन करते है (कलामूलक वस्तु लौकिक एव यथार्थ होते हुए भी, निरुद्देश्यतामूलक आनद के कारण, अलौकिक एव काल्पनिक हो जाती है। सहृदय-भावक कलागत सौन्दर्यानुभूति के द्वारा जीवन के सत्य और शिव का किस प्रकार साक्षात्कार कर लेता है—यह एक गभीर प्रश्न है। शिलर ने अपनी अद्‌भुत प्रतिभा के द्वारा इस प्रश्न का सम्यक् समाधान किया है। उनके विवेचन का निष्कर्ष है कि सौन्दर्य हमारे जीवन की वास्तविक अभिव्यक्ति है।

श्लिगेल (Schlegel) ने शिलर के मतो का युक्तियुक्त खडन-मडन करते हुए कुरूपता के सिद्धात का निरूपण किया। सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास मे प्रथम बार कुरूपता का सिद्धात एक ठोस आधार पर प्रस्तुत किया गया। इनके मतानुसार सौन्दर्य शिव का सुखद प्रकटीकरण है[1] और कुरूपता अशिव का असुखद प्रकटीकरण। महाकवि गेटे ने सौन्दर्य-विवेचन मे वैशिष्ट्यवाद का सिद्धात विधिवत् प्रतिपादित किया और इसे कला का सर्वप्रमुख तत्व माना। वैशिष्ट्यवाद (Idea of characteristic) का आशय है कलाकृति मे कलाकार की वैयक्तिक विशेषता की अभिव्यक्ति। इन्होने कला के रूप (फार्म) का भी मार्मिक विवेचन किया है। रूप वस्तु का आकृतिमूलक सौन्दर्य है। रूप की सत्ता का प्रमुख स्थान इसलिए है कि यह वस्तु के उद्‌गम के साथ ही प्रकट होती है। व्यक्ति के स्वच्छद क्रिया-व्यापार मे रूपगत सौन्दर्य का दर्शन होता है। मनुष्य का मन भय और चिंता से ज्यो-ही मुक्त हो जाता है, वह अपनी सत्ता के प्रसारण के लिए क्रियाशील हो जाता है। वह जीवन के नीरस व्यापारो को सुन्दर बनाने का प्रयास करता है। सृजनशीलता या कलाकारिता व्यक्ति की जन्मजात प्रवृत्ति है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति व्यक्ति की सामाजिक और क्रिया-शील भावना है। वैशिष्ट्यमूलक कला व्यक्ति की अतरात्मा से उत्प्रेरित हो कर वाह्य वस्तुओ को सँवारती है, सुन्दर बनाती है। व्यक्ति की आतरिक अनुभूति के सयोग से कोई भी वस्तु सुन्दर, पूर्ण और सप्राण हो उठती है। उसकी अनुभूति स्वतत्र होती है, वह वाह्य व्यवधानो की परवाह नही करता। पूर्ण

---

[1]Beauty is the pleasant manifestation of the good.

—वही।

और जीवतकला हमारी अतरात्मा का अतरतम प्रकार है। वह सत्य, शिव और सुन्दर को एक साथ अभिव्यक्त कर देता है।

शेलिंग (Schelling) ने कांट और शिलर के सिद्धान्तो का पूरी तरह मथन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि उन दोनो के सिद्धात दो अतियों पर झूल रहे हे, क्योकि एक मे बौद्धिक और दूसरे मे कलानिष्ठ सहज प्रज्ञा को अतिशय प्रमुखता मिल जाती है। बौद्धिक सहज प्रज्ञा (Intellectual Intuition) दार्शनिको के तर्क-वितर्क की चीज है। इसमे मतवैभिन्य स्वाभाविक ही है। इसकी मान्यताएँ सार्वजनीन नही हो सकती। सौन्दर्य इसके लिए एक दी हुई विवेच्य-वस्तु है। इसके द्वारा सौन्दर्य का भावन नही विवेचन हो सकता है। दार्शनिक सिद्धात, बुद्धि की द्वैतता पर अवलबित होने के कारण, सर्वमान्य नही हो सकता। लेकिन कलामूलक अनुभूति, अनुभवगम्य होने के कारण, आसानी से विश्वजनीन हो जाती है। दर्शन अपने विवेचन के उच्चतम शिखर पर पहुँच कर भी मानव व्यक्तित्व का एक अश ही हमारे सामने रख पाता है, लेकिन कला अपनी भावना-शक्ति के द्वारा मानव का पूर्ण रूप हमारे समक्ष प्रत्यक्ष करती है। शेलिग का यह मत सत्य के बहुत निकट प्रतीत होता है, क्योकि शकर और काट के मत सदा विवादास्पद रहेगे, परन्तु कालिदास और शेक्सपियर का भावलोक सदा आनददायक रहेगा।

शेलिग के विचार से कला का जन्म बौद्धिक तत्व के कारण नही बल्कि भावतत्व के कारण होता है। तर्क-वितर्क के झमेले से दूर हट कर ही कला अपना रूप सँवारती है। बुद्धि मे स्वतत्र मानस का चेतन व्यापार जारी रहता है, लेकिन कलाकृति के उद्भव मे प्रकृति का अचेतन व्यापार घटित होता है। जब कला मे पूर्णता आती है तो उसमे अनायास सार्वभौम विचार और अचेतन प्रकृति का सामजस्य घटित हो जाता है। कला के ससीम क्रोड मे नि सीम खेलता रहता है। कला ससीम के रूप मे असीम की सफल अभिव्यक्ति है। असीम का ससीम में प्रकटीकरण सौन्दर्य है। यह असीम या अनत विश्व के कण-कण मे व्याप्त एक चेतन तत्व है। सर्वव्यापी, अखड, एकरस, अरूप, आनदधन आत्म जब अपने को सीमा मे, रूप मे अभिप्रकट करता है, तब सौन्दर्य सत्ता का अनुभव होता है। शेलिग का यह अनत हिगेल के एब्सोल्यूट-सा प्रतीत होता है।[1]

---

[1]तुलसी ने मानस में एक स्थल पर कहा है कि सरोवर में अनायास

हिगेल ने अपने ग्रथ 'एस्थेटिक्स' मे सौन्दर्य को वह आत्म कहा है जो स्वत: इन्द्रिय-गोचर होता है।[1] अर्थात्, जब किसी रूप या व्यापार के माध्यम से हमे आत्म की अभिव्यक्ति की प्रतीति हो तो वह सौन्दर्य है। हिगेल का आइडिया उपनिषद् के ब्रह्म की तरह व्यापक है, इसलिए मैने इसे 'आत्म' कहना उचित समझा। यह आत्म चैतन्य और प्राण के रूप मे अपनी अभिव्यक्ति करता है। निखिल विश्व को परिचालित करने वाला यह एक प्रत्यक्ष क्रिया-व्यापार है। चिंतन के क्षेत्र का सत्य है आत्म और भावना के क्षेत्र का सत्य है सौन्दर्य। यह सौन्दर्य अनत है, निरपेक्ष है, स्वतत्र है। वृत्त के घेरे की तरह यह अनादि और अतहीन है। आत्म ने सर्वप्रथम अपने को प्रकृति मे अभिव्यक्त किया, इसलिए सौन्दर्य की तरग पहले प्रकृति मे दृष्टिगोचर हुई। प्रकृति के उपरात पशुजगत मे और अत मे मानव के रूप मे उसने अपने को व्यक्त किया। इस रूप में उसकी अधिकाधिक अभिव्यक्ति हुई है, इसलिए मानव सुन्दरतम प्राणी है। इस प्रकार हिगेल की सौन्दर्य-भावना का सबध स्वभावत· विकासवाद से सबद्ध हो जाता है। हिगेल ने आकृतिगत अथवा रूपगत को बाह्य सौन्दर्य कहा है। इसमे गोचर पदार्थ की एकता का तत्व निहित है। इसके मूल मे एक शाश्वत नियम कार्य करता है। क्रमबद्धता, शृखला और अनुसारत्व इस रूपगत सौन्दर्य की विशेषताएँ है। इन्होने प्रकृतिगत और कलागत सौन्दर्य में अतर भी स्थापित किया है। हमारे सामने पहला अचेतन रूप मे दूसरा सचेतन रूप मे अभिप्रकट होता है। पहले मे स्थूलता, मूर्त्तता और ऐन्द्रिकता है, लेकिन दूसरे मे सूक्ष्मता और अतीन्द्रियता है। यह विशुद्ध कल्पना का क्षेत्र है। आत्म ने मानवीय भावना के माध्यम से अपने को सफलता के साथ अभिव्यक्त किया है। यह वैयक्तिक होते हुए भी सार्वजनीन है, मूर्त्त होते हुए भी अमूर्त्त है और ससीम होते हुए भी नि.सीम। देश-काल के बधन का अतिक्रमण कर यह विश्वजनीन हो जाता है। हिगेल ने काव्यकला को इसलिए सर्वश्रेष्ठ माना है कि यहाँ शब्दो के माध्यम से आत्म पारदर्शित होता रहता है। शब्द मे स्थूलता, मूर्त्तता नही के बराबर है। स्थापत्य, मूर्ति, चित्र आदि कलाओ

खिले हुए कमल ऐसे प्रतीत होते है, जैसे निर्गुण ब्रह्म सगुण हो उठा हो; 'फूलें कमल सोइ सर कैसा, निर्गुन ब्रह्म सगुन भएँ जैसा।' असीम जल ससीम कमल के रूप में अपने सौन्दर्य को व्यक्त करता है।

[1] 'Beauty is the Idea as it shows itself to sense.

मे स्थूल उपकरण की बाधा के कारण वहाँ आत्म अपने को पूर्णतया अभिव्यक्त नही कर पाता। काव्य-कला मे आत्म का निर्बाध सतरण होता रहता है, क्योकि यहाँ उपकरण की स्थूलता न्यूनतम हो जाती है। प्रकृति जिस आत्म को पूर्णतया व्यक्त न कर सकी, कला उसे सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करती है। कला ने प्रकृति का अतर्भेदन किया, पारदर्शन किया और यह उस पर विजयिनी हो गयी। हिगेल ने अपने कला-सिद्धात को वाद-प्रतिवाद-युक्तवाद पर भी घटा कर देखा है और उसे सफल पाया है।

शोपेनआवर ने भी हिगेल की तरह कला पर अपना मत प्रकट किया है। कला-विवेचन मे इन्होने इच्छा-शक्ति को सर्वोपरि स्थान दिया है। इनका कथन है कि प्रत्येक वस्तु अल्पाधिक मात्रा मे इच्छा को मूर्त्त करती है। यही कारण है कि वह वस्तु विशिष्टता से रजित हो जाती है और हमे सुन्दर प्रतीत होती है। इस प्रकार सौन्दर्य का कारण वस्तु मे इच्छा-शक्ति का प्रसारण और प्रक्षेपण है। सम्पूर्ण दृश्यमान जगत की सत्ता का कारण भी हमारी इच्छा ही है। यद्यपि ज्ञानेन्द्रियों के सापेक्ष्य मे हमे सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण होता है, फिर भी, यह कलामूलक प्रत्यक्षीकरण एक प्रकार का ज्ञान है। यह ज्ञान और ज्ञान से इस अर्थ मे भिन्न है कि इसमे वैयक्तिक इच्छा का सर्वथा शमन हो जाता है। शोपेनआवर ने ससार को भगवान् बुद्ध की तरह दुखरूप कहा है। इस दुख से मुक्ति पाने के दो उपाय है, एक तो इच्छा का सर्वथा निर्वाण और दूसरा कलागत सौन्दर्य का आस्वादन। योगी साधना के द्वारा और सहृदय भावना के द्वारा इस दु ख से मुक्ति प्राप्त करता है। लेकिन पहले की मुक्ति शाश्वत होती है और दूसरे की क्षणिक, क्योकि कला के आनदलोक से सबध टूटने पर वह पुन इस ससार के दु ख का अनुभव करने लगता है।

फेक्नर ने रूपाकृति के सिद्धात को हीन बताते हुए मनोवैज्ञानिक आधार पर भावसाहचर्य के सिद्धात को प्रचलित किया। इनका कथन है कि सौन्दर्य की कोई निश्चित सरल रेखा अथवा कोई प्रकृत रूप नही होता है। आयताकार, वर्गाकार आदि ज्यामितिक चित्रों मे सौन्दर्य का कारण उनका वाह्य रूप नहीं, बल्कि द्रष्टा की आंतरिक मनस्तुष्टि है। किसी वस्तु की वाह्य रेखाकृति (Convex) उसकी आंतरिक रेखाकृति (Concave) की अपेक्षा कम सुन्दर होती है। वाह्यरूप में विकर्षण, तिरस्करण, और विलगाव की भी प्रवृत्ति रहती है, इसके विपरीत अभ्यंतर रूप मे आकर्षण, ग्रहणशीलता और सम्मिलन की भावना रहती है। मुलायम गद्दे अपने बाहरी

रूप के कारण नही बल्कि बैठने वाले को आमन्त्रित करने के कारण सुन्दर प्रतीत होते है । मुलायम गद्दे इसलिए सुन्दर है कि बैठने वाले को वहाँ सुरक्षा की अनुभूति होती है । व्यक्ति के अपने भाव-साहचर्य के कारण ही कोई वस्तु उसे सुन्दर या असुन्दर प्रतीत होती है । इस सिद्धात को विस्तृत करते हुए इन्होने प्रकृति के विभिन्न रगो की भी भावपरक व्याख्या की है । इन्होने लाल, नीले और हरे रग को क्रमश. विपत्ति, शाति और उर्वराशक्ति का प्रतीक माना है । पीला रग रक्तहीनता का, इसलिए, उदासीनता का द्योतक है ।

सौन्दर्य विवेचन मे इनका दूसरा सिद्धात 'मितव्ययिता' (लॉ ऑव एकॉनामी) का है । जिस वस्तु मे तनिक भी फालतूपन नही होगा, वह वास्तव मे सुन्दर होगी । कम-से-कम सामग्री मे अधिक-से-अधिक भाव या रूप का सृजन ही कला है । सुन्दरता का निवास मितव्ययिता मे है । किसी सुन्दर वस्तु को देख कर इसलिए प्रसन्नता होती है कि हमारा मन अल्पतम श्रम के द्वारा उसके निहित भाव को शीघ्र समझ जाता है । काव्य मे प्रयुक्त उपमा, रूपक आदि अलकार भाव को तत्काल हृदयगम कराने के लिए ही प्रयुक्त होते है । कम-से-कम प्रयास मे भाव का प्रत्यक्षीकरण हो जाय—इसी मे काव्यगत बिम्बो की सफलता है । मितव्ययिता के द्वारा श्रमलाघव की प्राप्ति होती है । फेक्नर का यह सिद्धात सूक्ष्मरूप मे प्लेटो मे देखा जा सकता है । प्लेटो ने अश और पूर्ण की समजसता का उल्लेख करते हुए कहा है कि कोई अश तभी तक पूर्ण का अग कहा जायगा, जब तक वह सार्थक और अनिवार्य हो । कोई निरर्थक अश पूर्ण का अग कदापि नही कहला सकता ।

सौन्दर्यशास्त्र के प्रणेताओ मे हार्टमान का नाम भी एक विशिष्ट स्थान रखता है । इन्होने अपने 'एस्थेटिक्स' मे सौन्दर्य की परिभाषा इस प्रकार की है ·

'सौन्दर्य प्रेम का प्राण है । यह अपना आधार और उद्देश्य दोनो आत्म मे प्राप्त कर लेता है ।' यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि सौन्दर्य के क्षेत्र मे प्रेम का प्रवेश हो जाता है । लेकिन इस प्रेम का लक्ष्य आत्म है, यानी, घुमा-फिरा कर यह परिभाषा भी हिगेल के आत्म तक हमे पहुँचा देती है । हिगेल ने

---

[1]Beauty is the life of love apprehending its own ground and purpose in the idea.

—बोसांके के इतिहास से उद्धृत

सौन्दर्य की पहली परिभाषा बहुत-कुछ इसी प्रकार की थी।[1] हार्टमान ने रूपगत सौन्दर्य का गभीर विवेचन करते हुए उसके छ भेदो का निदर्शन किया है —

(क) अचेतन रूपगत सौन्दर्य—इसमे इन्द्रिय-जनित आनद की प्राप्ति होती है।

(ख) गणितमूलक और गतिमूलक रूप।

(ग) सोद्देश्य आनद देने वाला निष्क्रियात्मक रूप।

(घ) वह रूप जो जीवन का अविच्छिन्न अग हो।

(ङ) जातिविशेष मे पाये जाने वाले किसी प्राणी का रूप।

(च) वैयक्तिक विशिष्टता की अभिव्यञ्जना का रूप।

रूपगत सौन्दर्य का यह अतिम भेद कलागत सौन्दर्य मे ही परिलक्षित होता है।

हार्टमान के अतिरिक्त शेसूलर, सोलजर, रोसेनक्राज आदि जर्मन विचारको ने कलागत सौन्दर्य पर अपने विभिन्न प्रकार के विचार व्यक्त किए है, स्थानाभाव के कारण उन सबो का यहाँ उल्लेख नही किया जा रहा है।

सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र मे उन्नीसवी शताब्दी मे जर्मनी के विचारको की कैसी दुदुभी बजती रही, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। ब्रिटेन और फ्रास के कुछ विचारको ने आगे चल कर इस शास्त्र की समीक्षा को कुछ और विस्तृत किया। रस्किन, डार्विन, स्पेन्सर, विलियम मॉरिस, टर्नर, पेन्टर, कोलरिज, वर्ड्सवर्थ आदि विचारक ब्रिटेन मे हुए और रेसीन, कार्नील, मोलिए आदि फ्रास मे। रूस मे टाल्सटाय ने कला का विस्तृत विवेचन किया। इटली के क्रोचे के मत का हम आगे चल कर उल्लेख करेंगे। मार्क्सवादी कॉडवेल के मत का भी यथास्थान उल्लेख किया जायगा। फ्रायड और युग

---

[1] Beauty is the presentation of truth to sensc and fancy.

—वही

के बाद इधर प्रयोगवादी मनोवैज्ञानिको ने भी सौन्दर्य की विविध व्याख्याएँ प्रस्तुत की है। इनमे प्रमुख है, एक्सनर, कल्पे, काल्किन्स, पफर, मैक्डूगल, मार्टिन, शूल्जे आदि। इन्होने प्रभाव-विधि (दि मेथड ऑव इम्प्रेशन), वर्णन विधि (दि मेथड ऑव डेसक्रिप्शन) आदि द्वारा सौन्दर्य आस्वादन के अवसर पर रसिक के शरीर, हृदय, रुधिर-सचरण, श्वासोच्छ्वास तथा मानसिक प्रभावो का अध्ययन किया है। प्रायोगिक सौन्दर्य विज्ञान इस क्षेत्र मे अभिनव प्रयोग कर रहा है।

३ | सौन्दर्य

भारतीय दृष्टि मे

सौन्दर्यशास्त्र का विधिवत् और पुष्कल अध्ययन जैसा योरोप मे किया गया, वैसा भारत मे नही। यहाँ के एक भी दार्शनिक ने सौन्दर्य को पश्चिम की तरह अपने चिंतन-मनन का विषय शायद नही बनाया। दो-एक पुराणो और सूत्र-ग्रथो मे शिल्प सबधी नियमो और आचारो का थोडा-बहुत उल्लेख मिलता है। अग्नि-पुराण, विष्णु धर्मोत्तर-पुराण, शुक्रनीति, मानसार, और चित्र-सूत्र मे शिल्पकला के कुछ नियमो एव आचारो का वर्णन किया गया है। चित्र और मूर्ति की अपेक्षा काव्य और सगीत का हमारे यहाँ विशेष विवेचन हुआ है। भारतीय विचारको ने कलामूलक सौन्दर्य को रस नाम से अभिहित किया। काव्य की आत्मा के अनुसधान मे जिन सिद्धातो का प्रवतन हुआ, उन्हे हम सौन्दर्यानुभूति के सिद्धात कह सकते है। इस प्रकार रस, ध्वनि, व्यजना, वक्रोक्ति, औचित्य आदि वादो का विवेचन सौन्दर्यशास्त्र के अतर्गत ही समझा जाना चाहिए। रस, रसिक, रसवत, रसास्वादन आदि शब्द सौन्दर्य के विभिन्न रूपो और अवस्थाओ को अभिव्यक्त करते है। 'रस' वैदिक साहित्य से होता हुआ, उपनिषदो मे अवगाहन करता हुआ, आगम, योग और काव्यशास्त्रो मे आकर अपना पूरा विस्तार प्राप्त करता है।

वैदिक सहिताओ मे सौन्दर्य पर कोई अलग सूक्त या काड भले ही न मिलता हो, लेकिन उनमे सौन्दर्य-सबधी ऐसे अनेक शब्दो का प्रयोग हुआ है, जिनसे प्रतीत होता है कि वैदिक-युग मे सौन्दर्य के विविध रूपो और भगिमाओ का ज्ञान तत्कालीन समाज को अवश्य उपलब्ध था। ऋग्वेद मे आये हुए सौन्दर्य के पर्यायवाची शब्दो का जर्मन विद्वान पिशेल तथा ओल्डेनबर्ग ने एक सकलन किया है। सौन्दर्य-विषयक भाव को व्यक्त करने वाले इतने शब्द वेदो मे मिलते हैं, यह देख कर हमें गौरव होता है। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ शब्द उद्धृत किये जाते हैं '—

१—पेशस्	१३—कल्याण
२—अप्सस्	१४—शुभ
३—दृश	१५—चित्र
४—श्री	१६—स्वादु
५—वयु	१७—रण्व
६—वल्गु	१८—यक्ष
७—श्रिय	१९—अद्भुत
८—भद्र	२०—हिरण्यपेशस्
९—भण्ड	२१—विश्वपेशस्
१०—चारु	२२—सहस्रपेशस्
११—प्रिय	२३—रुचि
१२—रूप	२४—लावण्य

'वैदिक साहित्य मे उदात्त तत्व' पर विचार करते समय पचम अध्याय में इस पर कुछ प्रकाश डाला जायगा। अभी सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि वैदिक ऋषियो का मानस सौन्दर्य और उदात्त तत्व को ग्रहण करने के लिए सदा उत्सुक रहता था और उन्होने इनका साक्षात्कार भी किया था। आनद कुमार स्वामी ने एक स्थल पर कहा है कि वैदिक काल की सौन्दर्य-भावना एकात व्यावहारिक थी और उसकी सौन्दर्यानुभूति कौशल या अलकरण तक सीमित थी।[1] उनका यह कथन युक्तिसगत इसलिए प्रतीत नही होता, कि अग्नि, ऊषा, सविता, मरुत्, इन्द्र आदि की स्तुति मे सौन्दर्य के मार्मिक स्वरूप का, दिव्यचेतना का, उत्कृष्ट निरूपण हुआ है। "सक्षेप मे वेदकाल की धार्मिक दृष्टि जीवन मे 'विराट' की अनुभूति को उत्पन्न करती है। यह अनुभूति परम आनंद देने वाली है, अतएव यह सौन्दर्य की अनुभूति है। सौन्दर्य की इस अनुभूति से हमारा साधारण अनुभव रूपान्तरित हो जाता है और प्रत्येक वस्तु में दिव्यता और आध्यात्मिकता का आविर्भाव होता है। इतना ही नही, हम वस्तुओ का सौन्दर्य उनके 'पर' रूप में खोजने लगते है। हमारी कलाओ मे रेखा

---

[1] Vedic Aesthetics consisted essentially in the appreciation of skill.

The Dance of Shiva, p. 40

और रगो द्वारा वस्तुओ के साधारण अनुभव के 'पर' रूप की व्यञ्जना है, वस्तुओ के साधारण अनुभव के पीछे विराट् जीवन की झाँकी है। भारतीय सौन्दर्य-चेतना मे यह आध्यात्मिक दृष्टि वैदिक काल की देन है।"[1]

बौद्ध दर्शन के दु खवाद और शून्यवाद एव उपनिषदो के आत्मवाद ने कई शताब्दियो तक भारत के लोक-जीवन को प्रभावित किया। इन दार्शनिक विचारो के प्रकाश मे, आत्मचिंतन के आलोक मे, यहाँ के जनसमुदाय ने जीवन को स्पष्टता के साथ समझने का प्रयास किया। जीवन क्या है ? उसमे दु ख की सत्ता क्यो है ? दु खनिवारण के उपाय क्या है ? आनद या निर्वाण-सुख की प्राप्ति कैसे हो ? ऐसे अनेक प्रश्नो पर इस काल के दार्शनिको ने विचार-विमर्श किया। इससे, जीवन को आच्छादित करने वाली वैदिककालीन कुहेलिका छिन्न-भिन्न हो गई और जागतिक तत्वो को आमने-सामने रख कर देखने का प्रयास किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारी शिल्प-रचना के साथ योग-दृष्टि का समावेश हो गया। कला-साधना योग-साधना के समकक्ष समझी जाने लगी। कला-सर्जना के साथ योग-साधना का सामजस्य उपस्थित करना भारतीय कला-दर्शन की निजी विशेषता हो गयी। जिस प्रकार योग-साधना के द्वारा हम अपनी आत्मा मे निहित पराशक्ति का साक्षात्कार करते है और जीवन के मायाजनित बधनो से मुक्त हो जाते है, उसी प्रकार कला-साधना के द्वारा भी चित्त को वाह्य वासनाओ से हटा कर एक विन्दु पर स्थापित किया जाता है। कलाकार भी योगी की तरह अपने इष्टदेव का साक्षात्कार करता है और पुन उसी झाँकी को किसी माध्यम से मूर्त कर लेता है। आदर्श कलाकार योगी, साधक, द्रष्टा आदि उपाधियो से विभूषित किया जाता है। फिर भी ध्यान देने की बात यह है कि योग कलावतो के लिए साधन रहा, साध्य नही।

योग का लक्ष्य चित्त की एकाग्रता है, विषमताओ को हटा कर जीवन मे एक सामजस्य उत्पन्न करना है। योगी सभी प्रकार के द्वन्द्वो से ऊपर उठ कर भूमा मे प्रवेश करता है, जहाँ पूर्ण आनद है। कलाकार भी चित्त की एकाग्रता के द्वारा कला के सत्य का प्रत्यक्षीकरण करता है और वह उस आनंद लोक मे प्रवेश करता है, जहाँ सभी विषयो का साधारणीकरण हो जाता है। अग्निपुराण मे शिल्पी को उपदेश देते हुए कहा गया है कि उसे

---

[1]'सौन्दर्यशास्त्र'—डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा, पृ० २४

इष्ट देव के मूर्ति-निर्माण के पूर्व रात्रि मे अपने इष्ट का ध्यान करना चाहिए, गद्गद चित्त से प्रार्थना करनी चाहिए। इष्ट देव स्वप्न मे उसे दर्शन देंगे और उसी झाँकी के अनुरूप मूर्ति का निर्माण करना चाहिए। शिल्पशास्त्रो मे मूर्तिकार के आदर्श आचरण का भी उल्लेख है। मूर्तिकार को अथर्ववेद का विशेष रूप से और वैदिकमत्रो का सामान्य रूप से ज्ञाता होना चाहिए। उसका आचरण पवित्र हो और वह एक पत्नीव्रत का पालन करे। भगवान् की पूजा में उसका चित्त लगना चाहिए। वह गले मे रुद्राक्षमाला और अँगुली मे कुश की पवित्री धारण करे। कला की साधना का लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार एव भगवत्-प्राप्ति होना चाहिए। कला के साथ साधना का यह सामजस्य मध्यकालीन ईसाई सत कलाकारो मे भी देखा जा सकता है।

उपनिषद् के आत्मवाद को शकराचार्य ने जिस उत्साह के साथ सम्पूर्ण भारत मे प्रचारित किया, उससे वैदिक धर्म का पुनरुत्थान तो हुआ, लेकिन, जनसाधारण का मानस रस के अभाव मे सूखने लगा। तब, दक्षिण से भक्ति की उमडती हुई धारा फूट निकली और उसने सम्पूर्ण उत्तरापथ को भी रस प्लावित कर दिया। विष्णु, शिव, दुर्गा, गणपति, आदि देवताओ के प्रति भक्तिभावना जाग्रत हुई और तत्सबधी उद्गार कला के विभिन्न माध्यमों से व्यक्त होने लगे। इस प्रकार योग के साथ भक्ति तत्व भी कलामूलक अनुभूति मे समाविष्ट हो गया। कला के क्षेत्र मे योग और भक्ति का प्रभाव तीन सौ ईसवी पूर्व से अठारहवी शताब्दी के अत तक कायम रहा।[१] मूर्ति और चित्र-कला के माध्यम से भारत की सौन्दर्य भावना के विकास का अध्ययन एक गभीर विषय है। मेरा प्रतिपाद्य काव्यगत सौन्दर्य है; इसलिए मैं केवल काव्य से संबधित मुख्य मतो का यहाँ सक्षेप में उल्लेख करना चाहता हूँ।

काव्य की आत्मा के अनुसधान में सस्कृत के आचार्यों ने जिन सिद्धातो का

---

[१]...The dominant motifs governing its evolution from the third century B. C. onwords, and up to the close of the eighteenth century, are devotion (bhakti) and reunion (yoga).

The Dance of Shiva, p. 48

निरुपण किया है, सच पूछिए तो वे काव्य-सौन्दर्य के—व्यापक अर्थ मे कला शास्त्र के—सिद्धात है। काव्य-सौन्दर्य की अनुभूति से उत्पन्न आनद का नाम रस है। भरतमुनि के प्रसिद्ध सूत्र, 'विभावानुभाव व्यभिचारि सयोगाद् रस निष्पत्ति', को ले कर शकुक, लोल्लट, नायक, अभिनवगुप्त आदि ने विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की है। रस सिद्धात मे विभाव का उल्लेख होने से कला-सौन्दर्य मे वस्तुजगत् का भी समावेश हो जाता है। विभाव के अन्तर्गत नायक-नायिका, देश और कालगत परिस्थिति और बाह्य प्रकृति इन सबो का समावेश हुआ है। पश्चिम के कुछ दार्शनिको ने तो आत्म तत्व को ही सब कुछ मान लिया है और कुछ ने वस्तु तत्व को। एक तो वस्तु जगत् के सस्कारो को मानस के सामने नगण्य ठहराते है और दूसरे मानस की कोई स्वतत्र निरपेक्षा सत्ता नही मानते। ये दोनो, आदर्शवादी और भौतिकवादी सिद्धात, अतिवादी प्रतीत होते है। कलादर्शन का अकेले एक से काम नही चलने का। भरतमुनि ने उपर्युक्त सूत्र मे विभाव को स्थान देकर कला का सबध वस्तु जगत् से स्थापित कर दिया है। क्रोचे की शब्दावली मे हम इस विभाव को सौन्दर्य-निष्पत्ति का भौतिक समुत्तेजन (Physical Stimulant to aesthetic reproduction) कहेगे।

प्रत्येक रस का एक स्थायी भाव होता है। रति, हास, उत्साह, भय, शोक आदि हमारे जीवन मे स्थायी रूप से वर्तमान हैं और विभावानुभाव-व्यभिचारि के सयोग से रस रूप मे आस्वादित होने लगते है। सहृदय अपने ही अत करण मे स्थित स्थायी भाव का रस रूप मे आस्वादन करता है। आधुनिक मनःशास्त्र भी सौन्दर्यानुभूति को सहृदय की एक विशेष चित्त दशा ही मानता है।

रस निरूपण के प्रसग मे आचार्यों ने साधारणीकरण के सिद्धात का सागोपाग विवेचन किया है। रस-निष्पत्ति के समय विभाव, अनुभाव आदि अपने विशेषत्व छोड कर सामान्य रूप में, साधारणीकृत हो कर भासित होने लगते है। सहृदय श्रोता या दर्शक नाम, जाति, वश आदि की विशिष्टता को भूल कर शकुतला के शृगार का आस्वादन एक साधारण रमणी के रूप मे करता है। इस समय देश और काल का बधन समाप्त हो जाता है। सहृदय 'स्व' और 'पर' का भेद भूल जाता है। वह अपनी वैयक्तिक वासना से ऊपर उठ कर इस क्षेत्र मे प्रवेश करता है। यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय, विषय और विषयी

का अतर समाप्त हो जाता है। विषयी विषय के साथ तादात्म्य का बोध करता है। जर्मन मनोवैज्ञानिक वुन्ट ने इस तादात्म्य बोध को Einfühlung कहा है। टिचनर ने इसका अंग्रेजी अनुवाद Infeeling अथवा Empathy किया है। एम्पैथी या तदनुभूति मन की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। किसी वस्तु या क्रिया का साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति उसके साथ कभी-कभी तद्रूप भी हो जाता है। तद्रूपता की अनुभूति तदनुभूति है। काव्य की आत्मा के अनुसधान के फलस्वरूप संस्कृत मे कई सम्प्रदाय प्रचलित हो गए। नीचे हम काव्य के प्रमुख सम्प्रदायो का थोडा-सा परिचय देना आवश्यक समझते है।

अलकारवाद—आचार्य दण्डी ने अलकार को काव्य का शोभाकारक धर्म—'काव्य शोभाकरान धर्मान् अलकारान् प्रचक्षते'—कहा है। मम्मट ने उसे शब्द और अर्थ की शोभा बढाने वाला अस्थिर, बाह्य धर्म कहा है। जिस प्रकार नासामणि, कर्णफूल आदि अलकारो से रमणी की शोभा बढती है, उसी प्रकार उपमादि अलकारो से कविता की। रुय्यक, मम्मट, दण्डी, भामह, अप्पय दीक्षित, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने अलकार के भेदोपभेद का सूक्ष्म विवेचन किया है।

अलंकारवादी काव्यशोभा का मूल कारण अलकार मानते है। लेकिन, उक्त मत के विरुद्ध कहा जा सकता है, कि वाल्मीकि और कालिदास मे, सूर और तुलसी मे ऐसे अनेक पद हैं जिनमे कोई अलकार नही, फिर भी, काव्य की दृष्टि से वे अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। अलकारवाद के समर्थको ने ऐसे वर्णनो में भी अलकार ढूँढ निकाला और उसे स्वभावोक्ति कहा। काव्य की उत्पत्ति के साथ अलकार भी साथ ही प्रकट होते है, लेकिन सहृदय को उनके नाम-रूप का पता नही रहता। जिस प्रकार व्याकरण शास्त्र से परिचित हुये बिना भी हम भाषा का प्रयोग कर मनोनुकूल लाभ उठाते है, उसी प्रकार अलकारशास्त्र से अपरिचित रह कर भी काव्य का सृजन और आस्वादन हो सकता है और होता भी है। शुद्ध शास्त्र की दृष्टि से अलकार का अध्ययन भले ही उपयोगी हो लेकिन यह रसास्वादन मे कहाँ तक सहायक होता है—यह विवादास्पद है।

रीतिवाद—रीति सम्प्रदाय के मुख्य आचार्य वामन है। इन्होने रीति को काव्य की आत्मा—रीतिरात्मा काव्यस्य—कहा है। विशिष्ट पदरचना ही रीति है। पदरचना की यह विशिष्टता काव्य के गुणो पर अवलंबित है; अर्थात्, गुणों का

आश्रय ले कर रीति टिक पाती है। रीति सम्प्रदाय को गुण सम्प्रदाय भी कहा जाता है। रीति शब्द का कोशगत अर्थ है गमन प्रणाली, यानी, जिससे जाया जाय, गतिशील हुआ जाय। अत मार्ग, प्रणाली, पद्धति, शैली आदि रीति के पर्याय कहे जा सकते है। वामन ने रीति के तीन भेद माने है,—वैदर्भी, गौडीय और पाचाली। वैदर्भी रीति समग्र गुणो से युक्त, दोष रहित और वीणा स्वर के समान मधुर होती है—'समग्र गुण गुम्फिता विपञ्ची स्वर सौभाग्य ।' गौडीय रीति ओजपूर्ण और कातिमयी होती है। इसमे मधुरता और सुकुमारता का अभाव रहता है। इसकी पदावली मे उग्रता और सामासिकता होती है। पाचाली रीति माधुर्य और सुकुमारता से सम्पन्न होती है। इसमे सुन्दरता, शिथिलता और शीतलता रहती है। आचार्य कुतक ने वामन के मत का खडन करते हुए रीति की स्थापना कवि-स्वभाव के अनुरूप की है। इनका मत अधिक स्वाभाविक और वैज्ञानिक है। इनके अनुसार रीति के तीन मार्ग हैं सुकुमार, विचित्र, और मध्यम। प्रथम मे स्वाभाविकता, सरसता और भावमयता रहती है, दूसरे मे अलकारो की विशेषता और यत्नसाध्यता। तीसरा सुकुमार और विचित्र गुणो का सामजस्य है। इन्होने सुकुमार और विचित्र के अतर्गत चार गुणो की प्रतिष्ठा की है माधुर्य, लावण्य, प्रसाद और आभिजात्य। कुतक का लावण्य शब्द सौन्दर्य शास्त्र की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। आनदवर्धन, मम्मट आदि ने गुण को रस का उपकारक धर्म माना है और औचित्य के आधार पर रीति का सस्थापन किया है। इस प्रसग मे इन्होने विषयौचित्य, रसौचित्य, वाच्यौचित्य आदि की चर्चा की है।

वक्रोक्तिवाद— वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य कुतक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन कहा है। इन्होने सभी अलकारो के मूल मे वक्रोक्ति की सत्ता स्वीकार की है। वक्रोक्ति कथन की विशेष भगिमा है, अलङ्कृति है। इससे उक्ति मे चमत्कार चारुता और शोभा का सपादन होता है। कवि की प्रतिभा ही उक्ति मे वक्रता का समावेश करती है। कुतक ने इसके छ' भेद माने है ·

वर्णविन्यास-वक्रता, पदवक्रता; पदपरार्ध-वक्रता; वाक्यवक्रता, प्रकरण-वक्रता, और प्रबध-वक्रता। वर्णविन्यास-वक्रता में वर्णों का इस प्रकार गठन होता है जिससे चमत्कार की स्वतः उत्पत्ति होती है। पदवक्रता मे व्याकरण सबधी प्रयोगों मे चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। इसके अन्दर किसी शब्द के प्रयोग की

विच्छित्ति या वैचित्र्य समाहित रहता है। पदपरार्ध-वक्रता मे पद के परार्ध मे प्रकट विशेषताओ का सकेत होता है। यह वक्रोक्ति काल, कारक, सख्या, पुरुष, प्रत्यय तथा पद-वक्रता के रूप मे अभिव्यक्त होती है। वाक्य-वक्रता के अतर्गत उदार और सुन्दर वस्तु का रमणीय वर्णन आता है। प्रकरण की वक्रता किसी प्रसग के औचित्य को प्रभावशाली बनाने मे है। प्रबध वक्रता पूरे प्रबध मे वर्तमान रहती है। वक्रोक्ति का यह व्यापक रूप नाटक, प्रबंध-काव्य आदि के सम्पूर्ण रूप मे देखने को मिलता है। कथारूप के किसी अश की काट-छाँट, विस्तार या सकोचन मे इसका प्रयोग देखा जा सकता है। इस प्रकार कुतक ने वक्रोक्ति के कई भेदोपभेद प्रस्तुत किये है। अभिव्यजनावाद के प्रसग मे इस पर आगे भी विचार किया जायगा।

ध्वनि-सम्प्रदाय—इसके प्रवर्तक आनदवर्धनाचार्य है। इन्होने ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है। इस सिद्धात की व्यापकता ने काव्य के उपर्युक्त वादो को अपने अदर समेट लिया है। इसको इन्होने असलक्ष्यक्रम व्यग्य के रूप में देखा है और इसे ध्वनि का एक भेद स्वीकार किया है। ध्वनि सिद्धात को व्याकरण के स्फोटवाद से पर्याप्त प्रेरणा मिली है। 'पूर्ववर्ती वर्णो के उच्चारण के सस्कार के साथ अतिम वर्ण के उच्चारण के अनुभव से अर्थ की जो अभिव्यक्ति होती है उसका नाम स्फोट है।' कमल शब्द के उच्चारण के समय 'क' या 'म' या केवल 'ल' से अर्थ का बोध नही होता है। पूर्व वर्ण के अनुभव के सस्कार के साथ जब अतिम वर्ण के उच्चारण के अनुभव का सस्कार मिल जाता है, तभी कमल के अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। इसमे अर्थ का क्रमश· प्रस्फुटन होता है, इसलिए इसे स्फोट कहते है। ध्वनि सिद्धात के अनुसार भी काव्य मे अभिधा, लक्षणा आदि के द्वारा अलग-अलग अर्थ का बोध नहीं होता। काव्य का मार्मिक अर्थ, आनद विधायक अर्थ, अभिधा और लक्षणा के विरत हो जाने पर व्यजना शक्ति द्वारा अभिव्यक्त होता है। घटे के आघात की पहली ध्वनि टकार है; टकार के बाद भी कुछ क्षणो तक एक झकार गूँजती रहती है। इसे अनुरणन ध्वनि कहते हैं। काव्य का व्यग्यार्थ भी अनुरणन ध्वनि है। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से अधिक चमत्कारक व्यग्यार्थ होता है। सहृदय व्यक्ति इस अर्थ का भावन करता है। व्यंजना के आधार पर ध्वनि-सिद्धांत मे काव्य के तीन भेद किये गये है: ध्वनि, गुणीभूत व्यग्य और अवर। जहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण हो वहाँ ध्वनि काव्य है। जहाँ व्यंग्यार्थ कम चमत्कारपूर्ण हो, और वाच्यार्थ मुख्य हो, वहाँ गुणीभूत व्यग्य होता है। व्यंग्यार्थ का जहाँ

अभाव हो वहाँ अवर काव्य समझना चाहिए। इन तीनो को क्रमश उत्तम, मध्यम और अधम काव्य की सज्ञा दी गई है। व्यग्यार्थ, वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ पर आश्रित रहता है, अत ध्वनि भी अभिधा और लक्षणा पर निर्भर है। वक्रोक्ति की तरह ध्वनि के कई भेदोपभेद किये गये है।

ध्वनि सिद्धात ने काव्य की सौन्दर्यानुभूति को शब्दो के स्थूल अर्थ से ऊपर उठाया। शब्द टकार उत्पन्न करके लुप्त हो जाता है और अनुरणन के द्वारा व्यग्यार्थ की उपलब्धि होती है। शब्दो का आघात सहृदय के मानस मे विविध भावततुओ को झकृत करता है। भाव की एक ककडी भावना की अनेक लहरियो को उत्पन्न करती है। ये भाववीचियाँ कलरोर करती है, एक अपूर्व गुजन उत्पन्न करती है। इस प्रकार सहृदय की कल्पना-शक्ति जाग्रत होती है और इसके आलोक मे अर्थ का इन्द्रधनुष उसे दृष्टिगोचर होता है। ध्वनि-सिद्धात मनोवैज्ञानिक कसौटी पर भी खरा उतरता है, इसलिए इस युग मे इसका अधिक महत्व है।

औचित्यवाद—क्षेमेन्द्र ने काव्य की आत्मा का दर्शन औचित्यवाद के रूप में किया है। यह सिद्धात औचित्य को काव्य-सौन्दर्य का प्रधान कारण मानता है। जिस प्रकार हमारे शरीर की शोभा उसके अगो के उचित अनुपात मे है, उसी प्रकार काव्य की शोभा भी औचित्य मे है। यदि कोई कवि किसी पात्र के कान को सूप की तरह और दाँत को फार की तरह चित्रित करे तो वह हास्यास्पद हो जायगा। किसी चित्र मे यदि एक हाथ बहुत लबा और दूसरा बेहद छोटा अकित किया जाय तो वह आदमी बेढब दीख पडेगा। इसी प्रकार यदि हाथ की कोई अगुली ज्यादा लम्बी दिखाई जाय तो हाथ ही कुरूप हो जायगा। छोटे मकान के सामने विशाल सिह-द्वार हो या विशाल भवन के आगे छोटा-सा फाटक रहे, तो ये दोनो भद्दे दिखाई देगे। शकुतला के कटि पर लताओ को सीचने के लिए कोई बडा घडा रख दे तो क्या होगा! किस वस्तु को किस मात्रा में किस स्थान पर किस प्रकार रखना चाहिए यह औचित्यवाद के अतर्गत है। शृगार या करुण या हास्य कोई रस हो उसका वर्णन एक सीमा तक ही सहृदय को ग्राह्य होता है। किसी रस का आवश्यकता से अधिक विस्तार या सकोच काव्य को विकलाग बना देता है। नाटक मे सवाद का विचार किया जाय तो वहाँ भी प्रत्येक पात्र के मुख से देश, काल के अनुसार ही भाषा का प्रयोग उचित होगा। इस प्रकार यह औचित्य रस मे, शैली मे, अभिनय मे, रूप-चित्रण

मे सर्वत्र वर्तमान रहता है। औचित्य का मार्मिक प्रयोग कला को सुन्दर बनाता है। औचित्यवाद के कथन मे, यह मानना पडेगा कि औचित्य वतमान है, फिर भी यह काव्य के बहिरग पर जितना ध्यान आकृष्ट करता है, उतना अतरग पर नही।

काव्य की आत्मा क्या है ? काव्यानद का कारण क्या है ? सौन्दर्यानुभूति का रहस्य क्या है ? इस विषय पर विचार करते हुए सस्कृत के आचार्यो ने ऊपर्युक्त सिद्धातो का निरूपण किया है। नीचे हम भारतीय काव्य-सौन्दर्य की दो-एक सामान्य विशेषताओ का उल्लेख करना चाहते है।

प्रकृति-प्रेम—प्रकृति के प्रति सुखद विस्मय, मधुर प्रीति और निश्छल कृतज्ञता का भाव भारत के मूर्धन्य कलाकारो मे हम सरलता से देख सकते है। उत्तुग शिखर, हरित वन-स्थली, गभीर जलधि, वेगवती सरिता और नक्षत्र खचित आकाश ने यहाँ के कलाकारो को सदा अपनी ओर आकर्षित किया है। हमारी कला ने नगर के कोलाहल से कुछ अलग हट कर कण्व के तपोवन मे अपना शृगार सँवारा है। वैदिक काव्य मे सविता, ऊषा, अग्नि, मरुत्, मेघ आदि के प्रति विस्मय एव समर्पण के भाव प्रचुर मात्रा मे वर्तमान है। इधर वाल्मीकि, व्यास और कालिदास मे प्रकृति की रमणीय माधुरी का उच्छल रस प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। प्राकृतिक सुषमा तिलोत्तमा के रूप मे कालिदास की कविता मे अवतरित हुई है। भारतीय सौन्दर्य-भावना मे प्रकृति की स्मिति कही-न-कही अवश्य विद्यमान है। सुख-सम्पत्ति प्रदान करने वाली प्रकृति के प्रति कृतज्ञता का भाव भी हमने यत्र-तत्र अभिव्यक्त किया है। वाल्मीकि ने निशा या सध्या को कई बार भगवती कह कर सबोधित किया है। आनद, चेतना और प्रकाश की किरणें बिखेरने वाली ऊषा देवी के प्रति वैदिक ऋषियो ने न जाने कितने उद्गार व्यक्त किये है।

भोग में योग—'भारत आध्यात्मिक देश है'। 'हर भारतीय जन्मजात दार्शनिक है'।—इस तरह का प्रचार करने वाला भारत को झूठी प्रशसा में बेखबर रख कर उसको निकम्मा बनाना चाहता है। हमारे यहाँ गार्हस्थ्य आश्रम की प्रतिष्ठा सदा सर्वदा बनी हुई है। सन्यास की ओर अपने जीवन के अतिम दिनों में कुछ ही व्यक्ति जाते थे और वे भी समाज मे रह कर लोक-जीवन को शिक्षित किया करते थे। गुफाओ मे बैठ कर तपस्या करने वालो की सख्या बहुत कम थी और आज भी कम है। ऋषि-मुनि अपने आश्रमो में सपरिवार

निवास करते थे। राष्ट्र के नागरिको को शिक्षित करने मे उनका समय व्यतीत होता था। हमारे पुराणो और धर्म-ग्रथो मे गार्हस्थ्य की भूरि-भूरि प्रशसा है। जनक ने भोग का उचित रूप से उपभोग किया, इसलिए वे विदेह के रूप मे प्रशसित है। कर्म करते हुए हम सौ वर्ष जीना चाहते है, 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शत समा'—यह गार्हस्थ्य जीवन का मूलमत्र है। 'तेनत्यक्तेन भुञ्जीथ।'—उस परमात्मा को साथ रख कर त्याग के साथ इस ससार का उपभोग करना चाहिए। यही कारण है कि भारतीय कला भावना मे जीवन के भोगपक्ष को साहस के साथ ग्रहण किया गया है। नर-नारी के मासल रूप का वर्णन हमारे काव्य मे प्रचुर मात्रा मे है। नायक-नायिका के पुष्ट और कमनीय अगो का सरस वर्णन किया गया है। रूपाकृति के अकन मे हमारे कलाकारो ने कही सकोच नही किया है। शृगार रस भारतीय काव्य मे अपना प्रमुख स्थान रखता है। हिन्दी के रीतिकाल मे शृगार सबधी जितनी पक्तियाँ लिखी गयी, उतनी शायद ही विश्व के किसी साहित्य के किसी काल मे लिखी गई हो। शृगार के भोगपक्ष की विवृति कालिदास के काव्य मे नि सकोच हुई है। आर्य जीवन मे स्वस्थ शरीर, स्वस्थ भोग और शुभ कर्म की प्रतिष्ठा की गई हैं। भारतीय सौन्दर्यभावना भोग के साथ योग का अभिनदन करती है, शरीर के साथ आत्मा का वरण करती है। भारतीय कला मे भाव की अभ्यर्थना है, लेकिन देह की अवहेलना नही। देह मे विदेह का दर्शन हमारी कला का लक्ष्य है।

अनेकता मे एकता—शरीर के सभी अग एक-दूसरे से भिन्न है। लेकिन इस भिन्नता के बीच शरीर की अभिन्नता की अनुभूति प्रत्यक्ष होती है। इसी प्रकार एक देश के अतर्गत अनेक जातियाँ, रीतियाँ और बोलियाँ मौजूद रहती है, फिर भी उनमे एकता का बोध होता है। जिस प्रकार देशभक्त अपने देश की अनेकता के बीच ऐक्य का अनुभव करता है, उसी प्रकार सत इस सम्पूर्ण विश्व की अनेकता मे ऐक्य का। किसी चित्र मे विभिन्न प्रकार के छाया-प्रकाश और वर्ण वैविध्य का निदर्शन किया जाता है, लेकिन सौन्दर्यानुभूति के समय उसमे एक रागिनी का बोध होता है। चित्र को खडश देखने से उसका चित्रत्व समाप्त हो जाता है। खडो मे अखड का, अनेकता मे ऐक्य का और अशो मे पूर्ण अश का दर्शन ही वास्तविक सत्य दर्शन है।

कहने के लिए वैदिक काल मे इन्द्र, अग्नि, मरुत्, रुद्र, विष्णु आदि

अनेक देव है, लेकिन तत्वत उन नाना रूपो मे एक अरूप का बोध होता है। सत् एक है, उसे विद्वान् अनेक रूपो मे व्यक्त करते है; 'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'। एक अग्नि तत्व जगत् मे प्रविष्ट हो कर विभिन्न वस्तुओ के साथ विभिन्न रूपो में प्रकाशित होता है; वह एक परमात्मा भी विश्व मे प्रविष्ट हो कर अनेक रूपो मे प्रतिभासित होता है[1]—

एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

अर्थात्, जो एक, सब को अपने अधीन रखने वाला और सम्पूर्ण भूतो का अन्तरात्मा, अपने एक रूप को ही अनेक प्रकार कर लेता है, अपनी बुद्धि मे स्थित उस आत्मदेव को जो धीर पुरुष देखते है उन्ही को नित्य सुख प्राप्त होता है, औरों को नही। इस प्रकार बहुधा मे एक रूप को देखना यहाँ के कलाकारो और तत्व चिन्तकों की हमेशा से दृष्टि रही है। वैदिक मत्रो के द्रष्टा—विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि ऋषियों से लेकर वाल्मीकि, व्यास और कालिदास आदि महाकवियों तक और इधर कबीर, तुलसी तथा मैथिलीशरण और जयशकर प्रसाद तक ने प्रायः उसी एक रूप का अनुसधान किया है। रामकृष्ण, विवेकानद, गाँधी, तिलक, अरविन्द, रवीन्द्र आदि युगपुरुष अनेकता के बीच ऐक्य दर्शन का संदेश हमें देते रहे हैं।

भागवत भावना—भारतीय कलावतो के साधनापक्ष पर यहाँ के बौद्ध और योग दर्शन का प्रभाव पडा। उपनिषदो का प्रभाव तो सर्वत्र है ही, उनके भावनापक्ष पर वैष्णव-भावना की तरलता का भी प्रभाव पडा। प्रेम की विह्वलता के सामने समाज के कृत्रिम बधन छिन्न-भिन्न हो गये। वाल्मीकि और व्यास ने राम और कृष्ण के चरित्र का अकन इतनी तन्मयता के साथ किया कि उनकी लीलाओ का कीर्तन आज तक चल रहा है। मर्यादा मे बँध कर चलना कुछ कष्टकर होता है, लीला मे खुल कर झूमना सुखकर होता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने कर्तव्य का आदर्श करुणा के बीच रह कर निभाया है। रावण की आसुरी शक्ति पर राम की दैवी-शक्ति की विजय पाप पर धर्म की विजय है। लीला पुरुषोत्तम गोपीवल्लभ श्री कृष्ण के साथ भारतीय जीवन का पूरा

---

[1]कठोपनिषद्—२।२।१२

रागात्मक सामजस्य स्थापित हुआ है। श्रीमद्भागवत की दिव्य धारा मे स्नान कर कितने ही जीव परम भागवत हो गये है। ऐसे सतो के पीछे स्वय श्रीकृष्ण इसलिए घूमते रहते हैं कि कही उनके चरणो की धूल उड कर उनके माथे पर पड जाय।

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रि रेणुभिः॥[1]

भगवान् श्री कृष्ण का हास्य अत्यत उदार है। वह प्रणतजनो के तीव्र से तीव्र शोक के अश्रु-सागर को सुखा देता है।

हासं हरेरवनताखिल लोक तीव्र।
शोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम्॥[2]

जो कलाकार श्री कृष्ण की लीला-माधुरी से तनिक भी प्रभावित हुआ है, उसकी कला में तरलता, द्रवणशीलता और दिव्यता का समावेश अवश्य हुआ है। जयदेव, विद्यापति, सूरदास, चडीदास, मीरा, रवीन्द्र आदि कवियो मे यह रसस्निग्धता भरपूर मिलती है। श्री कृष्ण की भक्ति-भावना ने काव्य-कला की तरह अन्य कलाओ को भी अपनी अलौकिक माधुरी से प्रभावित किया है।

प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति—प्रतीक किसी वस्तु या व्यापार के विचार-पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। मन के कुछ ऐसे गूढ भाव हैं जिनकी अभिव्यक्ति सरल भाषा मे नही, बल्कि प्रतीको मे हो सकती है। आर्य जाति की सामूहिक मनश्चेतना प्रतीको के माध्यम से संहिताओ और पुराणो मे प्रकट हुई है। नृत्य, चित्र, मूर्ति आदि प्रत्येक कला को प्रतीक-पद्धति ने प्रभावित किया है। भरत-नाट्यम् में प्रत्येक मुद्रा किसी भाव का प्रतीक बन कर उपस्थित होती है। सृजन, पालन और सहार के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु और महेश प्रतिष्ठित हुए है। देवताओ की मूर्तियाँ भी प्रत्यक्ष देवता नहीं है, वे किसी भाव की प्रतीक हैं। देवी-देवताओं के वाहन (हस, उल्लू, मूषिक, गरुड, बैल, मयूर आदि) यो ही नही नियुक्त हुए है, उनके मूल मे कोई विचार निहित है। प्रत्येक वाहन

---

[1] श्रीमद्भागवत; ११।१४।१६

[2] वही; ३।२८।३२

किसी गूढ अर्थ का प्रतीक बन कर आया है। काव्य के अतर्गत भ्रमर, कलिका, मेघ, हस, वसत, शिशिर, चातक, चरखा, बढई, माली आदि अनेक प्रतीक प्रयुक्त हुए है। अर्द्धनारीश्वर, गणेश, शेषशायी विष्णु, कमलासन ब्रह्मा, यम आदि सभी प्रतीक रूप मे प्रयुक्त हुए है। काव्य के समान योग, तत्र, मत्र, गणित, ज्योतिष आदि शास्त्रो के भी अपने-अपने प्रतीक हो गये है। एक टेढी-मेढी भयानक मूर्ति भी, किसी भाव की प्रतीक होने के कारण, हमारी आत्म-साधना के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होती है। यही कारण कि शकराचार्य ने विकलाग मूर्ति को मनुष्य के सुन्दर रूप से अधिक महत्वपूर्ण माना है।

भावाभिव्यक्ति—प्राचीन यूनानी कला मे कही-कही रूपाकृति को मुख्य तथा भावाकन को गौण स्थान प्राप्त हुआ है। भारतवर्ष मे स्वस्थ रूप के माध्यम से गूढ भावो के चित्रण का प्राय: प्रयास किया गया है। रूपाकृति और भावाभिव्यक्ति का सामजस्य यहाँ के कलाकारो का लक्ष्य रहा है। शारीरिक अगो की सुष्ठु और पुष्ट आकृति के प्रति—रूपगत सौन्दर्य के प्रति—सस्कृत के प्राचीन कवियो ने अपूर्व अनुराग दिखाया है। अग-सौन्दर्य को व्यक्त करने के लिए शख, विद्रुम, मोती, पल्लव, कमल, दाडिम, कदली, कीर, चकोर, चद्रमा आदि उपमान बार-बार हमारे साहित्य मे आये है। मानव और प्रकृति दोनो एक-दूसरे का, अपने-अपने उपमानो द्वारा, सौन्दर्य प्रसाधन करते है। रूप-जगत् के उपमान वाल्मीकि से निराला तक करीब-करीब एक ही रहे है। नयी प्रयोग-वादी कविता सौन्दर्य-चित्रण मे कुछ नये उपमानो का प्रयोग कर रही है।

आत्मा शरीर के और भाव रूप के माध्यम से अपनी शक्ति प्रकट करता है। भारत ने अपनी कलाओ मे रूप और भाव दोनों का समादर किया है। रूप के अतराल से भाव का प्रस्फुटित होना ही कला का उत्कर्ष है। रूप के सोपान से भाव-मदिर पहुँच कर रस-देवता के दर्शन से हम आनदविभोर हो जाते है। रूप और भाव, देह और प्राण, मदिर और देवता दोनो के हम उपासक रहे है।

४ सौन्दर्य तत्व

सौन्दर्य : प्रकृतिगत और कलागत

सौन्दर्य तत्व का बोध प्रकृति के निरीक्षण अथवा कलाकृति के अनुशीलन से उपलब्ध होता है। यहाँ प्रकृति से आशय सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् से है। इसके अतर्गत इन्द्रियगम्य सारी वस्तुओ और व्यापारो का समावेश किया गया है। ज्ञानेन्द्रियो के माध्यम से जिन वस्तुओ या व्यापारो का प्रत्यक्षीकरण मन को सुखद प्रतीत होता है उन्हे हम सुन्दर कहते है। सगीत, काव्य, चित्र आदि कलाओ के माध्यम से जो कृतियाँ निर्मित होती है, कल्पना के द्वारा उनका आस्वादन सौन्दर्यानुभूति है, और वे कृतियाँ सुन्दर कही जाती है। प्राकृतिक वस्तु और कलाकृति से उद्‌भूत सुन्दरता को हम क्रमश प्रकृतिगत और कलागत सौन्दर्य कहेगे। प्रकृतिगत सौन्दर्य द्रष्टा या विषयी के मन मे अल्पकाल तक ठहरता है। यह किसी विशेष काल अथवा देश से घिरा रहने के कारण सीमा-बद्ध होता है। हिमालय या ताज के सौन्दर्य को हमने जहाँ देखा वहाँ देखा, उस छवि को बाँध कर औरो तक हम नही पहुँचा पाते। इसलिए यह देश-विशेष से घिरा हुआ, काल विशेष से बँधा हुआ और विषयी-विशेष से सिमटा हुआ होता है। लेकिन रेखा, लय, शब्द या गति मे बँध कर यह प्रकृतिगत सौन्दर्य स्थायी, व्यापक और अपेक्षाकृत असीम हो जाता है। कलागत सौन्दर्य मे दूसरे तक पहुँचने की, प्रेषणीयता की ताकत आ जाती है। यह अपने अदर कलाकार की कल्पना, वैयक्तिकता, भावसाहचर्य और सुघड़पन को पा कर हल्का, नुकीला और सक्रामक हो जाता है। दिनकर जी के सिमरिया घाट पर खडा कोई रसिक रमणियो को स्नान करते हुए देख रहा है, और कोई सहृदय दिनकर की निम्नांकित पंक्तियाँ गुनगुना रहा है;—

डुबकी रमणियाँ लगाती है, लट ऊपर ही लहराती है।
जलमग्न कमल को खोज-खोज मधुपावलियाँ मँडराती है॥

तो, सिमरिया घाट की प्रत्यक्ष नहाती हुई रमणी का सौन्दर्य प्रकृतिगत कहा जायगा और सहृदय की कल्पना मे, कविता की गगा मे, डुबकी लगाती हुई परोक्ष रमणी का सौन्दर्य कलागत। प्रथम प्रकार की सौन्दर्यानुभूति मे प्रत्यक्षीकरण (पर्सेप्सन) की प्रधानता है और द्वितीय मे कल्पना की। एक प्रकृति द्वारा दिया हुआ है, प्रदत्त है, दूसरा कलाकार द्वारा सिरजा हुआ है, स्रष्ट है। जो दिया हुआ है वह प्रकृति है, जीवन है, कच्चामाल है, जो कल्पना और अनुभूति की आँच मे गल कर ढलता है, नया निर्मित होता है, वह पक्का माल है, कला की कृति है। यदि कोई भावप्रवण व्यक्ति किसी सुन्दर दृश्य या वस्तु को देख कर आनदमग्न हो जाय तो इस अनुभूति को हम प्रथम प्रकार के सौन्दर्य मे रखेगे या द्वितीय मे ? कोई कवि इन्द्रधनुष को देख कर भावविभोर हो रहा है; तो उसकी विभोरता प्रथम या द्वितीय के अतर्गत आयेगी ? द्वितीय के अत्यत सन्निकट होने के कारण ऐसी अनुभूति कलागत सौन्दर्य (एस्थेटिक ब्युटी) के अतर्गत आयेगी। क्योकि यदि किसी भी अनुभूति मे कल्पनाशीलता, तल्लीनता, निर्वैयक्तिकता, सर्जनशीलता और बिम्बविधायकता का समावेश हो जाता है, तो वह कलामूलक ही हो जाती है। वैयक्तिक लाभ-हानि, सुख-दुख स्व-पर और आसक्ति से जो अनुभूति ऊपर उठ रही है, वह कलानिष्ठ हो रही है या हो चुकी होती है।

सौन्दर्य : विषयगत या विषयीगत

एक को अपना एकपन अखरने लगा, तो लीला के लिए स्वय को उसने दो मे बाँट लिया। सत्य दो है या एक ? हम कहेगे दोनो। क्योकि, दो में एक समाया रहता है और एक, अनेक सुरो में बजता है। विषय और विषयी दोनों दो है, लेकिन, दोनो एक-दूसरे के गले मे बाँह डाले हुए है, दोनो एक है। ये दो दौग हैं। दोनो में एक ही पानी बह रहा है। कभी इसका पानी उसमे, कभी उसका पानी इसमें, कभी दोनों का दोनों में।

अपनी इन्द्रियो के जरिये हम अपने से बाहर जो कुछ देखते हैं, वह वस्तु-जगत् है, और अपने मन के अदर हम जो कुछ सोचते, अनुभव करते और इच्छा करते है, वह भाव जगत् है। यानी मेरा मन विषयी है और वस्तु विषय। पहला भीतर और दूसरा बाहर है। विषयी और विषय, भाव और वस्तु, भीतर और बाहर ये दो जगत्, कहने के लिए, हुए। प्रश्न है, सौन्दर्य विषयगत है या

विषयीगत ? वह मुझसे बाहर, वस्तु मे, है, या, मेरे भीतर, भाव मे, है । शुक्ल जी इस प्रकार की चर्चा को 'भाषा के गडबडझाले के सिवा और कुछ नही' समझते है । योरोपवालो के लिए 'यह एक बडी ऊँची उडान या दूर की कौडी समझी गई है ।' 'जैसे वीर कर्म से पृथक्', शुक्ल जी का कथन है, 'वीरत्व कोई पदार्थ नही, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नही । भीतर-बाहर का भेद व्यर्थ है । जो भीतर है, वही बाहर है ।'[1]

कोलरिज ने 'बाइग्राफिया लिटरारिया' मे विषय और विषयी को एक ही प्रक्रिया के दो रूप माने है । नाम के लिए भले दोनो दो है, लेकिन तत्वत ये एक है । जानना एक सक्रियता है, एक सृजनशील व्यापार है । मन जब जानने की प्रक्रिया मे होता है, तो विषय-विषयी का भेद मिट जाता है । मन विषय को जानता है, और विषय फिर मन का अग बन कर उसमे समा जाता है । तो मन, अपने-आपको ही, मन को, जानता है । जानना, कोलरिज का मत है, अपने-आप मे एक गतिशील क्रिया है ।[2] विषय या विषयी, चेतन या जड यह कोई सत्य नही । सत्य है; विषयी, का विषय मे अतर्व्यापन; जड और चेतन का परस्पर समागम । एक अनवरत सक्रिय व्यापार ही सत्य है । कोलरिज के उक्त मत का वैज्ञानिक प्रतिपादन ह्वाइटहेड के ग्रथो मे देखा जा सकता है ।[3] ह्वाइटहेड की मान्यता है कि प्रकृति हमारे मन के भीतर और बाहर दोनो ओर प्रवाहित होती है । मन से बाहर बहते समय प्रकृति विषयी या द्रष्टा द्वारा परिवर्तित और परिष्कृत भी होती चलती है । जैसे प्रकृति का यह विभाजन—भासमान और यथार्थ—भ्रात धारणा पर आधारित है, उसी प्रकार विषयगत और विषयीगत विभाजन भी भ्रातिमूलक है । ज्ञान और कर्म ये दोनो दो नहीं है, बल्कि पहला दूसरे का दूसरा पहलू मात्र है ।[4]

सैद्धातिक दृष्टि से विषय और विषयी का, ज्ञेय और ज्ञाता का अभेद सिद्ध किया जा सकता है, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि मे दोनो के भेद का अनुभव होता है । समदर्शी पडित ब्राह्मण और चाडाल मे, गो और श्वान मे भले ही

[1]देखिए, शुक्ल जी का निबंध, 'कविता क्या है ।'
[2]To know is in its very essence a verb active.
[3]देखिये—Process and Reality; Nature and Life.
[4]Knowledge is merely the other side of action.

भेद न माने, परन्तु यथार्थ जगत मे बिना भेद माने काम नही चलता। उच्च-नीच, छोटा-बडा, पापी-धर्मात्मा, स्त्री-पुरुष आदि का भेद मानना ही पडता है। शकराचार्य कहेगे कि द्वैत का यह आभास अविद्या के कारण है, मायाजनित है। ऐसा कह कर भी उन्होने पारमार्थिक-सत्ता के अतिरिक्त व्यावहारिक-सत्ता भी स्वीकार किया है।

व्यावहारिक दृष्टि से विषय और विषयी का भेद इस प्रकार समझा जा सकता है। मान लीजिए कि उदयशकर ने रगमच पर किसी भावमुद्रा का प्रदर्शन किया। प्रेक्षागृह मे बैठे हुए दर्शक उस मुद्रा को विभिन्न रूपो मे देखेंगे। इतना तो सभी कहेगे कि उदयशकर तरुण है, गौर वर्ण हैं, उनकी अँगुलियाँ पतली, लचीली और ऊर्मिल है। तीन अँगुलियो को आगे-पीछे रख कर उन्होने कोई भाव व्यक्त किया होगा, आदि। लेकिन यह पूछने पर कि वह मुद्रा किसको कैसी लगी, तो कई प्रकार के उत्तर आयेंगे। कोई कहेगा कि वह भरत नाट्यम् की कोई मुद्रा है, कोई कहेगा मुद्रा के द्वारा भाव स्पष्ट नही हो सका, कोई कहेगा शास्त्रीय नृत्य एक ढकोसला है, टिकट बेकार गया। जहाँ तक ऊपरी बातो का वर्णन है सभी दर्शको के वक्तव्य में अपेक्षाकृत समानता पाई जायगी। लेकिन, जहाँ अपनी रुचि का पश्न उठता है, वहाँ प्रत्येक ववतव्य मे अतर दिखाई पडता है। दर्शको के मन पर पडी हुई छापो के बीच जहाँ समानता पाई जाय, वहाँ उसे हम विषयगत कहेगे, और जहाँ रुचि या वैयक्तिकता के कारण भिन्नता पाई जाय, वहाँ उसे विषयीगत कहेगे। अर्थात्, वस्तु की बाहरी समानता को वस्तुपरक गुण और आतरिक विभिन्नता को आत्मपरक कहेंगे।

उपर्युक्त कथन के आधार पर सौन्दर्य को हम विपयगत और विषयीगत दोनो कह सकते है। किसी बच्चे का गोल-मटोल मुँह, छोटी-छोटी आँखे, सुनहरी लटे, दूधिया दाँत, ये सब विषयगत सौन्दर्य के अतर्गत आयेंगे और उस बच्चे का मुँह हूबहू मेरे बेटे से मिलता है, वह बच्चा भोलानाथ है, वह खुनखुन हँसता है, इत्यादि बातें—वैयक्तिक रुचि या पसद की बातें—विषयीगत सौन्दर्य के अदर आयेंगी।

मार्क्सवादी विचारक कॉडवेल के मत का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यहाँ उनके मत को दुहराने की इच्छा होती है। उनके अनुसार सौन्दर्य सार्वभौमिक तत्व नहीं, बल्कि एक विशिष्ट सामाजिक उत्पादन है। जिस प्रकार मौसम में पैदा होने वाली गर्मी बाहरी प्रभावो द्वारा, वस्तुपरक तत्वो द्वारा

निर्धारित होती है। गर्मी का अनुभव होना एक घटना है, यह वस्तुपरक है, इसमे नवीनता है, यह हमारे खास उपयोग के लिए है। सौन्दर्य भी, गर्मी की तरह, सामाजिक तत्वो द्वारा निर्धारित विषय और विषयीगत तत्वो से सघटित, उनसे उत्पन्न, एक नवीन, विशिष्ट यथार्थ शक्ति है।

हम प्राय इस तरह से बोलते है कि वह चीज सुन्दर है, मै सुखी हूँ दुखी हूँ .। इसका मतलब यह हुआ कि सुन्दरता किसी चीज के अदर है और सुख-दुख मेरे अदर है। विचार कर देखा जाय तो सुख-दुख की अनुभूति का कारण उस व्यक्ति के अह और उसके चतुर्दिक् वातावरण का पारस्परिक सघर्षण है। बाहर का वातावरण व्यक्ति के अह के साथ अतर्भेदन करता है। मान लीजिए, एक सप्ताह के बीच किसी व्यक्ति को कई बार सुख-दुख का झोका सहना पडा। वह व्यक्ति देखता है कि एक सप्ताह के बीच प्रकृति मे काफी परिवर्तन हुआ,—कभी दिन, कभी रात, कभी आँधी, कभी पानी, कभी धूप इत्यादि —लेकिन उसके मन का दर्द ज्यो-का-त्यो बना रहा। तब वह व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँचता है सुख-दुख व्यक्ति के अदर की चीज है और जाडा, गर्मी बाहर की, वस्तु के अदर की चीज है। गर्मी को किसी वस्तु मे से निकलते हुए भी हम देखते है। गरम चीज से दूर हटते जाइये, तो गर्मी घटती चली जायगी। उस चीज से बिल्कुल अलग हो जाइए, तो गर्मी का पता नही चलेगा। गर्मी बाहर की वस्तु है, वह वस्तुपरक है। गरम चीज के निकट आने से जैसे गर्मी का बोध होता है, उसी प्रकार सुन्दर चीज के निकट रहने से सुन्दरता का। सुन्दर वस्तु आँखो से ओझल हो जाती है तो सुन्दरता भी गायब हो जाती है। तो यह सिद्ध हुआ कि गर्मी वस्तु मे और सुन्दरता समाज मे रहती है। तापमान में कम ज्यादा होने से गर्मी ज्यादा या कम मालूम होती है; और सामाजिक वातावरण मे अदल-बदल होने से सुन्दरता के मानदड मे परिवर्तन होता रहता है। कॉडवेल का निष्कर्ष यह है कि सौन्दर्य एक सामाजिक उत्पादन है। सौन्दर्य-भावना सामाजिक परिवेश से व्यक्ति को उपलब्ध होती है। समाज सौन्दर्य का निर्माता है, नियता है। 'सौन्दर्य सामाजिक तत्व है, क्योकि यह मुझसे अलग समाज मे रहता है।'[१]

---

[१]It is objective, because it lives apart from me in society.

—Further Studies in a Dying Culture.

उपर्युक्त कथन को और अच्छी तरह समझने के लिए उसे निम्नलिखित चार अशो मे रखा जा सकता है,—

क—गर्मी बाहरी पदार्थ से और सुन्दरता सामाजिक प्रक्रिया से द्रवीभूत होने वाली चीज है, इसलिए यह विषयगत है।

ख—गर्म पदार्थ या सुन्दर वस्तु से दूर हटने पर गर्मी या सुन्दरता का बोध घटता जाता है, निकट आने पर वह बढता है। इसलिए सुन्दरता गर्मी की तरह विषयगत है।

ग—सुख मुझमे है, लेकिन सुन्दरता मुझसे अलग समाज मे है। इसलिए सुखानुभूति विषयीगत और सुन्दरता विषयगत है।

घ—सुन्दरता सामाजिक उत्पादन है। इसका मूल्य, अन्य सामाजिक मूल्यो की तरह, परिवर्तनशील है। इसलिए, सौन्दर्य विषयगत है।

कॉडवेल के इस विचार से मै कुछ अशो मे असहमत हूँ। उन्होने सुन्दरता की उपमा गर्मी से देकर फिर उसके गुण और लक्षण को गर्मी पर घटा दिया है। दो वस्तुओ मे थोडा-सा सादृश्य दिखा कर तुरत मनचाहा निष्कर्ष खीच लेना ठीक नही। ऐसे तो कोई सुन्दरता की उपमा इन्द्रधनुष से देकर उसे अवास्तविक कह दे, और दूसरा चुम्बक से देकर उसे खीचने वाला बतावे। गर्म और सुन्दर चीज के नजदीक आने से गर्मी और सुन्दरता का ज्यादा बोध होता है—यह बात पहले के लिए ठीक है, दूसरे के लिए नही। सुन्दरता कोई बिजली का चूल्हा नही है जो नजदीक से सेकने पर गर्म और दूर से ठढा मालूम हो। सुन्दर वस्तु तो आँखो से दूर हटने पर मन मे और गहरी धँसती जाती है। किसी वस्तु के ध्यान की गहरी तन्मयता उसके प्रतिरूप को सामने खडा कर देती है। सुन्दरता प्रत्यक्षीकरण और कल्पना दोनो मे निवास करती है। कल्पना मे रूप गढने की, बिम्ब विधान की अद्भुत शक्ति है। 'सुतलि छलहुँ हम घरबा रे' मे नायिका ने स्वप्न में अपने पहुँ का प्यार पाया है। सुनी हुई रागिनी, कीट्स कहता है, मधुर होती है; लेकिन नही-सुनी मधुरतर। यह 'नही-सुनी' कल्पना से सुनी जाती है। फिर कॉडवेल का यह कहना कि सुन्दरता मुझसे दूर समाज में है,—इसी प्रकार है, जैसे नाखून अँगुली से दूर शरीर मे है। समाज की व्यक्ति से भिन्न कोई स्वतत्र सत्ता नही है। व्यक्ति समाज का आवयविक (ऑर्गेनिक) अग है। घडी के सारे पुर्जे अलग-अलग रख दिये जायँ तो उसका

घडीपन गायब हो जायगा, उसी प्रकार सभी व्यक्ति यदि छिन्न-भिन्न हो जायँ तो समाज की सत्ता नही रहेगी। आहार-निद्रा-भय मैथुन की तरह सौन्दर्यानुभूति जन्मजात प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति व्यक्ति में सोती भले रहे, मरती कभी नही। सौन्दर्यानुभूति वस्तु और भाव का, विषय और विषयी का अंतर्मिलन है। कॉडवेल ने सौन्दर्य को व्यक्ति और वातावरण के सघर्ष से उत्पन्न तत्व कहा है, पता नही, फिर उसे व्यक्ति से अलग क्यो बताया ? बात है कि पार्टी-स्पिरिट मे आ जाने पर आदमी पार्टी को पकड़ता है, स्पिरिट को छोडता है। हिगेल ने राज्य को प्रमुख और व्यक्ति को गौण स्थान दिया है। मार्क्स ने भी समाज के आर्थिक पहलू पर ही जोर दिया और व्यक्ति को नगण्य माना। धर्म में व्यक्ति और उसकी आत्म-साधना को प्रमुखता मिली है, समाज मे सामाजिक वातावरण को प्रधानता दी गई है। किसी ने ठीक ही कहा है कि इन दिनो सस्थाएँ पुष्ट और व्यक्ति दुर्बल हो रहा है। व्यक्तियो के व्यवस्थित समुदाय का नाम समाज है। व्यक्ति और समाज अपने विकास मे दोनो एक-दूसरे के आभारी है। सौन्दर्य व्यक्ति और समाज दोनो का उत्पादन है। समाज उपकरण प्रदान करता है, व्यक्ति अपनी कल्पना से उसमे रूप-रग भर कर एक नवीन सृष्टि करता है।

कॉडवेल के विपरीत क्रोचे का मत है कि 'सुन्दर कोई पदार्थगत तथ्य नही है, यह वस्तुओ मे नही रहता, बल्कि व्यक्ति के क्रिया-व्यापार मे, आत्म-शक्ति मे वर्तमान रहता है।' जीव वैज्ञानिको की दृष्टि मे सौन्दर्य का कोई महत्व नही। वे किसी पक्षी या फूल का सारा हुलिया बता सकते है, लेकिन यह नही कह सकते कि सुन्दर क्या है। बिना कल्पना की क्रियाशीलता के प्रकृति का कोई भाग सुन्दर नही दीख सकता।[१] कलाकार अपनी लेखनी या तूलिका से प्राकृतिक सौन्दर्य को सशोधित करता रहता है। क्रोचे सौन्दर्य को व्यक्ति के मन मे उत्पन्न मानता है, क्योंकि वस्तु अपने-आप मे सुन्दर नही, वह व्यक्ति की कल्पना या भावना के कारण सुन्दर होती है। इन्द्रधनुष या गुलाब की सुन्दरता सहृदय के मन की अनुभूति है। फूल, तितली, इन्द्रधनुष, चाँदनी आदि को हम औपचारिक रूप से सुन्दर कहते है, वास्तव मे वे सुन्दर नही है। हाँ, वे हमारी

---

[१]Without the aid of the imagination no part of the nature is beautiful.

—क्रोचे, एस्थेटिक

सौन्दर्य-भावना को उत्तेजित करने वाले जरूर है। क्रोचे सौन्दर्य को शत-प्रतिशत विषयीगत मानते है, विषयगत बिल्कुल नही।

सातायना का कथन है कि सौन्दर्य सुख का मूर्तरूप (Pleasure objectified) है। अपने मन के आनद को जब हम किसी मूर्तरूप मे देखना चाहते है, तब उसे जिस वस्तु पर प्रक्षिप्त करेंगे, वह सुन्दर हो जायगी। व्यक्ति के आनद का प्रक्षेपण उस वस्तु को सुन्दर बनाती है। बाह्य वस्तु अत करण मे प्रसुप्त आनद को जाग्रत करने के लिए उद्दीपन का भी काम करती है। चित्र मे जो 'है', सातायना का मत है, वह सौन्दर्य है, और जो मुझमे है, वह मेरा प्रक्षिप्त, मूर्त आनद है। विषय सौन्दर्य का बाह्यरूप है और विषयी का मन उसका अन्त स्वरूप है। विषय और विषयी के योग से सौन्दर्य का जन्म होता है।

सापेक्ष्यवाद के आधार पर विषय और विषयी का विचार करने से इन दोनो की पृथक् सत्ता नही रह पाती। क्योकि, विषय की कल्पना बिना विषयी के हो नही सकती, और विषयी हमेशा विषय के साथ ही रहेगा। दोनो की सत्ता एक-दूसरे की अपेक्षा करती है। आइन्स्टिन ने देश और काल को 'देशकाल' या 'दिक्काल' कहा है, क्योकि इनकी सत्ता का पृथक् निरपेक्ष ज्ञान असभव है। इस प्रकार हम विषय और विषयी के द्वित्व को हटा कर उन्हे 'विषय-विषयी' ही कहेगे।

यदि सुन्दरता को वस्तु के अदर का कोई गुण विशेष मान लिया जाय, तब तो उसे गुण का असर हर द्रष्टा पर होना चाहिए। चन्द्रमा की शीतलता और अग्नि की ज्वाला हर व्यक्ति को प्रभावित करती है। आग या बर्फ हर अँगुली को जलायेगी या गलायेगी। इस प्रकार उगता हुआ चाँद, सिंदूरी साँझ और रजनीगधा हर व्यक्ति को अच्छा लगना चाहिए। यदि किसी चित्र या मूर्ति या गीत मे ही सुन्दरता का वास रहे तब तो प्रत्येक विषयी उसे देखते ही मुग्ध हो जाय। लेकिन, ऐसा होता नही। बात यह है कि वस्तु की सुन्दरता विषयी की सहृदयता, कल्पनाशक्ति, भावसाहचर्य, मन.स्थिति एव प्रतिभा पर भी बहुत अशो मे निर्भर करती है। एक से एक रूपवान् राजा स्वयवर मे पधारे थे, फिर इदुमती ने अज को ही क्यो जयमाला पहनाई? इदुमती की मन:कल्पित भावना राजा अज पर प्रक्षिप्त हुई। जिस सौन्दर्य ने द्रष्टा

के मानस मे आनदानुभूति उत्पन्न नही की, वह उसके लिए सुन्दर नही है। सौन्दर्यानुभूति के लिए आलबन और आश्रय, वस्तु और भाव दोनो की सत्ता अपेक्षित है। विषय और विषयी के अन्तर्मिलन से सौन्दर्य का भाव उद्भूत होता है। निष्कर्ष यह निकला कि सौन्दर्य न केवल विषयगत है और न केवल विषयीगत, वह विषय विषयीगत है। विषयी अपने अह को, अपनी सासारिक उलझनो को भूल कर दृश्य (सुन्दर वस्तु) के साथ जितना ही तदाकार होता है, उतना ही वह सुन्दरता का अनुभव करता है। शुक्ल जी का मत है कि जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर होगी। प्रो० दुकासे ने कहा है कि सौन्दर्य वस्तु का गुण है और इसकी सार्थकता विषयी के हृदय मे आनद उत्पन्न करने मे है।[1] दुकासे ने यह भी कहा है कि जैसे कोई आर्सेनिक खाए या नही, उसकी गरलता उससे दूर नही, होती। उसी प्रकार सुन्दर वस्तु कोई देखे या नही, उसकी सुन्दरता उसमे बनी रहती है। लेकिन यह तर्क भी उनका सर्वाशत सत्य नही है। क्योकि कोई भी वस्तु अपने आप मे न सुन्दर है न कुरूप, वह केवल वस्तु है। सुन्दर या कुरूप तो वह विषयी के सम्पर्क मे आने से होती है। सुन्दरता की व्याख्या विषय और विषयी के समवेत सम्पर्क मे आने से की जाती है। इसलिए, जैसा पहले कहा जा चुका है, सौन्दर्य न विषयगत है, न विषयीगत, वह विषय-विषयीगत है।

कला का सौन्दर्य

कटे महाराज के तबले मे, ललन जी के मृदग मे, उदय शकर के नृत्य मे, ओकार नाथ के सगीत मे और दिनकर के काव्य मे सौन्दर्य कहाँ है? ताल-मात्रा मे या लयमाधुरी मे या विशिष्ट पद रचना मे वह निहित है? वह क्या है जो हर कला के माध्यम से हमे आनद प्रदान करता है? वह क्या है जिसकी उपस्थिति से हमे सौन्दर्यानुभूति होती है। उसका नाम क्या है,

---

[1]...Beauty is that property of an object which consists in capacity of the object to cause pleasure in a subject who contemplates it.

—Art, the Critics and You, page 90

रूप क्या है, गुण क्या है ? वह कला के बाह्य रूप मे है, या हमारे अत स्वरूप मे ? रूप क्या है ? रस क्या है ?

कला मे रूप और रस, वस्तु और व्यजना कहियत भिन्न है, है नही। कला के रूपगत सौन्दर्य के अतर्गत वर्ण, रेखा, शब्द योजना, छद विधान, स्वर का आरोह अवरोह, लयमाधुरी आदि का समावेश किया जायगा और उसके भावगत सौन्दर्य मे कल्पना की रमणीयता, भाव की प्रेषणीयता, रस का परिपाक अभिव्यजना की सफलता, सवेग की तीव्रता, कलाकार की व्यक्तिगत विशेषता, आदि का। लेकिन, जिस प्रकार किसी व्यक्ति का लावण्य उसकी मुखाकृति और आवयविक गठन से अलग कर के नही देखा जा सकता, उसी प्रकार कला का सौन्दर्य भी उसके रूपगत ढाँचे से भिन्न नही टिक सकता। कला का सौन्दर्य कृति की सम्पूर्णता मे है। सौन्दर्य किसी एक रेखा मे या स्वर मे या पद मे नही है। वह सम्पूर्णता, अखडता और आवयविकता के साथ कृति मे वर्त्तमान रहता है। सहृदय रसिक के भावलोक मे कलागत सौन्दर्य का आविर्भाव होता है।

सुन्दरता की दुनिया मे एक विचित्रता यह है कि किसी कलाकृति को यदि कोई सुन्दर कहता है, तो उसी को दूसरा कुरूप या मामूली कह कर टाल देता है। यदि कोई वस्तु सचमुच सुन्दर है, तो वह सबो के लिए सर्वदा सुन्दर क्यो नही हो पाती ! इसका एक उत्तर यह है कि प्रत्येक द्रष्टा उस वस्तु को भिन्न-भिन्न स्थान से, भिन्न-भिन्न दूरी से और भिन्न-भिन्न मनोदशा से देखता है। हर आदमी की मानसिक रचना एक-दूसरे से भिन्न होती है। हर व्यक्ति का अपना वातावरण, अपना सस्कार अपनी रुचि और अपना तर्ज होता है। एक वस्तु को देख कर हर आदमी के मन मे विभिन्न भावसाहचर्य उत्पन्न होगे। सौन्दर्यानुभूति में सहृदय के भावसाहचर्य का बडा महत्व है। व्यक्ति अपने मानसिक वातावरण के अनुसार किसी वस्तु को देख कर प्रतिक्रिया करता है। डाल मे पके आम देख कर उनके मालिक, ठीकेदार, रखवाले, बटोही, लड़का, हेडमास्टर आदि के मन मे विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होगी। एक ही वस्तु विभिन्न दृष्टिकोण (पर्स्पेक्टिव) के कारण एक समान सब को नही दिखाई देगी। लोग अपनी भावना के अनुसार प्रभुमूरति को देखते है। सुनदा ने अग देश के राजा की, जिस पर लक्ष्मी और सरस्वती अपनी ईर्ष्या

भूल कर रीझ गई थी, इदुमती के सामने पर्याप्त प्रशसा की, लेकिन, उसने देख कर भी उसे नापसद कर दिया। वह राजा सुन्दर नही था, सो बात भी नही; इन्दुमती को सौन्दर्य परखने की शक्ति नही थी, सो बात भी नही, बात है अपने मन माने की,

नासौ न काम्यो नच वेद सम्यग्द्रष्टु न सा भिन्न रुचिर्हि लोक.।"

भिन्न रुचिर्हि लोक , एक सार्वजनीन सत्य है। कलागत सौन्दर्य का भावन करते समय प्रत्येक सहृदय मे इदुमतीत्व का रहना अनिवार्य है।

क्लाइब बेल और रोजरफ्राय ने चित्रकला का अध्ययन करते समय यह बताया है कि कलागत सौन्दर्य का मूल कारण उसका अर्थवत् रूप (सिग्निफिकेन्ट फार्म) है। अर्थवत् रूप से उनका आशय उस व्यवस्था और मेल से है जो हमे एक विशेष प्रकार से विचलित या द्रवित करता है।[1] बेल ने सिजाँ, गॉगिन, मातिए आदि आधुनिक फ्रेंच चित्रकारो के चित्रो का रहस्य उनके 'अर्थवत् रूप' मे पाया है। इसमे रगो और रेखाओ की अन्विति होनी चाहिए। अर्थवत् रूप की सफलता इसी मे है कि वह हमारे मन मे कलामूलक सवेग उत्पन्न कर दे।

फ्राय ने रूप (फार्म) को कला का सार माना है। रूप भाव को प्रकाशित करने का एक खास तरीका है, प्रकार है। आस्वादन करते समय कलागत वस्तु पर हमारा ध्यान नही जाता। कला का समीक्षक कला के रूप, पद्धति या प्रकार को देखता है, उसके प्रतिपाद्य विषय को नही। कला 'कैसे' मे बसती है, 'क्या' मे नही। रूप कला के साथ देशमूलक सबध मे ही नही बँधा है, वह कला का सर्वस्व है। बेल ने कला मे प्रतिनिधित्व, प्रतीकत्व, बुद्धितत्व, उपदेश आदि को हेय दृष्टि से देखा है। विचारपक्ष या सदेश कला के सौन्दर्य को बढाने मे तनिक भी सहयोग नही देता, वह बाधक भले हो सकता है। कला का आस्वादन करते समय जीवन के पुराने अनुभव, विचार, अध्ययन आदि की कोई आवश्यकता नही। कला का लोक निजी और स्वतत्र है। जीवन की व्यावहारिक बातो के घुस जाने पर कला शुद्ध नही रह पाती। कोई

---

[1]By significant form I mean arrangements and combinations that move us in a particular way.
—Bell : Art; P. 16

चित्रकार किसी दृश्य का अवलोकन किसी मतलब से नही करता। धर्म, नीति या सदाचार की व्याख्या करने के लिए वह चित्र नही बनाता। किसी दृश्य के रूपगत सौन्दर्य का आस्वादन केवल आनद के लिए किया जाता है। आदर्श चित्रकार सिजाँ ने अपने चित्रो मे सर्वत्र रूप की अर्थवत्ता को ही व्यक्त किया है। 'वह एक नवीन रूप-देश का कोलम्बस है।' सिजाँ की तरह प्रत्येक महान् चित्रकार प्राकृतिक दृश्य को साध्य की दृष्टि से, विशुद्ध रूप की दृष्टि से देखता है। रोमाटिक युग के कलाकार यदि किसी वस्तु को देखते थे तो उससे उठने वाले भावसाहचर्य को बेधडक व्यक्त करते चले जाते। नाइटिंगेल को देख कर कवि के मन मे जो-जो भाव उठेगे वह सबो को कह डालेगा। इसका परिणाम यह हुआ कि इधर-उधर के फालतू भाव तो मॅडराने लगे, लेकिन नाइटिंगेल का कोई पता नही रहा। आदर्श कलाकार सिजाँ की तरह प्राकृतिक दृश्य को साध्य की दृष्टि से, विशुद्ध रूप की दृष्टि से देखता है। सिजाँ ने विशुद्ध रूप और कलाकार के व्यक्तित्व के बीच उठने वाले सारे फालतूपन को दूर निकाल दिया था। उन्होने हमे विशुद्ध रूप का दर्शन कराया। मनोरजन के साथ उपदेश या इतिहास बताने वाले विवरणात्मक चित्र कला की दृष्टि से हेय समझे जायँगे; क्योकि उनमे रूप की अर्थवत्ता के दर्शन नही होते। फ्रिथ का 'पैडिंगटन स्टेशन' एक विवरणात्मक चित्र है। इसमे स्टेशन की सारी चहल-पहल तो वर्तमान है, लेकिन उसका विशुद्ध रूप दब गया है। इसी परम्परा का एक चित्र है, 'डाक्टर', यह बेहद दिलचस्प होते हुए भी कला की दृष्टि से हेय है। बेल वस्तु को दुनियाबी झझटो से बिल्कुल ऊपर उठा कर देखना चाहते है। कला-वस्तु को विशुद्ध रूप मे प्रस्तुत करना चित्रकार का परम धर्म है।

बेल और फ्राय के कला विवेचन मे दो एक त्रुटियाँ नजर आती है। उनके मूल्याकन मे सभवत: कल्पना तत्व का कोई स्थान नही है। कला मे वस्तु भी कोई चीज है, इस पर उनका ध्यान ही नही गया। कलाकृति को जीवन से बिल्कुल हटा कर देखना एक हास्यास्पद प्रयास है। कला का जगत् अपने आप मे स्वतत्र, अकेला और अनोखा है, यह पुराना खटराग है। कला मे प्रतीकत्व, प्रतिनिधित्व या विचार का कोई महत्व नही, बेल का यह मत अतिवाद की सीमा तक पहुँच गया है। पिकासौ का एक चित्र है 'गुएरनिका'। इसका आशय है कि फासिज्म की विजय से हर चीज का बीभत्स विनाश हो जायगा। उक्त चित्र मे एक साँढ फासिज्म का प्रतिनिधित्व कर रहा है। उसमें अंकित

सिपाही, घोडे, औरते, बच्चे सब के सब क्षतविक्षत दिखाये गए है। उस चित्र मे पिकासो ने फासिज्म की ध्वसात्मक लीला पर कोई आश्चर्य प्रकट नही किया है। उन्होने फासिज्म की क्रूरता को तटस्थता के साथ चित्रित कर दिया है। सम्पूर्ण चित्र केवल इस तथ्य की व्याख्या कर रहा है कि फासिज्म का मतलब है हर चीज का पाशविक विनाश। इस चित्र से यदि जीवन और घटना को बिल्कुल हटा दिया जाय तो चित्र नही विचित्र हो जायगा। इसी प्रकार प्रतीको का भी महत्व कला मे स्वय सिद्ध है। नटराज के 'ताण्डव नृत्य' (काँसे की प्रतिमा, १२वी सदी, मद्रास म्युजियम) मे चन्द्रमा, गगा, सर्प, डमरू, त्रिनेत्र आदि प्रतीक गूढ भावो को व्यक्त कर रहे है। कबीर, ईट्स और रवीन्द्र के कुछ गीत ऐसे है जिनका सारा सौन्दर्य प्रतीको की टहनियो में झूल रहा है। 'वेस्ट लैण्ड' मे प्रतीको के माध्यम से ही यान्त्रिक सभ्यता की शुष्कता चित्रित हुई है। इस प्रकार कला के क्षेत्र से वस्तु, विचार या प्रतीक को बिल्कुल बाहर निकालना एक हास्यास्पद प्रयास है।

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद और सौन्दर्य

जर्मन दार्शनिक लेसिंग और विकलमान ने कलागत अभिव्यजना पर क्रोचे से पहले ही अपना सम्यक विवेचन प्रस्तुत किया है। लेसिंग की दृष्टि मे सफल कला वह है जिसकी अभिव्यजना आत्म सौन्दर्य से सबलित रहती है। विकलमान ने अभिव्यजना तत्व को सर्वप्रमुख स्थान प्रदान किया है। लेकिन, अभिव्यजना को एक वाद के रूप मे प्रस्तुत करने का सारा श्रेय क्रोचे को ही है।

क्रोचे ने अपने दर्शन मे आत्म तत्व (स्पिरिट) को एक मात्र तत्व स्वीकार किया है। हिगेल ने आइडिया को स्वत· पूर्ण और निरपेक्ष माना है, लेकिन क्रोचे ने उसे एक गत्यात्मक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। आत्म तत्व, इनके मतानुसार एक सतत क्रियाशील, चिर विकसित एव प्रति क्षण परिवर्तनशील प्रवाह है। आत्मा की क्रिया कें दो रूप हैं, सैद्धातिक या विचार मूलक और व्यावहारिक। आत्मा के सैद्धातिक व्यापार के दो भेद दीखते है, कलामूलक और तार्किक। व्यावहारिक व्यापार के भी उसी प्रकार दो भेद हैं, अर्थमूलक और नैतिक। ज्ञान आत्मा का सैद्धातिक और इच्छा या सकल्प उसका व्यावहारिक व्यापार है। ज्ञान का अपने आप में कोई महत्व नही है, वह

इच्छा मे प्रतिफलित होने के लिए ही रहता है। जो ज्ञान इच्छा या सकल्प मे परिणत नही हो पाता, वह ज्ञान ही नही है। यही कारण है कि कोई भी इच्छा बिना ज्ञान के नही टिक सकती। प्रत्येक इच्छा मे ज्ञान समाया हुआ है।

क्रोचे ने ज्ञान के दो रूप स्वीकार किये है। वह या तो स्वय प्रकाश है या तर्कमूलक, कल्पना के द्वारा उपलब्ध ज्ञान या बुद्धि के द्वारा उपलब्ध ज्ञान, विशेष का ज्ञान अथवा सामान्य का ज्ञान, विशिष्ट वस्तुओ का अथवा उनके पारस्परिक सबध का ज्ञान, वास्तव मे, वह या तो बिम्वो का या प्रमा (कॉन्सेप्ट) का उत्पादक होता है।[1]

स्वय प्रकाश या सहज ज्ञान से सामान्य या जाति का ज्ञान उपस्थित नही होता है, इससे विशेष या व्यक्तिवाचक वस्तु का ज्ञान होता है। सहज ज्ञान कल्पना के माध्यम से उपलब्ध होता है, इसलिए इसे कल्पनामूलक ज्ञान भी कहा जाता है। इसमे बुद्धि या तर्क से तनिक भी सहायता नही मिल पाती है। सहज ज्ञान बिना तर्क के कोई निष्कर्ष निकाल सकता है। आत्मा के सामने बिना किसी प्रयास के यह ज्ञान स्वय प्रकाशित होता है, इसलिए इसे स्वय-प्रकाश ज्ञान भी कहते है। आत्मा के चार व्यापार है, सहजमूलक, बुद्धिमूलक, अर्थमूलक और नीतिमूलक।[2] इन चारो मे सहज ज्ञान आत्मा का प्रथम व्यापार है, प्रथम स्तर है। सहज के अभाव मे तार्किक, नैतिक या आर्थिक कोई व्यापार नही ठहर सकता है। ज्ञानेन्द्रियो के माध्यम से जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह मूल रूप मे सहज ज्ञान होता है।

---

[1]Knowledge has two forms : it is either intuitive knowledge or logical knowledge; knowledge obtained through the imagination or obtained through the intellect; knowledge of the individual or knowledge of the universal; of individual things or of the relations between them : it is, in fact, productive either of images or of concepts. —Aesthetics, p. 1

—अनुवादक डी० एन्सली। संस्करण १९५३

[2]Aesthetics : Logical, Economic, Ethical.

फूल, लेखनी, पुस्तक, तुलसी आदि जो कुछ हम देखते है वे सभी सहज है। साथ ही, जिन वस्तुओ के बिम्ब हमारे मानस मे प्रकट होते है, वे भी सहज ज्ञान कहे जायेंगे। यथार्थ वस्तु का इन्द्रियमूलक ज्ञान जब स्पष्ट, एकतान और बिम्बमूलक होता है, तभी वह सहज ज्ञान की कोटि मे आता है। हमारे चित्त पर बहुतेरे प्रभाव पडते रहते है। लेकिन, वह प्रभाव जो किसी विशेष बिम्ब के रूप मे प्रकट होता है, निश्चय ही, सहज ज्ञान है। यदि हमारे चित्त पर किसी सस्कार या प्रभाव की छाप पडती है तो उसका बिम्ब रूप मे अभिव्यक्त होना अनिवार्य है। जो प्रभाव बिम्ब मे ढल जाने के कारण सहज ज्ञान हो जाता है उसमे मूर्तिमत्ता आ जाती है, वह ठोस रूप मे प्रकट होता है, उसमे वस्तुनिष्ठता आ जाती है। जल शब्द सुनने से हमारे मन मे दुनिया के सभी प्रकार के जल का बोध होता है, लेकिन, यदि 'यह जल' कहा जायगा तो किसी खास नदी या कुएँ या लोटे का जल समझा जायगा। केवल जल सामान्यबोधक है और यह जल विशेपबोधक। सामान्य के द्वारा किसी स्पष्ट, वास्तविक या खास चीज का बोध नही होता है। सामान्य प्रमा (कॉन्सेप्ट) का क्षेत्र है। विशेप—यह जल, यह फूल, यह आदमी—के द्वारा कोई खास बिम्ब सामने आता है। यह सहज ज्ञान का क्षेत्र है। कलामूलक ज्ञान सहज ज्ञान है। इसलिए, कला विशिप्ट वस्तु के बिम्ब-विधान द्वारा कल्पना के माध्यम से ज्ञान प्रदान करती है। विज्ञान या शास्त्र तर्क के आधार पर वस्तु का सामान्य ज्ञान देता है। कला कल्पना या बिम्ब के आधार पर वस्तु का विशेष ज्ञान, सहज ज्ञान, प्रदान करती है।

सहज ज्ञान (इन्ट्यूशन) और इन्द्रियानुभूति (सेन्सेशन) मे थोडा अतर है। ज्ञानेन्द्रियो के माध्यम से चित्त पर जो अस्पष्ट, धूमिल, अनमिल प्रभाव पडते है, वे सभी इन्द्रियानुभूति या सवेदन की कोटि मे आयेंगे। लेकिन, जब उन प्रभावो मे से कुछ प्रभाव बिम्बो के रूप मे प्रकट होते है तब वे धूमिल सवेदन न रह कर सहज ज्ञान बन जाते है। कहने का आशय यह है कि इन्द्रियानुभूति मे रूप या बिम्ब का अभाव-सा रहता है और सहजानुभूति मे बिम्ब-विधान होता है। इन्द्रियानुभूति या सवेदन एक तरह का कच्चा माल है। आत्मा अपनी क्रियाशीलता के द्वारा उसे रूप प्रदान करती है। आत्मिक व्यापार मे कच्चा सवेदन पक्का सहज ज्ञान हो जाता है। सवेदन को रूपायित करना सहज का काम है। रूपविहीन पदार्थ या सवेदन बेतरतीब रहता है, यात्रिक

होता है; उसमे स्थूलता, जडता या पाशविकता रहती है। लेकिन, वह विरूप, स्थूल सवेदन ज्योही आत्मा की प्रक्रिया मे आ जाता है, वह विशेष रूप और सक्रियता ग्रहण कर लेता है। इन्द्रियानुभूति अपने आप मे पाशविक है, रूप मे ढलने से ही वह आध्यात्मिक और मानवीय होती है। रूप (फार्म) पदार्थ (मैटर) की नग्नता को ढँकता है, आच्छादित करता है, उस पर विजय प्राप्त करता है। वस्तु की भिन्नता के कारण सहजानुभूतियो के बीच अतर स्थापित होता है। वस्तु परिवर्तनशील है, और रूप शाश्वत है। रूप मानव की आत्मा का धर्म है, व्यापार है। इस प्रकार, सवेदन का रूपायित होना सहज ज्ञान है।

क्रोचे ने अभिव्यजना को सहज ज्ञान का अविच्छेद्य धर्म माना है। पहले कहा जा चुका है कि प्रभाव या सवेदन का बिम्ब के रूप मे व्यक्त होना अभिव्यजना है। सवेदन या प्रभाव का रूपायित होना सहज ज्ञान है और इस प्रकार से रूपायित होना अभिव्यजना है। यानी, सहज ज्ञान अभिव्यजना है। चित्त पर पडे किसी सस्कार या प्रभाव की अभिव्यक्ति अवश्यभावी है। यदि प्रभाव पडा तो अभिव्यंजना होगी ही। जहाँ-जहाँ प्रभाव है, वहाँ-वहाँ अभिव्यजना है। जो प्रभाव सहज ज्ञान के आलोक मे पडेगा वह मूर्ति मे ढल कर प्रकाशित होगा। अभिव्यजना स्वयंप्रकाश ज्ञान का स्वभावसिद्ध धर्म है। हमारे मन के स्थूल स्तर पर दुनिया का ऊपरी रूप दिखाई पडता है। जगत् का यह स्थूल रूप प्राकृतिक तथ्य है, मन का वासनात्मक स्तर है। स्थूल इन्द्रिय सवेदन के प्रवाह से आत्मिक रूप की सत्ता भिन्न है। हमारी आत्मा मन के गोचर प्रवाह को विशेष रूप मे ढालती है। सवेदन का रूप मे ढलना, रूपायित होना, अभिव्यजना है। सहजानुभव करना अभिव्यक्त करना है। सहजानुभूति ही अभिव्यक्ति है।[१] सहज ज्ञान

---

[१]The intuition or representation is distinguished as form from what is felt and suffered, from the flux or wave of sensation, or from psychic matter; and this form, this taking possession, is expression. To intuite is to express, and nothing else (nothing more, but nothing less) than to express.

—वही पृ० ११

अभिव्यक्ति ज्ञान है। यह बौद्धिक व्यापार से स्वतंत्र और स्वत. पूर्ण है।[१] क्रोचे ने हर प्रकार की सहजानुभूति मे गुण, विकास, सौन्दर्य और लक्ष्य इन चार तत्वो का दर्शन किया है। प्रत्येक सहज ज्ञान मे उसका स्वाभाविक धर्म या गुण अवश्य निहित रहता है। वह गतिशील होता है, ज्ञान का उत्पादक होता है। वह वस्तु को प्रकाश मे ले आता है। सहज ज्ञान स्थिर नही रहता, उसमे आतरिक विकास बराबर जारी रहता है। सहजानुभूति सफल अभिव्यक्ति होने के कारण स्वत· सुन्दर होती है। सहजानुभूति सौन्दर्यानुभूति ही है। सहज ज्ञान निरुद्देश्य नही होता, इसका कोई लक्ष्य होता है। यह प्रभाव का बिम्ब-विधान करता है, आत्मा को आनद प्रदान करता है।

क्रोचे की दृष्टि मे कला पूर्णतया एक आतरिक व्यापार है। कलाकार के मानस मे जब कोई प्रभाव बिम्ब के रूप मे प्रकाशित होता है, बस उसी समय अभिव्यजना भी हो जाती है। यह व्यापार चित्त की जिस अतर्वृत्ति के कारण घटित होता है, उसे सहज कहेगे और इसके द्वारा जिस ज्ञान की उपलब्धि होती है, उसे सहज ज्ञान की सज्ञा देगे। सहज ज्ञान की निष्पत्ति मे बुद्धि और तर्क का कोई सहयोग नही रहता है। यह अनायास स्वत उद्भूत होता है, यह स्वयभू है। सहजानुभूति ही सच्ची अभिव्यजना है और यही कला का शुद्ध रूप है। कलाकार के मानस मे प्रभाव का बिम्ब-विधान हुआ कि अभिव्यजना हुई और कला भी वही फलवती हो गयी। ऐसी स्थिति मे, कला का यह आध्यात्मिक रूप केवल वह कलाकार ही देख सकता है, पाठक, श्रोता या दर्शक कदापि नहीं। कला कलावत के अन्तर्मानस मे अभिव्यक्त होती है और अपना सौन्दर्य उसके अत करण मे ही विकीर्ण कर तत्काल विलीन हो जाती है। किसी ने चाँद या फूल देखा, और कल्पना मे उसके प्रभाव का रूपाकन किया कि वह कलाकार हो गया। क्योकि उसके मानस मे सहजानुभूति के द्वारा फूल के प्रभाव की बिम्ब-मूलक अभिव्यक्ति हो चुकी है। इस प्रकार, क्रोचे के मतानुसार, प्रत्येक व्यक्ति जिसे सहजानुभूति होती है कलाकार है। कलाकार का यह परम अनुग्रह है कि वह अपनी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति को शब्द, रेखा, गति, नाद आदि के माध्यम

---

[१] ...intuitive knowledge is expressive knowledge; independent and autonomous in respect to intellectual function. —वही पृ० ११

से हम सबो के लिए उसे बाह्य रूप मे पुन अभिव्यक्त करता है। मनुष्य भ्रातिवश कला के बाह्य रूप को कला ही कह कर पुकारता है। कला का शुद्ध वास्तविक रूप केवल कलाकार के मानस मे अभिव्यजित होता है। कला के बाह्य रूप को, कलाकृति को—कविता, चित्र, मूर्ति, सगीत को—कला कहना एक औपचारिक प्रयोग है। बाह्य कलाकृति आतरिक शुद्ध कला की एक प्रतीक है। प्रतीक मूल वस्तु का प्रतिनिधि हो सकता है, मूल वस्तु कदापि नही। शब्द के माध्यम से लिखित मेघदूत असली कला नही है, वास्तविक मेघदूत तो कालिदास की कल्पना मे रूपायित हो चुका। लिखित मेघदूत कल्पना मे अकित मेघदूत की अनुकृति है। विन्चे, एन्जेलो, रैफेल, पिकासो आदि चित्रकारो के मूर्त चित्रो मे असली कला नही है, शुद्ध कला तो उनकी कल्पना मे ही अवतरित हुई। कला अभिव्यजना है, कलाकृति तो अभिव्यजना की अभिव्यजना कही जा सकती है।

तो क्या, क्रोचे की यह कला दुनिया से बिल्कुल निर्लिप्त ही रहती है? ऐसी बात नही। क्योकि कला मे अभिव्यजित होने वाली वस्तु, कच्चा माल, का सबध तो बाह्य जगत् से मानना ही पडेगा। कला में अभिव्यक्त होने वाले प्रभाव या सस्कार तो बाह्य जगत् से ही आते है। वास्तविक वस्तुओ की छाप द्रष्टा के चित्त पर पडती है। वस्तु जगत् से यदि कोई व्यक्ति अपना सबध बिल्कुल हटा ले तो उसके चित्त पर कोई सस्कार ही न पडेगा। ज्ञानेन्द्रियो के माध्यम से, जिनमे मन का भी एक स्थान है, वस्तु जगत् भाव जगत् की सम्पत्ति बनता रहता है। व्यक्ति के चित्त पर यदि बाह्य जगत् का कोई सवित् न पडे, तो कोई प्रभाव भी उत्पन्न नही होगा और प्रभाव के अभाव मे अभिव्यजना भी नही होगी। कलामूलक अभिव्यजना मे व्यक्ति के चित्त पर पडे प्रभाव पुन. प्रकट होते है, लेकिन, वे प्रभाव के रूप मे ढल जाने के कारण कुछ और नजर आते हैं। क्रोचे ने इस प्रक्रिया की उपमा फिल्टर मे रखे पानी से दी है। फिल्टर में साफ होने के पहले पानी गन्दा रहता है, लेकिन उसमे से हो कर निकलने पर वह विशुद्ध बन जाता है। पानी वही है, लेकिन रूप इसका कुछ और है। इसी प्रकार, अभिव्यजना की प्रणाली मे प्रभाव पुन. प्रकट होता है, लेकिन फिल्टर-पानी की तरह इसका रूप परिवर्तित हो जाता है।[1]

---

[1]The impressions reappear as it were in expression, like water put into a filter, which reappears the same and yet different on the other-side.

—वही पृ० १५

कला जगत् मे वस्तु और रूप दोनो की सत्ता है, लेकिन क्रोचे ने केवल रूप की महत्ता स्वीकार की है। रूप ही कलामूलक तथ्य है।[1] वस्तु जब तक रूपायित या अभिव्यजित नही हो जाती है, तब तक कलामूलक दृष्टि से उसका कोई महत्व नही। कोई उपन्यास, महाकाव्य या नाटक अपनी कथावस्तु के कारण महत्वपूर्ण नही होता। कलाकृति मे विचारणीय यह है कि कलाकार ने अपने चित्त पर अकित वस्तु के प्रभाव को किस रूप मे अभिव्यक्त किया है। कला वस्तु मे नही, अभिव्यजना में है। यदि कथावस्तु महान् या उदात्त है तो उसको ले कर लिखा गया काव्य भी उदात्त होगा, इसकी कोई गारटी नही। और यदि वस्तु तुच्छ या लघु है तो उस पर लिखी गयी कविता भी तुच्छ होगी, यह कोई बात नही। यदि मार्मिक अनुभूति नही है तो सीता पर भी घटिया कविता लिखी जायगी और कही ऊँची कल्पना आ जाय तो शूर्पणखा पर भी महाकाव्य लिखा जायगा। कलाकृति के लिए अनुभूति की सच्चाई, मार्मिकता और बिम्ब-विधान चाहिए। यदि यह है तो प्रत्येक लता उर्वशी बन जायगी, और नही तो तिलोत्तमा भी तिल का ढेर दिखाई देगी। कवि-कल्पना के लिए अलकापुरी और ताडीखाना दोनो का एक-सा स्थान है। गाँधी और मक्खी, नेपोलियन और चूहा दोनो पर समान रूप से महाकाव्य लिखा जा सकता है। कला की सफलता अभिव्यजना की सफलता है, वस्तु की महत्ता नही। कलाकृति से अलग वस्तु का कला की दृष्टि से कोई मूल्य नही है। वस्तु जब कला मे अभिव्यक्ति पाती है, तो वह कला हो जाती है, उसका स्वतत्र अस्तित्व रूप मे विलीन हो जाता है। कला मे इतिहास, उपदेश, नीतिशास्त्र और भूगोल की शिक्षा हम प्राप्त नही करते, वहाँ तो अभिव्यजना के सौन्दर्य का भावन किया जाता है। जानकारी के लिए नही, आनद के लिए हम कला की आराधना करते है। क्रोचे का उपर्युक्त मत अतिवाद हो गया है। पूरब और पश्चिम के कई विचारक अब कलागत वस्तु की भी महत्ता स्वीकार करने लगे है। कलाकृति किसी एक चीज की उपज नही है। उसमे भावना, कल्पना, विचार, दर्शन, नीति, उपदेश, सौन्दर्य, अलकार, छद, शैली, लय आदि सबो का एक समन्वित रूप मिलता है। कला कई तत्वो की रासायनिक प्रक्रिया का परिणाम है।

---

[1]The aesthetic fact, therefore, is form and nothing but form. —वही पृ० १६

कला एक प्राणवत आवयविक वस्तु है। उसमे वस्तु भी है और रूप भी। सच पूछिए तो ये दोनो वहाँ दोपन खो कर एकरस हो जाते है।

क्रोचे ने कलागत सुन्दरता को अभिव्यजना से भिन्न नही माना है। उनके मतानुसार सफल अभिव्यजना ही सुन्दरता है और असफल अभिव्यजना कुरूपता। अभिव्यजना सदा सफल होती है, क्योकि असफल अभिव्यजना अभिव्यजना नही कही जा सकती।[१] सुन्दरता अपने को सदा एकता या अन्विति के रूप मे अभिव्यक्त करती है और कुरूपता अपने को अनेक तत्वो के बेमेलपन मे प्रकट करती है।[२] कई तत्वो का सामंजस्य सुन्दरता है और उनका वैषम्य कुरूपता।[३]

वस्तु या मैटर आत्मा की स्थितिमूलक अवस्था है और रूप या व्यजना उसकी क्रियामूलक अवस्था। आत्मिक व्यापार चित्त पर पडे हुए अनेक प्रभावो को, रासायनिक प्रक्रिया मे ला कर, उन्हे एकीभूत कर देता है। कलाकृति मे इस ऐक्य या सामजस्य की अनुभूति सौन्दर्य की अनुभूति है। स्थूल या प्राकृतिक प्रभावो की ज्यो ही अभिव्यक्ति होती है, उनकी जडता या निष्क्रियता विलीन हो जाती है। रूपायित होने के कारण वस्तु का भार समाप्त हो जाता है। आत्मा प्रकाश का अनुभव करने लगती है। प्रकाश या आनद की अनुभूति सौन्दर्य की अनुभूति है। यह प्रकाश अभिव्यजना का व्यापार है, इसलिए सौन्दर्य मात्र अभिव्यजना है।

क्रोचे फूल, तितली या इन्द्रधनुष मे सुन्दरता की सत्ता नही स्वीकार

---

[१].. beauty as successful expression...the ugly is unsuccessful expression...expression when it is not successful is not expression. —वही पृ० ७६

[२]The beautiful presents itself as unity, the ugly as multiplicity. —वही पृ० ७६

[३]Expression is a synthesis of the various or multiple, in the one. —वही पृ० २०

Activity is a fusion of the impressions in a organic whole. —वही

करते। सुन्दरता किसी वस्तु मे नही रहती, वह वस्तु के प्रभाव की सफल अभिव्यजना मे रहती है। किसी वस्तु मे सुन्दरता द्रष्टा की विशेष मनोदशा के कारण प्रकट होती है। उदास मन चॉद मे रमणीयता नही पाता है और प्रफुल्ल मन पाता है। इससे यह प्रमाणित हुआ कि प्राकृतिक वस्तु द्रष्टा की चित्तदशा के अनुकूल कभी सुन्दर और कभी कुरूप होती रहती है। तो, प्राकृतिक वस्तु मे सुन्दरता नही, सुन्दरता है द्रष्टा की चित्तदशा में। द्रष्टा की कल्पना शक्ति के कारण प्रकृति सुन्दर प्रतीत होती है। कल्पनाविहीन व्यक्ति शकुतला मे भी लावण्य का, नवमधु का दर्शन नही कर सकता। सौन्दर्य के लिए दुष्यत-दृष्टि चाहिए। सासारिक लाभ-हानि मे उलझी हुई दृष्टि प्राकृतिक दृश्य का अवलोकन नही कर सकती। दुनियावी झझटो से बिल्कुल ऊपर उठकर केवल कल्पना लोक मे सौन्दर्य का आस्वादन किया जाता है। रोजमर्रे की नजर से प्रकृति बासी मालूम पडती है। केवल कलाकार के नयन मे प्रकृति सुन्दर दीखती है। कल्पना की सहायता के बिना प्रकृति का कोई अग सुन्दर प्रतीत नही होता।[१] इसलिए, सुन्दरता द्रष्टा की कल्पना मे है, उसकी क्रियाशीलता मे है, उसकी आध्यात्मिक शक्ति मे है।[२]

इस सम्बन्ध मे इनकी दूसरी मान्यता यह है कि सौन्दर्य मे श्रेणियाँ नही होती, श्रेणियाँ कुरूपता मे पाई जाती है।[३] जो कलाकृति सुन्दर है, उसे

---

[१].. nature is beautiful only for him who contemplates her with the eye of an artist.. that without the aid of imagination no part of nature is beautiful. —वही पृ० ९९

[२] the beautiful is not a physical fact, it does not belong to things, but to the activity of man, to spiritual energy —वही पृ० ९७

[३]The beautiful does not possess degrees for there is no conceiving a more beautiful, that is, an expression that is more expressive, an adequate that is more than adequate. Ugliness, on the

हम सुन्दर ही कहेगे। वह कुछ अधिक सुन्दर हो सकती थी—ऐसा सोचना युक्तियुक्त नही। जो बात सत्य है, वह सत्य है। वह अधिक सत्य हो सकती है—ऐसा कहना गलत होगा। इसी प्रकार जो सुन्दर है, वह सुन्दर है, सुन्दरतर वह नही हो सकता। सुन्दरता की अनुभूति अखडता, पूर्णता और ऐक्य की अनुभूति है। इसलिए सौन्दर्यबोध मे बढिया, घटिया का सवाल नही उठाया जा सकता। सौन्दर्य मे श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम का विचार नही किया जा सकता। श्रेणियो का बोध कुरूपता मे आसानी से हो सकता है। मामूली, ज्यादा और बेहद बदसूरती की बाते चलाई जाती है। सदोष वस्तु मे एक नही अनेक दोष दिखाये जा सकते है। कलाकृति मे कुरूपता का बोध तभी होता है, जब उसके विभिन्न तत्वो के बीच वैषम्य बना रहता है, सामजस्य नही हो पाता। लेकिन, सौन्दर्यानुभूति मे सुन्दर वस्तु के साथ तादात्म्य हो जाता है, चित्तवृत्ति मे एकतानता, एकाग्रता आ जाती है, इसलिए, यहाँ खड और अश की अनुभूति नही होती। पूर्ण की अनुभूति मे मात्रा या श्रेणी का बोध स्वय समाप्त हो जाता है। कुरूपता की अनुभूति मे चित्त एकाग्र नही रहता, इसलिए ध्यान की अस्थिरता के कारण उसके कई स्तर, कई भगिमाएँ दिखाई पडती है। कुरूप या असफल कृति के कुछ दोषो को घटाया जा सकता है और उसे कुछ कम कुरूप दिखाया जा सकता है। सुन्दर या सफल कृति तो एक साथ ही द्रष्टा या श्रोता को सद्य. आनदविभोर बना देती है। इसलिए इसमे श्रेणी या मात्रा के बोध का अवकाश नही रहता।

कलागत सौन्दर्य के लिए यह आवश्यक है कि उसमे कुछ कुरूपता भी वर्तमान रहे। कलाकृति मे सुन्दर और कुरूप दोनो प्रकार के तत्वो के बीच सघर्ष चलता रहता है। सुन्दर कुरूप पर विजय प्राप्त करता है, यानी, वैषम्य का विनाश और साम्य का सर्जन होता है। कुरूप तत्व अत मे अपने को सुन्दर मे विलीन कर लेता है। उसकी अवस्थिति सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए अनिवार्य है। जिस प्रकार अधकार पर विजय प्राप्त करने से प्रकाश की गरिमा निखरती है, उसी प्रकार कुरूप पर विजय प्राप्त कर सुन्दर अपनी श्रीवृद्धि

---

other hand, does possess degrees, from the rather ugly (or almost beautiful) to the extremely ugly. —वही पृ० ७६

करता है। लेकिन, जहाँ कुरूप अंत तक संघर्षरत रहता है, वह सुन्दर के चरणों में नतशिर नहीं होता है, वहाँ मिश्रता या भिन्नता का बोध बना ही रहता है। पूरी अन्विति के बिना अभिव्यक्ति सफल नहीं होगी और सुन्दरता का आस्वादन भी नहीं होगा। इसलिए, सुन्दर का असफल संघर्ष ही कुरूप है। सफल कलाकृति में सुन्दरता की भवानी कुरूपता के महिषासुर पर विजय प्राप्त कर सौम्य स्मिति की किरणें बिखेरती है।

क्रोचे ने कुरूपता की एक ऐसी स्थिति की भी कल्पना की है, जहाँ वह अपने आप में पूर्ण है। यानी, कुरूप जब शतप्रतिशत कुरूप ही रहे, उसमें सुन्दर का एक अणु भी वर्तमान न रहे, तब उस स्थिति को हम क्या कहेंगे ? इन्हीं का उत्तर है कि तब वह कुरूप नहीं रह सकता है। परस्पर विरोधी धर्म, सुन्दर और कुरूप के संघर्ष में कुरूप की सत्ता का बोध होता है। यदि संघर्ष नहीं है, यानी, कुरूप स्वयं पूर्ण है, तो, वहाँ कुरूपता की अनुभूति नहीं होगी। कुरूपता का अवगुण निर्गुण हो जायगा, अपमूल्य अमूल्य हो जायगा। इस स्थिति में जड और चेतन का, निष्क्रिय और सक्रिय का द्वन्द्व समाप्त हो जायगा, सक्रिय का अंतर्धान होगा और निष्क्रिय उसके आसन पर विराजमान होगा। पूर्ण कुरूपता पूर्ण अंधकार है, जडता का पूर्ण साम्राज्य है। यदि वह पूर्ण है, तो फिर कुरूप नहीं है, क्योंकि वहाँ वैषम्य नहीं है। क्रोचे की पूर्ण कुरूपता का दर्शन किसी कलाकृति में किया जा सकता है या नहीं, मैं नहीं कह सकता। इस विषय पर कुछ और विचार 'कुरूपता कहाँ रहे' उपशीर्षक के अंतर्गत आगे किया जायगा।

कला का सौन्दर्य जब सफल अभिव्यंजना में निहित है, तो भयानक, भयंकर, वीभत्स और विद्रूप भी सफलतापूर्वक अभिव्यक्त हो कर सुन्दर हो सकता है। हमारे यहाँ रौद्र, वीभत्स, करुण आदि रस सुन्दर ही माने गए हैं क्योंकि उनके द्वारा आनंदानुभूति होती है। बूढ़े की झुर्रियाँ चित्रकला में सुन्दर हो जाती है, क्योंकि वहाँ उनकी अभिव्यंजना सफलता के साथ हो जाती है। किसी कलाकृति में पूर्ण कुरूपता का दर्शन कठिन है। महाकाव्य का कोई भी पात्र, मंथरा हो या लेडी मैकबेथ, पूर्णतया सदोष नहीं कहा जा सकता। लगता है, कि, कला में पूर्ण कुरूपता की भावना क्रोचे का कोई कल्पित आदर्श ही है। क्योंकि, इन्हीं के मतानुसार प्राकृतिक वस्तु न सुन्दर है, न कुरूप ही। तो, सुन्दरता या कुरूपता सहृदय की विशेष चित्त दशा की

अनुभूति ही कही जा सकती है। इसलिए, पूर्ण कुरूपता का बोध, यदि वह है, तो, विशेष चित्तदशा मे ही सभव है। लेकिन, यह हम जानते है कि कोई भी सस्कार तभी तक कुरूप है जब तक वह सहजानुभूति मे रूपायित नही हुआ है। कुरूप प्रभाव भी अभिव्यजना मे आ कर सुन्दर हो उठता है, क्योकि अभिव्यजना एक आध्यात्मिक व्यापार है, और दैनिक लाभ-हानि के जगत् से वह निर्लिप्त है। कलासृजन की प्रक्रिया मे कुरूपता केवल सुन्दरता के उत्कर्ष के लिए आती है। कलासृजन की प्रक्रिया मे क्रोचे ने निम्नलिखित चार चरणो का उल्लेख किया है —

(१) आतरिक सस्कार या प्रभाव। रूपहीन सवेदन।
(२) अभिव्यजना या आध्यात्मिक कलामूलक अन्विति।
(३) सौन्दर्य की आनदानुभूति।
(४) कलाकार की मूल अभिव्यक्ति का पुन मूर्त्त आधार द्वारा अभिव्यजन।

अर्थात्, मूल अभिव्यक्ति का प्राकृतिक तत्वो मे अनुवाद।

वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद

वक्रोक्ति, वक्रउक्ति, का शाब्दिक अर्थ हुआ विलक्षण कथन। सीधे ढग से कही जाने वाली बात को जरा तिरछा या घुमा कर कहा जाय, तो उसमे वक्रता आ जाती है। शकुन्तला से विवाह कौन करेगा, ऐसा न कह कर, 'इस रूप को भोगने के लिए न जाने ब्रह्मा ने किसे चुन रखा है ?' दुष्यत के इस कथन मे वक्रता आ गई है—'न जाने भोक्तारकमिह समुपस्थास्यति विधिः'।[1] इसी प्रकार अनसूया दुष्यत से यह न पूछ कर कि आप किस देश के हैं, आपका घर कहाँ है, इस प्रकार कहती है—'आर्य ने किस राजवश को सुशोभित किया है ? किस देश की प्रजा को अपने विरह से व्याकुल कर के आप यहाँ पधारे है ?

'कदमो अज्जेण राएसिणो वंसो अलंकरी अदि,
कदमो वा विरहपज्जुस्सुअजणो किदो देसो।'[2]

[1]अभिज्ञान शाकुन्तलम् २।१०

[2]कतम आर्येण राजर्षेर्वंशोऽलंक्रियते कतमो वा विरह पर्युत्सुक जनः कृतो देशः वही; अंक १

इस प्रकार, साधारण उक्ति मे विलक्षणता आने से वक्रता आ जाती है। लेकिन, वक्रोक्ति मे ही काव्य हो और साधारण उक्ति मे नही, यह मान्यता निताँत भ्रामक है। सरल, साधारण उक्तियो मे भी काव्यगुण रहता है, और भरपूर रहता है। कालिदास की अनेको सरल उक्तियो मे व्यजना कूट-कूट कर भरी हुई है। सरल रेखाएँ सौन्दर्य को उसी प्रकार व्यक्त कर सकती हैं, जिस प्रकार वक्र और ऊर्मिल रेखाएँ। नीचे के सरल श्लोक में ग्रीष्म ऋतु का सुख-सौन्दर्य छलक रहा है—

सुभग सलिलावगाहाः पाटल संसर्गिसुरभिवनवाताः।
प्रच्छाय सुलभ निद्रा दिवसाः परिणाम रमणीयाः॥[1]

परन्तु, वक्रोक्ति सम्प्रदाय के अनुयायी उपर्युक्त श्लोक को वक्रता की परिधि मे रख देगे। वे इसमे प्रकरण वक्रता, प्रबध वक्रता या और किसी वक्रता को उपस्थित पायेंगे। कुतक की वक्रोक्ति की भुजाएँ इतनी प्रलब है कि उनमे सरलोक्ति भी समा जाती है। आचार्य शुक्ल ने वक्रोक्ति को उक्ति-जनित चमत्कार मान कर उसे कुछ हेय दृष्टि से देखा है। इसी प्रकार, उन्होने अभिव्यजनावाद को उक्ति वैचित्र्य के अतर्गत देख कर उसे वक्रोक्ति का विलायती उत्थान कह दिया है। सुधाशु जी ने वक्रोक्ति और अभिव्यजना का अतर स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"वक्रोक्तिवाद की प्रकृति अलकार की ओर विशेष तत्पर दिखलाई देती है। लेकिन अभिव्यजनावाद का बाह्य रूप से, कला से, अलकार के साथ कोई सबध नही है। अलकार अनुगामी हो कर अभिव्यजना के पीछे चल सकता है, वक्रोक्तिवाद की भाँति सहगामी हो कर नही। अभिव्यजनावाद मे वक्रतापूर्ण उक्तियो का तो मान है ही, साथ ही स्वभावोक्तियो के लिए भी उसमे यथेष्ट स्थान है। जिस उक्ति से किसी दृश्य का मनोरम बिम्ब ग्रहण हो वह वक्रताहीन रहने पर भी अभिव्यजना की चीज है।"

सच तो यह है कि क्रोचे ने, एक तो, शब्द, रेखा या गति मे व्यक्त बाह्य कला को शुद्ध कला नही माना है, दूसरे, बुद्धि के प्रयास से उत्पन्न उक्ति वैचित्र्य को उन्होंने कला की सज्ञा नही दी है। अभिव्यजना उनकी दृष्टि में

---

[1]वही, ११३

आत्मा का आतरिक व्यापार है, सहजानुभूति मे आ कर प्रभाव का बिम्बविधान एक अकाट्य घटना है। वे ऊपर से लादे हुए अलकार को कलाकार का एक अपराध मानते है। ऐसी स्थिति मे दोनो मे साम्य देखना युक्तिसगत प्रतीत नही होता। वक्रोक्ति मे वस्तु और उक्ति मे भिन्नता देखी गई है, लेकिन अभिव्यजनावाद मे रूप और वस्तु की अभिन्नता प्रतिपादित की गई है। वक्रोक्तिवाद में कला के लिए बाह्य या मूर्त्त आधार अनिवार्य है, लेकिन अभिव्यजना शुद्ध मानसिक व्यापार भी रह सकती है, उसका मूर्त्त होना आवश्यक नही है, बल्कि अनावश्यक है। डा० नगेन्द्र ने 'रीतिकाव्य की भूमिका' मे इसका साम्य और वैषम्य इस प्रकार दर्शाया है —

साम्य :

(१) क्रोचे और कुतक दोनो ही कला या कविता को आत्मा की क्रिया मानते है, जो अनिर्वचनीय है।

(२) दोनो ही वस्तु की अपेक्षा अभिव्यजना को अधिक महत्व देते है, अर्थात्, उक्ति मे काव्यत्व (सौन्दर्य) मानते है वस्तु या भाव मे नही।

(३) दोनों ही सौन्दर्य मे श्रेणियाँ नही मानते क्योकि सफल अभिव्यजना ही सौन्दर्य है और सफल अभिव्यजना केवल एक हो सकती है।

कुतक—न च रीतीनाम् उत्तमाधम माध्यम भेदेन वैविद्ध्यम् व्यवस्थापयितुम् न्याय्यम्।

वैषम्य :

(१) वक्रोक्तिवाद का सबध उक्तिवक्रता से है, अभिव्यजनावाद का केवल उक्ति से। वक्रोक्तिवाद एक साहित्यिकवाद है। अभिव्यजनावाद अभिव्यजना की फिलासफी है। वक्रोक्ति जहाँ एक प्रकार का कवि कौशल है वही अभिव्यंजनावाद एक आध्यात्मिक आवश्यकता है।

"..अभिव्यजनावाद मे एक ही उक्ति के लिए स्थान है, न उसमें प्रस्तुत अप्रस्तुत का भेद है न स्वभावोक्ति वक्रोक्ति का।"

(२) वक्रोक्तिवाद अलकार को ले कर चला है, अभिव्यजनावाद मे उसकी सत्ता ही अमान्य है, वहाँ यदि वह आ भी जाता है तो अलंकार रूप मे नही सहज उक्ति के रूप मे ही आता है।

(३) वक्रोक्तिवाद मे वस्तु की उक्ति (कवि कौशल) से पृथक् सत्ता मानी गई है। कुतक ने वस्तु के सहज और आहार्य दो भेद किये है, प्रकरण-वक्रता अथवा प्रबन्धवक्रता का सम्पूर्ण विवेचन ही वस्तु और कवि कौशल के पार्थक्य पर आश्रित है, परन्तु अभिव्यजनावाद वस्तु को उक्ति से अभिन्न मानता है।

(४) वक्रोक्तिवाद मे कला की समस्या को वाहर से छेडा गया है, अभिव्यजनावाद मे भीतर से। इसीलिए वक्रोक्तिवाद जहाँ काव्य अर्थात् कला के मूर्त्त रूपो पर ही केन्द्रित है, वहाँ अभिव्यजनावाद उनके प्रति उदासीन हो कर केवल सूक्ष्म आध्यात्मिक क्रिया को ही सब कुछ मानता है।

(५) अभिव्यजनावाद सहजानुभूति अर्थात् भाव-झकृतियो की अन्विति पर आश्रित है, अतएव रस (भाव) से उसका सबध अतरग और तात्विक है, परन्तु वक्रोक्तिवाद कवि कौशल पर आश्रित है इसलिए उसका रस से सबध वहिरग एव औपाधिक हे। अभिव्यजनावाद का तत्व रूप मे रसवाद से कोई विरोध हो ही नही सकता।

इस सबध मे शुक्ल जी पर अपना विचार प्रकट करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने कहा है कि शुक्ल जी काव्य को वस्तु-दृष्टि से परखते हुए उसमे वस्तु और अभिव्यजना का निश्चित पार्थक्य मानते है, क्रोचे दोनो मे निश्चित भेद असम्भव मानते है। पर क्रोचे-शुक्ल के इस विवाद मे आज का साहित्यिक शायद क्रोचे को ही अपना वोट देगा।[1]

आज का साहित्यिक आचार्य शुक्ल की तरह, अपनी सीमाओ के कारण, साहित्य का गहरे पैठ कर अवगाहन और डूब कर आस्वादन शायद नही कर पाता हे। इसलिए, वह चटपट किसी निष्कर्ष पर पहुँच कर मन ही मन अपने पाडित्य पर रीझने लगता है। शुक्ल जी के आचार्यत्व का निर्णय मतदान-पेटिका नही कर सकती। रसवादी शुक्ल जी रसास्वादन के समय वस्तु का भिन्न अस्तित्व कभी कबूल नही कर सकते। हॉ, काव्य विवेचन के समय इसकी महत्ता वे अवश्य मानते है। क्रोचे ने अभिव्यजना मे, फिल्टर के पानी की तरह, प्रभाव के रूपान्तरण को स्वीकार किया है। यदि एक कीड़े

[1] रीति काव्य की भूमिका, पृ० १२३

और राम की कथा मे कोई अन्तर नही माना जायगा, तो वाल्मीकि की कीटायण और वाल्मीकि की रामायण मे कोई भेद नही रह जायगा। कला न केवल रूप है, न केवल वस्तु और न केवल अभिव्यजना ही। वह तो इन तीनो की एकमिश्रित झकार है। कवि अपनी कल्पना शक्ति या सहृदयता के कारण किसी वस्तु के सौन्दर्य को अकित करता है, यह सही है, लेकिन, वस्तु का धर्म और स्वरूप कवि कल्पना को उद्दीपित नही करता—यह कहना गलत है। सौन्दर्य की उत्पत्ति वस्तु और भाव के अतर्मिलन से होती है। कलाकार के मानस मे वस्तु भाव मे रूपान्तरित हो जाती है। कला में वस्तु की सत्ता न मानने वाले क्रोचे की दृष्टि मे प्रत्येक सहजानुभूति से सम्पन्न व्यक्ति कवि-पद का अधिकारी है। कोई तुच्छ नही, प्रत्येक व्यक्ति, भले ही उसने एक पक्ति नही लिखी हो, महाकवि है। इस प्रकार आलोचना सबधी सभी ग्रथ व्यर्थ सिद्ध होते है। पारमार्थिक दृष्टि से साँप और सुकरात दोनो ब्रह्म है, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से दोनो मे भेद है। इसी प्रकार रसानुभूति मे राम और रावण का भेद नही रहता, लेकिन दोनो के शील की समीक्षा करते समय अतर मानना ही पडता है। उदात्त वस्तु कवि की अनुभूति और अभिव्यक्ति मे उदात्तता प्रदान करती है। इसलिए शुक्ल जी ने, मेरा विचार है, आस्वादन की दृष्टि से नही आलोचन की दृष्टि से, क्योकि इसमे बुद्धितत्व क्रियाशील रहता है, वस्तु की महत्ता स्वीकार की है। यदि आज का नही तो कल का साहित्यिक, मेरा विश्वास है, शुक्ल जी की मान्यता से अवश्य सहमत होगा।

कुरूपता कहाँ रहे ?

अँधियाली और मौत कहाँ रहती है ? जहाँ रोशनी और जिन्दगी।
जीत और खुशी कहाँ रहती है ? जहाँ हार और गम।
तो कुरूपता कहाँ रहे ? जहाँ सुन्दरता रहे !

कोई कहता है, चीज एक है, मात्रा की कमी-बेशी के कारण रूप दो हो गए हैं। ठढा और गरम तापमान की कमी-बेशी के कारण है! तो क्या, कुरूप और सुन्दर भी रस की घटती-बढती के कारण है? कोई कहता है, जन्म और मरण, आनद और विषाद, रात और दिन की तरह, आग और पानी की तरह परस्पर विरोधी है, विपरीतधर्मा हैं। तो, जहाँ सुन्दरता रहे, वहाँ कुरूपता कैसे रहे ? कोई कहता है, प्रत्येक वस्तु अपने वाद और प्रतिवाद के

साथ जन्म लेती है। बीज के अकुर मे हरापन और सूखापन, सृजन और विनाश, दोनो साथ मौजूद रहते है। वस्तु मे कुरूपता और सुन्दरता, वाद और प्रतिवाद की तरह, एक साथ वर्तमान रहती है। हमारी शारीरिक प्रक्रिया (मेटाबॉलिज्म) के साथ पोषरण और क्षरण की प्रक्रिया (एनाबॉलिज्म और केटाबॉलिज्म) हमेशा मौजूद रहती है।

कलागत कुरूपता के पहले, लोक मे हम किसे कुरूप कहते है, थोडा इस पर विचार किया जाय। ससार मे, हब्शी लोगो को छोड कर, प्राय गोरा रग सुन्दर और काला कुरूप माना जाता है। गोरे की तो बात ही क्या, काला आदमी भी गोरी पत्नी चाहता है। गौरवर्ण प्रकाश के निकट है, और श्याम अधकार के। अधकार मे भय है, और प्रकाश मे आनद। सभवत. इसीलिए काला उदासीनता और शोक का प्रतीक बन गया है और उज्ज्वल आनद और शाति का। अधकार मे विचरने वाले, पाप कर्म करने वाले राक्षसो का रग काला माना गया है। वाल्मीकि ने रावण को काले उडद का पहाड-सा चित्रित किया है। दिल का काला, मन का काला बहुत बुरा होता है। ग्रहो मे शनि का रग भी काला ही है। काला भय, अधकार और शोक का प्रतीक होने के कारण सदा तिरस्कृत रहा है। इसलिए लौकिक दृष्टि से काला कलूटा आदमी कुरूप समझा जाता है।[1]

काने, लँगडे, कुबडे और भारी भरकम काया वाले लोग समाज मे कुरूप समझे जाते है। पतला, छरहरा बदन सुन्दर होता है; मोटा और थुलथुल बदन हास्य का आलबन होता है। स्पष्ट है कि अग की विकृति मे कुरूपता का निवास है। शरीर मे किसी अग की कमी या बेशी, दोनो विकृति के अदर है। काना, लूला, लँगडा आदि अगो की कमी के कारण कुरूप समझे जाते है। यात्रा

---

[1]सूर की एक गोपी कृष्ण को काला होने के कारण, प्रेम से ही सही, कृतघ्न कहती है—'सखि री, कारो कृतहिन मानै।' भगवान् के अनेक अवतार हुए। इनमें दो, जो सबसे अधिक पूजित है, काले हैं। जिस जाति के भगवान् ने काले रंग को पसंद किया है, उस जाति के लोगों को काले की पूजा करनी चाहिए। गोरी जाति का क्या ठिकाना!

के समय राह मे काना मिल जाय तो अपशकुन समझा जाता है।[1] शरीर मे किसी अग का फालतू होना, या अधिक मासल होना कुरूपता के अन्तर्गत है। माइकेल एन्जेलो ने कहा है कि सुन्दरता हर फालतूपन के लिए अग्निकुड है। फालतू की कही कदर नही। चित्र मे फालतू रेखाएँ, कहानी मे फालतू शब्द, कधे पर फालतू मास, ये सब कुरूप है। क्योकि, ये बिना काम के कही पडे रहते है। लेसिंग का कहना है कि शारीरिक कुरूपता मात्र अस्तित्व के मिथ्या सिद्धान्त (a false principle of mere existence)—पर आधारित है। यानी, किसी चीज की सत्ता जब किसी काम के लिए नही, बल्कि 'है' के लिए है, तब वह व्यर्थ, कुरूप कही जाती है। कूबड का मास या कठ का घेघा, यो ही, मात्र अस्तित्व के लिए पडा हुआ है। लकवा से मारा हुआ अग केवल 'है', शरीर के साथ जीता नही है। कभी-कभी कनपटी मे गुठली सी निकल आती है, आँख मे मासवृद्धि हो जाती है, तो वह वृद्धि मात्र अस्वित्व के मिथ्या सिद्धान्त पर टिकी रहने के कारण कुरूप है। मथरा के कधे पर मास का पिड रख कर विधि ने उसे कुरूप बना कर परवश कर दिया था। किसी के हाथ की छठी अगुली, भाग्यवान् का लक्षण होते हुए भी, कुरूप समझी जाती है।

जिस वस्तु की उपयोगिता समाप्त हो जाती है, वह लोक मे कुरूप समझी जाती है। रमणी की उपयोगिता जननी बनने मे है। यदि वह वध्या है तो, खास कर सास की नजर मे, कुरूप है। बिहारी की 'बैद-वधू' के पति महोदय अनुपयोगी होने कारण कुरूप समझे जायँगे। कोई भी चीज यदि वह काम के लायक नहीं रही तो कुरूप हो जाती है। टूटी खाट, फूटा लोटा, उल्टी गाडी और लठ बेटा ये सब कुरूप है। अनुपयोगिता कुरूपता के निकट चली आती है। व्यावसायिक जगत् की सुन्दरता मितव्ययिता और उपयोगिता इन दो सखियो के साथ सदा चलती है।

अपने शरीर पर हँसने वाले लोगों से अष्टावक्र ने कहा था कि मैं चमारों की सभा में आ गया हूँ क्या ? 'मोहि का हँससि कि कोहरही' ऐसा जायसी ने कहा था। अष्टावक्र और जायसी पर भीड़ के लोग हमेशा से हँसते आये है। तो

---

[1]मेरे गाँव के एक कचहरी प्रेमी महानुभाव राह में काने को देखते ही गुस्से से अँधे हो जाते हैं। फिर भरतीघट वाली पनिहारिन को देख कर यात्रा करते हैं!

क्या, वेडौल बेटे पर उसकी माँ भी हँसती है ? नही, क्योकि मातृ-दृष्टि मे सम्पूर्ण सृष्टि सुन्दर है । वह क्वचिदपि कुमाता नही होती है । माँ बेटे की ऑखो मे अपनी छवि ऑकती है, अपने आप को झाँकती है । अपना बना लेने पर कुरूपता दह जाती है, बह जाती है । प्रेम की दीठ दूधिया होती है । वह सबो को क्षीर सागर मे शयन कराती है । प्रेम शेष को अशेष सुन्दर बना देता है । सुन्दर भावना वस्तु को सुन्दर बना देती है । जो वस्तु हमारे मन कल्पित भाव के अनुकूल है, वह सुन्दर है, जो नही, सो कुरूप । तो सुन्दरता क्या व्यक्ति के भाव मे है, वस्तु के रूप मे नही ? मथरा के प्रस्ताव का जब कैकेयी के मन ने अनुमोदन किया तो वह कुब्जा उसकी दृष्टि मे सुन्दरी हो गयी । वह कहती है, हे कुब्जे, हवा के झोके से झुक कर टेढा हुआ पुरइन का पात जिस प्रकार निंदनीय नही, उसी प्रकार तेरा कूबड भी हास्यास्पद नही । तेरी छाती कधे तक मास से भरी पूरी और ऊँची है । वह नीचे की ओर बहुत पतली है, मानो, छाती की ऊँचाई देख कर वह लाज से नीचे धँस गई है । हे मथरे, तेरी भरी हुई जाघे और सुपीन पयोधर कितने सुन्दर है ! विमल चद्रमा की तरह तुम्हारा मुख कितना मनोहर है, 'विमलेन्दु सम बक्त्रमहो राजसि मन्थरे !' अपना कार्य सिद्ध होने पर, वाल्मीकि की कैकेयी कहती हैं, मै तुम्हारे कूबड को सुवर्ण पत्र से ढक दूँगी, उस पर चदन लगाऊँगी । तात्पर्य यह कि मथरा मे अपने सुख की भावी झाँकी देख कर कैकेयी उसे सुन्दर समझने लगी ।

जर्मन विद्वान्, श्लिगेल ने सुन्दरता को शिव का, और कुरूपता को अशिव का, व्यक्त रूप कहा है । इन्होने कुरूप को सुन्दर के क्षेत्र से बिल्कुल बाहर रखा है । क्योंकि कुरूप ज्यों ही सुन्दर के क्षेत्र मे घुसेगा वह उसे भी कुरूप बना देगा । सोल्जर ने काव्यकला में कुरूप की सत्ता का समर्थन किया है, लेकिन चित्र, मूर्त्ति आदि कलाओ मे उसकी उपस्थिति नही मानी है । कुरूप काव्य मे परिहास या भयकर (कॉमिक या टेरिब्ल) का साधन बन कर आता है । कवि कुरूप की सहायता से हास्य या भय का निरूपण आसानी से कर सकता है । सोल्जर के मतानुसार सुन्दर का जन्म आत्म और प्रकृति (Idea and Phenomena) के सम्यक् मिलन से होता है । न केवल आत्म सुन्दर है, न केवल प्रकृति सुन्दर है । सुन्दर आत्म और प्रकृति का समागम है । पुरुष और प्रकृति का गाढ आलिंगन ही सौन्दर्य है । जब कोई वस्तु या घटना आत्म के क्षेत्र से बहिष्कृत हो कर अपनी स्वतत्र सत्ता कायम

करती है, तब वह हास्यास्पद, यानी कुरूप हो जाती है। विचार का अभाव कुरूपता है। नगण्य वस्तु मे विशेषता ढूँढने पर कुरूपता हाथ आती है।

बहुत पहले प्लुटार्क ने यह प्रश्न उठाया था कि कला मे कुरूप का चित्रण कुरूप होगा या सुन्दर ? उनके मतानुसार कला मे चित्रित कुरूप कुरूप ही बना रहता है। कलाकार की प्रतिभा सच्चाई और सफलता के साथ कुरुप का अनुकरण कर लेती है। सफल अनुकरण के कारण कला की कुरूपता आनद-विधायिनी हो जाती है। हम कुरूपता पर नही, अनुकरण की सफलता पर रीझते है। प्लाटिनस का कथन है कि सुन्दरता सामग्री या उपकरण मे नही, वह रूप मे, फॉर्म मे, है। जो रूप तर्कसगत, विवेकयुक्त और सत्य है, वही सुन्दर है। कुतर्क और मिथ्या से मिला जुला रूप अशुद्ध और असुन्दर है। प्लाटिनस सुन्दर का आधार विचार या सत्य मानते है।

हार्टमैन का मत है कि कुरूपता प्रकृति के क्षेत्र मे, यथार्थ जीवन की परिधि मे है। कला का लोक सर्वत्र सर्वदा सुन्दर है। यथार्थ जीवन मे चपटी नाक, धँसे गाल, ऐंचा ताना आदि को हम भले ही कुरूप या बुरा कहे, लेकिन कला के क्षेत्र मे अच्छा-खराब सब सुन्दर हो जाते है। डेस्डिमोना का गला घोटना, कब्र खोदते हुए गीत गाना, क्लियोपेट्रा की मृत्यु, ओडीपस का अपनी आँखो मे सूई चुभोना, आदि सभी प्रसग कला की दृष्टि मे सुन्दर है। राजा अज का विलाप, कामदेव का दहन, मथरा की कुटिलता, शकुतला का परि-त्याग—ये सभी सुन्दर है। कोमा और मल्लिका का वैधव्य, मालविका और कल्याणी की मृत्यु, क्लीव रामगुप्त और वीर चन्द्रगुप्त ये सभी सुन्दर है। भयंकर डाकू भी कलाकार की तूलिका के सम्पर्श से सुन्दर हो जाता है। इटली के प्रसिद्ध कथाकार बोकैचियो का एक पात्र है सेर सियापेलोतो। वह मृत्यु-शय्या पर भी अपने शागिर्दों को पाकिटमारी और जुआचोरी का निर्भीक उपदेश कर रहा है। इस पर उसके साथी कहते है, धन्य हो उस्ताद, जीवन की अतिम साँस तक तुम अपनी कला के प्रति ईमानदार रहे। न तुम्हें खुदा की फिकर, न शैतान का डर। यथार्थ जीवन मे, कानून की निगाह मे, यह पाकिटमारो का उस्ताद भले ही पापी हो, लेकिन कला मे कितना सुन्दर दीखता है। कलाकार की प्रतिभा उस पारस की तरह है, जो पूजाघर और वधिकघर के लोहे को एक स्पर्श मे कचन करत खरो। तो, जीवन की कुरूपता कला में नहीं टिक पाती है। यदि कला के क्षेत्र मे कुरूपता है, तो वह असफल अभि-

व्यंजना मे है, स्थूल कामोत्तेजना और अश्लीलता मे है। वह ठेठ वर्णनात्मकता और प्रभावहीनता मे है। कला की दृष्टि मे कुरूपता वस्तु मे नही, अनगढ व्यजना मे है। यथार्थ जीवन के क्षेत्र मे कुरूपता निवास करती है, अनुपयोगिता मे, व्यर्थता मे, अगविकृति मे, और अशिव भावना मे। जीवन के एक अर्द्धवृत्त मे धर्म, आनद और सौन्दर्य है, उसके दूसरे अर्द्धवृत्त मे पाप, दुख और कुरूप है। जीवन वृत्त की पूर्णता के लिए दोनो वृत्तो का समागम आवश्यक है। पाप की स्थिति धर्म को भास्वर बनाने के लिए है। कुरूप सुन्दर से पराजित होने के लिए है। कुरूप की आसुरी प्रवृत्ति पर सुन्दर की दैवी प्रवृत्ति विजय पाती है। कला की साधना 'त्रिपुर-सुन्दरी' की उपासना है।

उपयोगिता का आग्रह

साधारणत मनुष्य उस चीज को सुन्दर कहता है जिससे उसका काम बने। बेकाम को कोई पंसद नही करता। रूप धो-धो कर पीने के लिए नही है। चालवाली घोडी और कुलवती स्त्री सुन्दर समझी जाती है। खूब खटने वाले बेटे और बैल की प्रशसा है। गुण सुन्दर है, रूप सुन्दर नही।[1]

पलग, जिस पर खुशफैल से हम सो सके, सुन्दर है। आलमारी, जिसमे किताबे सुभीते से रह सके, सुन्दर है। पत्नी, जो बच्चो को सम्हालती हुई, बिना उधार लिए, समय पर भोजन करा दे, सुन्दर है। जो पालन करे वही नरेश है, जहाँ वास मिले, वही सुन्दर देश है, 'जो प्रतिपालै सोइ नरेसू, बसिअ जहाँ सो सुन्दर देसू।' इस पक्ति मे तुलसी भी उपयोगिता मे सुन्दरता देख रहे है। तो, वस्तु की सुन्दरता उसकी उपयोगिता मे छिपी हुई है।

वस्तु को काट छाँट कर ज्यो-ज्यो हम उसे अधिक उपयोगी बनाते गये, त्यो-त्यो वह अधिकाधिक सुन्दर होती गयी। पहले हम पहाड की गुफाओ मे रहते थे, अब राजप्रासाद मे निवास करते है। अधगुफाओ से आलोकित प्रासाद

---

[1]**अपने गाँव के वयोवृद्ध शौखी गुरु जी से राह चलते कभी मैंने एक कहानी सुनी थी। उन्होंने बताया था कि दुमवाली घोड़ियाँ और नैन वाली तिरिया सुन्दर नही हैं; सुन्दर हैं, चालवाली घोड़ियाँ और कुलवाली तिरिया। यहाँ गुण और उपयोगिता के सामने रूप को तुच्छ समझा गया है।**

सुन्दर है। नाव की मांग और पतवार नुकीली है, इसलिए कि वह हवा और पानी को काट सके। बाँस के बेडे से नाव पर, उससे जहाज पर, अब पनडुब्बी से हम सैर करने लगे। पहले का बनाया हुआ इजिन आज की नयी डिजाइन के सामने फीका मालूम होगा, क्योकि नयी डिजाइन की उपयोगिता बेहद बढ गई है। मानव जीवन के विकास-क्रम के साथ, उपयोगिता की दृष्टि से, उसकी सौन्दर्य-भावना मे भी विकास और परिवर्तन होता आया है।

शरीर-विज्ञान की दृष्टि से शरीर के वे अग अधिक सुडौल होते है जिनमे उसके पोषण की, धारण की सर्वाधिक शक्ति मौजूद रहती है। चिडियो की पाँख पतली, लचीली और मजबूत होती है, इसलिए सुन्दर है। चारा चुगने वाली उसकी कडी नुकीली चोच भी सुन्दर है। रेगिस्तान मे ऊँट का अटपटा रूप सुन्दर लगता है। गोल बाहे, चौडी छाती, ऊँचा कधा, खडी नाक, सिंह की-सी कटि और अनार के दाने की तरह दाँत इसलिए सुन्दर कहे जाते है कि उनसे शरीर मे स्फूर्त्ति और जीवन मे आनद का सचार होता है। ऐसे अग उपयोगिता की दृष्टि से स्वास्थ्य और शक्ति के लिए अच्छे है, इसलिए सुन्दर है।

फ्रायड और मार्क्सवादी विचारक हर कला के मूल में काम और श्रम को देखते है। पहले की दृष्टि मे सुन्दरता की उपयोगिता कामोत्तेजन मे, और दूसरे के विचार मे वह सामाजिक श्रम को सुन्दरता मे है। नृत्य, गीत या कविता समाज मे इसलिए फैली कि उसके द्वारा किसानो को फसल बोने या काटने मे सुविधा होती है। कल्पना की सुखदता मे वे शारीरिक श्रम के कष्ट को बहुत कुछ भूल जाते है। सामूहिक कार्य मे समवेत स्वर से गाते हुए काम करने मे उनका अधिक मन लगता है। धान रोपते समय या छत पीटते समय स्त्रियाँ गीत गाना पसद करती है। धीरे-धीरे नृत्य, सगीत और लोकगीत कृषकों के सामाजिक जीवन से दूर होते गये और आज वे अभिजात वर्ग के विलास मदिर मे अधिक शोभा पाने लगे है। आज की कला श्रमिको के मनोरजन के लिए कम, लेकिन पूँजीपतियो के विलास के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुई है। आज कला कला के लिए है, लोक के लिए नही।

उपर्युक्त मत के विपरीत काट ने कला मे किसी जागतिक उपयोगिता का तत्व स्वीकार नही किया है। इनके अनुसार सौन्दर्य का आनंद निरुद्देश्य है,

उसका कोई सासारिक लक्ष्य नही है। सौन्दर्यानुभूति का एक लक्ष्यहीन लक्ष्य है आनद-प्राप्ति। दिनकर के 'हिमालय' के सामने देश का दुखडा आता है, क्योकि राष्ट्रीय जागरण के उद्देश्य से यह कविता लिखी गई है। लेकिन कालिदास के देवतात्मा हिमालय ने महाकवि के सम्मुख अपना नैसर्गिक सौन्दर्य उद्घाटित किया है। प्यासा झरने के सगीत को नही सुन पाता है। मास का लोभी कबूतर का वजन देखता है, 'सुखी परेवा' की ग्रीवा नही। वस्तु मे उपयोगिता की दृष्टि उसकी सुन्दरता को निगल जाती है। इसमे स्वार्थ और अहकार का अश बना रहता है। यह 'तादात्म्य की परिणति' नही होने देती। पर प्रत्यक्ष केवल योगियो के लिए नही, सुन्दरता के भोगियो के लिए भी आवश्यक है। सुन्दरता किसी को व्यवहार कुशल नही, सरस मर्मज्ञ बनाती है। रोजेटी और मीरा के गीतो से कोई विद्युत्-योजना नही चलाई जा सकती। 'मेघदूत' से खेत की उपज नही बढाई जा सकती। सुन्दरता विशुद्ध आनद के लिए है, जागतिक उपयोगिता के लिए नही।

कलागत सौन्दर्य की स्थूल उपयोगिता न भी हो, लेकिन उसकी सूक्ष्म, मानसिक उपयोगिता अवश्य है। चिन्ताग्रस्त मन कला लोक मे शाति का अनुभव करता है। जेठ की लू सुन्दरता को छू कर चदन हो जाती है। कला का आस्वादन कुछ क्षणो के लिए मोक्ष का-सा आनद प्रदान करता है। दु.ख का कारण व्यक्ति की इच्छा है। इसका उस समय शमन हो जाता है। कला का आस्वादन करते समय व्यक्ति की इच्छा-शक्ति, सुख-दु.ख मे लिपटने वाली अहवृत्ति मुर्झा जाती है या मिट जाती है। कला के द्वारा इस प्रकार की दु खनिवृत्ति को कोई पलायन-वाद भी कह सकता है। लेकिन, कला का पलायन ससार से नही, ससार मे होता है। नीद से शारीरिक और सौन्दर्यानुभूति से मानसिक क्लाति दूर होती है। यथार्थ जीवन की हलचलों के कारण हमारा मन उखडा-उखडा रहता है। कला के लोक मे हमारे विभिन्न अनुभवो का समीकरण हो जाता है। सामंजस्य की इस स्थिति मे चित्त में आनद उत्पन्न होता है। वैषम्य के चिताभस्म पर शिव का आविर्भाव होता है। निरानन्द व्यक्ति शिवानन्द हो जाता है। कला का शिव मन के शिवेतर का क्षय करता है। कला मन को पुष्टि प्रदान करती है। मानसिक आनद की उपलब्धि कला की सूक्ष्म उपयोगिता है।

काव्य के प्रयोजन में मम्मट ने यश, अर्थोपार्जन, व्यवहार-ज्ञान, अमंगल का नाश, सद्य आनदलाभ और कातासम्मित उपदेश का उल्लेख किया है।

रसानुभूति के समय ये सभी प्रयोजन सहृदय के चित्त से तिरोहित हो जाते है। उक्त प्रयोजनो की सत्यता भी लोक मे सिद्ध है। काव्य से यश, अर्थ, व्यवहार ज्ञान आदि की प्राप्ति होती है। हरिवश, चडीशतक, हनुमान चालीसा, सुन्दर-काड आदि के विधिवत् पाठ या श्रवण से कष्ट-निवृत्ति होती है, ऐसा विश्वास कुछ आस्तिको मे अब भी मौजूद है। काव्य का परम प्रयोजन रस है, शेष तो यो ही चले आते है। जिस प्रकार भक्ति के साथ शील, विद्या के साथ विनय बिन बुलाए चली आती है, उसी प्रकार कला के साथ यश, धन आदि। कला की साधना अर्थ के लिए 'भी' की जाती है, 'ही' नही। ही के आते ही वह हीन हो जाती है। अमर कथाकार प्रेमचन्द ने सिनेमा को दूर से सलाम किया था। पैसे के लोभ मे कला बेची नही गयी। पद और अर्थ का मोह कलाकार के लिए हितोपदेश के व्याघ्र का स्वर्ण ककण है।

सौन्दर्यानुभूति के समय सहृदय लाभ-हानि का विचार नही करता है। यह और बात है कि काव्य पढते समय पाठक के मानसिक स्वास्थ्य पर, चरित पर भी कुछ प्रभाव पडता है। तुलसी, प्रेमचद, टाल्सटाय और रवीन्द्र के काव्य से हमारे चरित का उत्थान होता है, यह सही है, लेकिन चरित-निर्माण के लिए ही हम इन्हे नही पढते। हम काव्य से आनद की याचना करते हैं, उपदेश तो यो ही अनायास चला आता है। कोक कोयले का उप-उत्पादन है, और उपयोगिता सुन्दरता का उप-धर्म है।

रसेल का मत है कि प्रत्येक प्रकार का अनुभव जीवन की उपयोगिता के लिए है। स्वय ज्ञान की उत्पत्ति जीवन के वास्तविक अनुभव से होती है। ज्ञान ज्ञान के लिए नही जीवन के लिए है। लेकिन ऐसे भी ज्ञानी है जो ज्ञान की प्राप्ति ज्ञान के लिए करते है। ऐसा क्यो ? इसके उत्तर मे रसेल का कथन है कि हर आदमी धन का उपार्जन जीवन के सुख के लिए करता है, लेकिन, मक्खीचूस पैसे जमा करने के लिए रात-दिन कमाता है। ज्ञानी और कृपण सग्रह का आनद लेते है। ज्ञान की तरह सुन्दरता पहले जीवनोपयोग के लिए रही होगी, पीछे वह केवल आनद के लिए रह गयी।

अपने रोज के काम कर लेने के बाद आदमी मे जो शक्ति बच जाती है, उसे वह खेल मे या विनोद में बिताना चाहता है। खेल में मन इसलिए रमता है कि उसमें कोई सासारिक लाभ-हानि की बात नही रहती। यदि जीत या हार पर

किसी का ध्यान लगा रहा, तो फिर वह खेल के आनद से वचित रह जाता है। खेल व्यक्ति की अतिरिक्त शक्ति का दूसरा रूप है। केवल उपयोगिता से उसे तसल्ली नही होती। वह वस्त्र से तन ढक कर ही सतोष नही कर लेता, उस पर बेल-बूटे और झालर भी देख कर प्रसन्न होना चाहता है। बेल-बूटे स्थूल उपयोगिता के लिए नही, मन के खेल के लिए होते है। यदि उनमे व्यक्ति अपने भावो को कलात्मक रूप मे अभिव्यक्त पाता है, तो उसे अतीव प्रसन्नता होती है। कला मन को रमाती है और दुनिया को भुलाती है। बिना भूले कोई रमता नही, और बिना रमे कोई भूलता नही। वह आत्मविस्मृति से आत्माराम होता है। शिशु के खेल मे मन की, सयाने की क्रीडा मे बुद्धि की, और महात्मा के विनोद मे मानस की प्रधानता होती है। लीला परमात्मा की क्रीडा का नाम है। यह विशुद्ध आनद के लिए घटित होती है। वह स्वय अपने साथ रमण करता है। वह आत्माराम है। कलाकार या सहृदय भी अपनी भावना या कल्पना के साथ रमण करता है। उसका अतस्थ भाव रस रूप मे आस्वादित होता है। कलानद का उपभोग जीवन को सूखने नही देता, वह इसे भिगोता रहता है। कला आनद के लिए है। आनद जीवन के लिए है। आनद-प्रदायिनी कला मानव जीवन के लिए नितात उपयोगी है।

कल्पना की रमणीयता

शुक्ल जी ने अपने निबध 'कविता क्या है' मे भावना और कल्पना मे कोई भेद नही देखा है। उनकी मान्यता है कि "जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन मे ला कर, उसके सामीप्य का अनुभव करना उपासना है। साहित्य वाले इसी को भावना कहते है और आजकल के लोग कल्पना।" कल्पना को उपासना के सदर्भ मे देखना आचार्य शुक्ल की अपनी विशेषता है। लेकिन आजकल के लोग कल्पना और भावना मे अतर मानने लगे है।

कल्पना मन की वह शक्ति है जिससे सहृदय या कलावंत के मानस में बिम्ब-विधान सम्पन्न होता है, जिससे सर्जना का तत्व क्रियाशील होता है, और जिससे आनद का सम्पादन होता है। कल्पना मन के विभिन्न सवेदनो को निचोड़ कर उनसे एक प्रभाव की अन्विति उत्पन्न करती है। विविध प्रकार के विचारों और भावो का सशोधन कर वह उन सबो पर किसी एक प्रमुख विचार या भाव

का आधिपत्य स्थापित करती है। वह अनेकता को एकता मे पिरोना जानती है। मन के भावो को मथ कर, छितरा कर, उन्हे फिर एक नवीन रूप प्रदान करना कल्पना का काम है। वह अभिनव सृजन की शक्ति से सम्पन्न है।

कल्पना विचारविहीना नही होती। वह आगे-पीछे आँख खोल कर चलती है। वह ऊपर-नीचे आँख मूंद कर भी देखती है। मन की यह शक्ति भावना और बुद्धि का मेल कराती है।

क्रोचे ने कल्पना को आत्मा का वह व्यापार माना है जो मन के स्थूल सवेदन को रूप या बिम्ब प्रदान करता है। सहजानुभूति और कल्पनाजनित ज्ञान मे क्रोचे ने कोई अतर नही माना है। कल्पना बिम्ब-विधान द्वारा विशेष का—सामान्य का नही—ज्ञान प्रदान करती है। बुद्धि वस्तुओ के पारस्परिक सबध और सामान्य गुणो की व्याख्या करती है। कल्पना वस्तु विशेष को अर्थवत् छवि के रूप मे हमारे सामने प्रत्यक्ष कर देती है। इससे तत्काल हमे सौन्दर्य या आनद की अनुभूति होती है। विचार या अनुभव को मूर्त रूप मे अभिव्यक्त करने वाली शक्ति कल्पना है।

स्मृति और कल्पना मे कुछ अतर है। स्मृति के लिए अतीत का प्रसग, बीती घटना की याद, आवश्यक है। मन के द्वारा बीती घटना के दुहराये जाने मे स्मृति का जन्म होता है। घटनाओ को दुहराते समय मन मे थोड़ी-थोडी अनुभूति भी होती रहती है। रटी हुई कविता को बेधड़क दुहराने मे स्मृति पूरा काम नही करती है; यह तो अनायास आप-ही-आप होता चलता है। कल्पना बहुतेरी स्मृतियो का कोई बडल नही है। वह स्मृतियो को सज्जा, क्रमत्व और शृंखला प्रदान करती है। वह अतीत के आधार पर भविष्य का चित्र अकित कर सकती है। बीती घटना का विवरण स्मृति का काम है; उसका नव-सघटन कल्पना का। सर्जना कल्पना की विशेषता है।

कल्पना मे कोई विश्वास या प्रतीति प्रत्यक्ष रूप से काम नही करती है। प्रतीति के खूंटे मे बँधी कल्पना खुल कर किलोल नही कर सकती। स्मृति मे व्यक्ति के मन की प्रतीति मौजूद रहती है। गलत या सही कोई स्मृति हो व्यक्ति की प्रतीति वहाँ काम करती है। कल्पना मे प्रतीति की अपेक्षा नही, यहाँ तो मन के उपकरणो का संघटन और उनका अभिनवीकरण आवश्यक है।

कल्पना का काम मन के द्वारा प्राप्त किए हुए अनुभवो के सादृश्य के

आधार पर चलता है। यह जोड़-घटाव और गुणा-भाग भी जानती है। कल्पना का अपना गणित है, रेखागणित, अर्थगणित और बीजगणित। वह राहु और केतु का सृजन करती है। चतुरानन, पचानन, षडानन और दशानन कल्पना देवी की सृष्टि है। तैतीस कोटि देवताओ और कोटि-कोटि दानवो का सृजन इसी के द्वारा हुआ है। तीन लोक चौदह भुवन इसके भ्रू सकेत पर निर्मित हुए है। कल्पना का यह सर्जनामूलक रूप है। किसी भाव के सम्पर्क मे आने वाली, अनेक तरगो का सृजन करने वाली कल्पना साहचर्यमूलक है। जैसे एक लहर दूसरी लहर से गुँथी और मिली रहती है, उसी प्रकार मन के बहुतेरे भाव एक-दूसरे से गुँथे हुए है। एक के छूने से अनेक साथ ही झनझना उठते है। यमुना की याद आते ही उसके साहचर्य से कदब, बाँसुरी, गोपी, चीरहरण, विवाह, बारात, भोज, पान, नगर और कार की वीचियाँ उत्पन्न हो सकती है। काव्य मे साहचर्यमूलक कल्पना का अपना स्थान है। यह व्यक्ति के सस्कार, रुचि और परिस्थिति पर बहुत कुछ निर्भर करता है। व्याख्यामूलक कल्पना किसी गूढ अर्थ या भाव का नवीन उन्मेष करती है। वह एक टकार से अनेक झकारो की कल्पना करती है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो रूपो मे प्राय. व्यक्ति की अभिलाषा की पूर्ति होती है। साक्षात् सघर्ष द्वारा इष्ट वस्तु को प्राप्त कर वह सतोष का सुख पाता है। लेकिन सामाजिक परिस्थितियो के चलते और व्यक्ति की अपनी सीमाओ के कारण भी उसकी सारी अभिलाषाएँ पूरी नही हो पाती। तब, वह उनकी पूर्ति के लिए कल्पना या दिवा स्वप्न की शरण मे जाता है। यथार्थ जीवन मे सुख का भवन बनाने मे असमर्थ व्यक्ति, मन के हवाई किले मे निवास करने लगता है। भूखा आदमी खयाली पुलाव भरपेट खाता है। यथार्थ की धूप से हट कर आदमी कल्पना के इन्द्रधनुष मे पहुँचता है। जिस प्रकार स्वप्न अधूरी अभिलाषा की पूर्त्ति है, उसी प्रकार कल्पना भी। लेकिन स्वप्न अचेतन मन की रचना है और कल्पना चेतन मन की सृष्टि। व्यक्ति का स्वप्न असृष्टि है, उससे सामाजिक कल्याण का काम नही हो सकता। कलाकार का स्वप्न—कल्पना—लोक सग्रह के लिए है। स्वप्न क्षणिक, शृखलाहीन और गोपनीय है; कला शाश्वत, रमणीय और लोकोपयोगी है।

प्रत्यक्ष जगत् की विषमता से ऊब कर कलाकार अपनी कल्पना मे पूर्ण लोक का सृजन करता है। वह पूर्ण सौन्दर्य, पूर्ण शक्ति और पूर्ण शील का

साक्षात्कार करता है। रवीन्द्र और दिनकर की उर्वशी, पत की अप्सरा और प्रसाद की श्रद्धा प्रणय और सौन्दर्य की पूर्णता का सफल प्रयास है। लैकून, मोनालिसा, लास्ट सपर, मैडोना, ट्रासफॉर्मेशन, अवलोकितेश्वर, ताण्डव, महिषासुरमर्दिनी आदि चित्र और मूर्त्तियाँ उसी पूर्ण को बाँधने के लिए बेचैन है। पूर्ण सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण प्रत्येक् मानस मे कल्पना के द्वारा फलीभूत होता है। इस कल्पना की अनुभूति आनद की अनुभूति है। कल्पना का आनद जीवन के पूर्ण सौन्दर्य का आनद है।

प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता

ज्ञान, इच्छा और भावना, चित्त के इन तीन रूपो का सबध क्रमश सत्य, शिव और सुन्दर से स्थापित किया जा सकता है। तर्क-वितर्क, विचार-विमर्श और प्रयोग आदि के द्वारा व्यक्ति सत्य को जानने का प्रयास करता है। शरीर के द्वारा जब हम कोई क्रिया करते है, तो उसके पहले, मन मे उस क्रिया को प्रेरित करने वाली किसी इच्छा का उठना अनिवार्य है। अमुक क्रिया अच्छी है या बुरी, यह निर्णय जिस मन शक्ति के द्वारा होता है, उसे विवेक कहते है। अच्छे और बुरे का सबध धर्म और अधर्म अथवा पुण्य और पाप की भावना से है। पुण्य और पाप की जगह हम शिव और अशिव का व्यवहार कर सकते है। हमारा मन किसी वस्तु या व्यापार को देख कर, आसक्ति के कारण, सुख-दुख सम्बन्धी भावना से प्रभावित होता है। किसी वस्तु के प्रति मन का रागात्मक रूप से प्रभावित होना भावना है। मन राग की भाप से कुछ आर्द्र हो जाता है। सौन्दर्यानुभूति के समय यह आर्द्रता आवश्यक है। इसलिए भावना का सबध सुन्दर से मानना स्वाभाविक है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया-शक्ति का विकास दर्शन, कला और धर्म के रूप मे प्रतिफलित हुआ है। दर्शन ने चिंतना, कला ने भावना और धर्म ने कर्त्तव्य के द्वारा जगत् को क्रमश सत्य, सुन्दर और शिव के रूप मे अभिव्यक्त किया है।

चिंतना, भावना और क्रिया ये तीनो अलग कटघरे मे नही हैं; इनका एक दूसरे मे अंतर्व्यापन होता रहता है। विचारणीय यह है कि किस चीज मे किस तत्व की प्रमुखता रहती है। जीवन मे पाप-पुण्य, शिव-अशिव का विचार किया जाता है, तो क्या यह कला में भी अपेक्षित है? कला के सुन्दर में क्या सत्य और शिव स्वय नही चले आते? कुछ विचारक तो कला के आलोचन में

धर्म या शिव का विवेचन हास्यास्पद समझते है। वे कहते है कि जिस प्रकार ताजमहल की कला मे पाप या पुण्य खोजना मूर्खता है, उसी प्रकार काव्य, सगीत और चित्र मे भी उसे ढूँढना सनकीपन है, क्योकि जीवन के पाप-पुण्य, फूल-काँटे ये सभी कला मे सुन्दर बन कर प्रकट होते है।

जर्मन दार्शनिक फेचनर के मत से कला मे सुन्दर के साथ शिव भी वर्तमान रहता है। कला का लक्ष्य है सौन्दर्यमूलक और मानवीय सहानुभूति उत्पन्न करना। इन दो लक्ष्यो को ले कर कला की दो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई। पहली प्रवृत्ति हममे मधुर, स्निग्ध सवेदन उत्पन्न करती है और दूसरी सत्य और शिव के लिए अभिप्रेरित करती है। महाकवि मे कला के उपर्युक्त दोनो लक्ष्यो का, सुन्दर और शिव का, मधुर मिलन स्वय हो जाता है। महान् कलाकार हममे दोनो सहानुभूतियाँ उत्पन्न करने मे समर्थ होता है।

शिव जीवन का वह सनातन तत्व है जिससे भूत समुदाय को कल्याण और आनद की उपलब्धि होती है। शिव का स्वरूप कल्याण और आनद है। फेकनर ने कला-परिवार मे शिव को गृहपति, सुन्दरता को गृहिणी, आनद को शिशु और उपयोग को सेवक का पद प्रदान किया है। सत्य उस परिवार का पुरोहित है जो सत्-असत् के उपदेश द्वारा उसे सन्मार्ग पर रखता है। सत्य शिव पर नजर रखता है, उपयोग को सहारा देता है और सुन्दरता को शृगार-दर्पण दिखता है। कला-परिवार मे शकर शिव है, पार्वती सुन्दर है, गणेश आनंद है, नंदी उपयोग है और राम—शिव को विवाह की आज्ञा देने वाले—स्वय पुरोहित है।

महाकवि कालिदास की यह मान्यता है कि यदि सुन्दरता शिव से उपेक्षित है तो वह व्यर्थ है। शकुन्तला और पार्वती का रूप दुष्यत और शिव के सामने पहली बार तिरस्कृत होता है। लेकिन, इन दोनों का तप पूत रूप पुनः अभिनदनीय हो जाता है। पार्वती ने केवल रूप की हृदय से निन्दा की है और शिव के लिए फलीभूत होने वाली सुन्दरता की स्तुति की है। कलाकार के अत करण की तप पूत सुन्दरता का पाणिग्रहण शिव के साथ अनायास हो जाता है।

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्न मनोरथा सती,
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषुसौभाग्यफलाहि चारुता।

४ | उदात्त तत्व

ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी मे यूनान के किसी दार्शनिक ने उदात्त के लक्षण बताते हुए कहा था कि उदात्त (सब्लाइम) शब्दावली के सरल प्रयोग मे नही, गरिमामयी शैली मे प्रकट होता है। इसका प्रयोग पाठक या श्रोता द्वारा अपना मत मनाने के लिए नही, बल्कि, उसे दूसरे लोक मे पहुँचाने के लिए होता है। इससे उसके मनोलोक का रूपान्तरण होता है और चित्त में उत्फुल्लता एव विस्मय-विमुग्धता की भावना भर जाती है।

ईसा की तीसरी शताब्दी मे लोगिनुस ने अपने 'पेरिइप्सुस' नामक निबध मे उदात्त का विशद विवेचन किया। बारह सौ वर्षों तक अधकार मे पडे रहने के बाद इस निबध का प्रथम प्रकाशन १५५४ ई० मे हुआ। 'ऑन दि सब्लाइम' के नाम से इसका अग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। हिन्दी मे इसका रूपान्तरण सन् १९५८ मे डॉ० नगेन्द्र ने 'काव्य मे उदात्त तत्व' के नाम से प्रकाशित किया है। इनका यह अनुवाद गभीर और शास्त्रीय शैली मे होते हुए भी काफी स्पष्ट है। अनुवादक को अग्रेजी और सस्कृत काव्यशास्त्र का सम्यक् ज्ञान होने के कारण यह एक सफल अनुवाद हुआ है। यहाँ हम 'काव्य मे उदात्त तत्व' की शब्दावली के आधार पर लोगिनुस की उदात्त भावना का सक्षिप्त परिचय देते है। 'पेरिइप्सुस' में उदात्त की कोई स्पष्ट परिभाषा नही मिलती, फिर भी उसके लक्षण इस प्रकार निर्धारित किए जा सकते हैं :—

(क) औदात्य महान् आत्मा की प्रतिध्वनि है।[1]

(ख) उदात्त का प्रभाव अत्यत प्रबल और दुर्निवार होता है।

---

[1]Sublimity is, so to say, the image of greatness of soul,—Havell's Longinus,

(ग) साधारणत औदात्य के उन उदाहरणो को ही श्रेष्ठ और सच्चा मानना चाहिए जो सब व्यक्तियो को सर्वदा आनद दे सके।

(घ) सच्चे औदात्य से हमारी आत्मा अपने आप ही ऊपर उठ कर गर्व से उच्चाकाश मे विचरण करने लगती है, तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है, मानो जो कुछ उसने सुना है वह स्वय उसकी अपनी कृति हो।

(ङ) वास्तव मे महान् रचना वह है जो बराबर कसौटी पर कसी जाने पर भी सदा खरी उतरे, जिससे प्रभावित न होना कठिन ही नही लगभग असभव हो जाय और जिसकी स्मृति इतनी प्रबल और गहरी हो कि मिटाये न मिटे।[1]

(च) औदात्य अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता का नाम है।[2]

(छ) वज्रपात का बिना पलक झपकाये सामना करना तो आसान है, किन्तु एक के बाद एक तीव्र गति से होने वाले उस भाव विस्फोट को अविचल दृष्टि से देखना सभव नही।

उक्त पुस्तक की भूमिका मे डॉ० नगेन्द्र ने लोगिनुस की उदात्त भावना के दो पक्ष बताये है भाव और विभाव। उदात्त की अनुभूति के अतर्तत्व भावपक्ष के, और उदात्त भावना को जन्म देने वाले कारण विभावपक्ष के अतर्गत आते है। विभावपक्ष के निम्नलिखित तत्व है —

(१) अनत विस्तार। इस तत्व के समर्थन मे लोगिनुस के विवेचन से ये पक्तियाँ रखी जा सकती है —

"सम्पूर्ण विश्व भी पर्याप्त नही लगता, और प्राय. हमारी कल्पना दिगन्त को पार कर जाती है।. "

(२) असाधारण शक्ति और वेग। उदाहरण :—

---

[1]देखिए डॉ० नगेन्द्र का 'काव्य मे उदात्त तत्व', पृ० ४४, ५२, ५३।

[2]जो आलम्बन हमारे चित्त को मात्र आकर्षित न कर, उसका उन्नयन या उत्कर्षण करता है, वह उदात्त कहलाता है।

—उदात्त : सिद्धांत और शिल्पन—प्रो० जगदीश पांडेय, पृ० १ (अर्चना प्रकाशन, आरा)।

"न हम उसे ऐतना के ज्वालामुखियो की अपेक्षा अधिक विस्मयकारी मानते है जो अपने विस्फोट मे अतलगर्भ से बडे-बडे पत्थर एव वृहदाकार शिला-खड बाहर फेंकते रहते है, और कभी-कभी जिनके गर्भ से विशुद्ध और आतभौम ज्वाला का नदप्रवाह उमडता चला आता है।"

(३) अलौकिक ऐश्वर्य।

"और सभी गुण जहाँ यह सिद्ध करते है कि उनको धारण करने वाले मनुष्य है, वहाँ औदात्य लेखक को ईश्वर के समीप ले आता है।"

(४) उत्कट एव स्थायी प्रभाव-क्षमता।[1]

"जिससे प्रभावित न होना कठिन ही नही लगभग असभव हो जाय और जिसकी स्मृति इतनी प्रबल और गहरी हो कि मिटाये न मिटे।"

स्वय लोगिनुस ने उदात्त आलबन के सक्षेप मे ये गुण बताए है —

जीवन्त आवेग, प्रचुरता, तत्परता, जहाँ उपयुक्त हो वहाँ गति, एव ऐसी शक्ति और वेग जिसकी समता करना सभव नही।

भावपक्ष के तत्व

(१) मन की ऊर्जा।

अर्थात्, आत्मा का उत्कर्ष करने वाली प्रबल अनुभूति। लोगिनुस ने दो प्रकार के आवेगो की ओर सकेत किया है—प्रथम उत्साह आदि जिनसे आत्मा का उत्कर्ष होता है, और द्वितीय, भय, शोक आदि हीनतर आवेग जिनसे उसका अपकर्ष होता है। उदात्त की अनुभूति प्रथम के अतर्गत है।

"जिससे हमारी आत्मा जैसे आप ही ऊपर उठ कर गर्व से उच्चाकाश मे विचरण करने लगती है।"

भारतीय काव्यशास्त्र मे इस आवेग को चित्त की दीप्ति या स्फीति कहा है।

---

[1] प्रभाव की दृष्टि से आश्रय के चित्त की भूमिका की उत्क्रांति या आरोह उदात्त की कसौटी है।

—उदात्त : सिद्धांत और शिल्पन—प्रो० जगदीश पांडेय, पृ० १।

(२) उल्लास।

"तथा (जिससे हमारी आत्मा) हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो जाती है।"

साधारणत औदात्य के उन उदाहरणो को ही श्रेष्ठ और सच्चा मानना चाहिए जो व्यक्तियो को सर्वदा आनन्द दे सके।"

(३) सभ्रम। अर्थात्, आदर और विस्मय।

"जो कुछ भी उपयोगी तथा आवश्यक है उसे मनुष्य साधारण मानता है, अपने सभ्रम का भाव तो वह उन पदार्थों के लिए ही सुरक्षित रखता है, जो विस्मय-विमूढ कर देने वाले है।"

(४) अभिभूति। अर्थात्, सम्पूर्ण चेतना के अभिभूत हो जाने की अनुभूति।

ऊर्जा, उल्लास, और सभ्रम आदि के सम्मिलित प्रभाव से अतत हमारी सम्पूर्ण चेतना अभिभूत हो जाती है। उदात्त की अनुभूति का अतिम रूप यही है। लोगिनुस ने 'विस्मय-विमूढ' शब्द के द्वारा इसी भाव को व्यक्त किया है।

उदात्त के शैली पक्ष पर भी लोगिनुस ने पर्याप्त विचार किया है। शैली के जिन तत्वो से रचना उदात्त होती है, लेखक ने उनका अच्छा विश्लेषण किया है। उदात्त शैली के बहिरग तत्व तीन है —

(१) अलकारों की समुचित योजना—इसके अतर्गत भाव और अभिव्यक्ति पक्ष से सबधित अलंकारो का समावेश हुआ है।

(२) उत्कृष्ट भाषा—इसके अतर्गत शब्द-चयन, रूपकादि का प्रयोग और भाषा की सज्जा-समृद्धि आदि गुण आ जाते है।

(३) गरिमामय एव ऊर्जित रचना-विधान।

अलंकारों की समुचित योजना

'पेरिइप्सुस' मे उदात्त शैली को सपुष्ट करने वाले कई अलकारों का उपयुक्त उदाहरण के साथ उल्लेख हुआ है। यहॉ कुछ प्रमुख अलकारो के नाम दिये जाते है।

(१) विस्तारण—विस्तारण किसी विषय के समस्त अगो और अगभूत प्रसंगो के समुदाय का नाम है जिससे विषय के विस्तार द्वारा युक्ति मे बल आ जाता है। इसके तत्व है—विवरण और प्राचुर्य।

(२) शपथोक्ति—यह शपथो के द्वारा ओज और विश्वास की सृष्टि करता है।

(३) प्रश्नालकार—इसमे प्रश्नोत्तर की सत्वर परम्परा के द्वारा वक्ता स्वय ही प्रश्न कर उनका समाधान प्रस्तुत करता है। इस प्रकार उसका वक्तव्य अधिक उदात्त और विश्वासोत्पादक बन जाता है।

(४) विपर्यय और व्यतिक्रम—यहाँ शब्दो अथवा विचारो के सहजक्रम में उलट-फेर किया जाता है।

(५) पुनरावृत्ति और छिन्नवाक्य—इन अलकारो मे आत्मा के आवेग और सक्षोभ को व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार की मनोदशा मे कथन का अनुक्रम स्वत छिन्न-भिन्न हो जाता है। प्रयोक्ता छिन्न वाक्यो और पुनरावृत्तियो का सहारा लेने लगता है।

(६) प्रत्यक्षीकरण—इसमे साक्षात् वर्णन की क्षमता रहती है, और समस्त वर्ण्य-विषय जीवन्त-सा हो उठता है।

(७) सार—इसमें वर्ण्य-वस्तु की उत्तरोत्तर वृद्धि की अभिव्यजना रहती है।

(८) रूप परिवर्तन—यह अलकार वचन, काल, पुरुष, कारक, लिंग आदि के परिवर्तन द्वारा विषय के प्रतिपादन मे विविधता और सजीवता लाता है।

(९) पर्यायोक्ति—इसमे बात को प्रकारान्तर से चमत्कार के साथ कहा जाता है। जैसे मृत्यु के लिए 'नियत मार्ग' का प्रयोग ।

उपर्युक्त अलंकारो के अतिरिक्त रूपक और अतिशयोक्ति का भी उदात्त शैली के निर्माण मे महत्वपूर्ण योग रहता है।

उत्कृष्ट भाषा

"उदात्त शैली का यह दूसरा प्रमुख तत्व है। उदात्त की अभिव्यक्ति का माध्यम उत्कृष्ट या गरिमामयी भाषा ही हो सकती है। भाषा की गरिमा का मूल आधार है शब्द सौन्दर्य, जिसका अर्थ है उपयुक्त और प्रभावक शब्द-प्रयोग।"...

"सुन्दर शब्द ही वास्तव मे विचार को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते है।"

गरिमामय एवं ऊर्जित रचना-विधान

यह उदात्त शैली का तीसरा तत्व है। "रचना का अर्थ है, भाषा का सामजस्य। यह गुण स्वभावजात होता है और हमारी श्रवणेन्द्रिय को ही नही वरन् हमारी आत्मा तक को प्रभावित करता है। रचना-विधान के अतर्गत शब्दो, विचारो, कार्यो, सुन्दरता तथा राग के अनेक रूपो का सगुम्फन होता है। अर्थात्, रचना का प्राण तत्व है सामजस्य जो उदात्त शैली के निर्माण के लिए अनिवार्य है।"[1]

यह सामजस्य वक्ता और हमारे बीच समभाव की स्थापना करता है। "हमे भव्यता, गरिमा, ऊर्जा तथा अपने भीतर निहित प्रत्येक भाव की ओर प्रवृत्त करता है, और इस प्रकार, हमारे मन के ऊपर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेता है।"

लोगिनुस ने उदात्त पर विचार करते समय प्रासगिक रूप से बिम्ब और कल्पना पर भी प्रकाश डाला है। बिम्ब या कल्पनाचित्र प्रवक्ता की गरिमा, ऊर्जा और शक्ति के सम्पादन मे बहुत-कुछ सहायता करते है। कल्पना, लेखक के मतानुसार, उस शक्ति का नाम है जो पहले कवि को वर्ण्य-विषय का मनसा साक्षात्कार कराती है और फिर भाषा मे चित्रात्मकता का समावेश कर श्रोता के मनश्चक्षु के सामने उसे प्रत्यक्ष कर देती है। लोगिनुस की कल्पना-विषयक उक्त धारणा आज भी समीचीन प्रतीत होती है।

उक्त निबंध में उदात्त भाषा के पाँच प्रमुख उद्गम स्रोतों का भी उल्लेख किया गया है। इन सभी स्रोतो का आधार है वाक् प्रतिभा। ये पंच-स्रोत हैं :—

(१) महान् धारणाओं की क्षमता—यह अवयव जन्मजात है।

(२) उद्दाम और प्रेरणाप्रसूत आवेग—यह भी जन्मजात है।

(३) अलकारो की समुचित योजना—इसके अदर भाव और अभिव्यक्ति से सबधित सभी अलंकार।

---

[1]वही, पृ० १७, १८, ८१, ६६ आदि।

(४) उत्कृष्ट भाषा—इसके अतर्गत शब्द चयन, रूपकादि का प्रयोग और भाषा-सज्जा आदि गुण आते है।

(५) गरिमामय एव ऊर्जित रचना-विधान।

औदात्य के विरोधी तत्व पर विचार करते हुए लोगिनुस ने बालेयता का उल्लेख किया है। बालेयता या बचपना के अतर्गत चापल्य, गरिमा का एकात अभाव, सयम का अभाव, एक प्रकार की हीनता, कायरता आदि दुर्गुणो का समावेश किया जा सकता है। रुचिहीन वाक्-स्फीति भावाडम्बर और शब्दाडम्बर ये सभी दोष उदात्त को निकृष्ट बना देते है।

औदात्य को महान् आत्मा की प्रतिध्वनि मानने वाले लोगिनुस की आत्मा भी महान् प्रतीत होती है। अपने निबध मे इसने धन और पद की लोलुपता को अत्यत तुच्छ बताया है और आत्मा के दिव्य गुणो के अनुसधान को मानव का श्रेय घोषित किया है। साधारण या उपयोगी चीजो से आदमी का काम तो चल जाता है, लेकिन इससे उसकी आत्मा का दिव्य विकास नही हो पाता। प्रकृति ने मनुष्य को महान बनने के लिए, अपनी अँगुलियो से ध्रुवतारा छूने के लिए उत्पन्न किया है। आदमी का काम तो छोटे-मोटे सोते से चल जाता है, फिर राइन, नील, सिन्धु, गगा और ब्रह्मपुत्र की सृष्टि क्यो हुई ? ऐसा इसलिए कि मनुष्य साधारण की सीमा को लाँघ कर विराट हो सके। उदात्त मनुष्य को साधारण से ऊपर उठा कर देवता के सम्पर्क मे ले चलता है।[1]

लोगिनुस ने प्राचीन महाकाव्यो से सतत प्रेरणा लेने की हमे सलाह दी है। आधुनिक मानव जब तक महाकाव्य मे निहित अत:सलिला की धारा

---

[1]Therefore even the whole world is not wide enough for the soaring range of human thought, but man's mind often overleaps the very bounds of space ...

When a writer uses any other resource, he shows himself to be a man; but the Sublime lifts him near to the great spirit of the Deity.

—Havell's Longinus.

से रससिक्त नही हो जाता, तब तक उसमे उदात्त की प्रकृत कल्पना सभव नही। नये कवियो के लिए उचित है कि वे प्राचीन युग के अमर महाकाव्यो से प्रेरणा ग्रहण करते रहे।

महान् प्रतिभा से सम्पन्न पुरुष, लेखक के मतानुसार, सर्वथा निर्दोष नही रह सकता है। प्रतिभाशाली पुरुष या कलाकार मे दोष न रहे—यह अस्वाभाविक है। विशुद्धता से प्रतिभा को बैर है। जो सोच-विचार कर, अच्छे-बुरे पर हमेशा नजर रख कर चलता है वह चतुर बटोही है, लेकिन पर्वत शिखर पर मचलने वाली अल्हड प्रतिभा फूँक-फूँक कर पैर नही रखती। मुझसे कोई गलती न हो जाय, इस बात का हमेशा ख्याल रखने वाला आदमी कायर हो जाता है। वह कोई भी साहस का काम नही कर सकता। इसी प्रकार यदि काव्य-क्षेत्र मे हमेशा दोष से बचने की चिंता रहेगी तो कवि महान् सृष्टि नही कर सकता। आखिर, दोष भी तो गुण के ही निकट रहना पसन्द करता है। महाकाव्य मे महान् दोष भी पाये जाते है। इससे उसकी महत्ता मे कोई त्रुटि नही आती। इस आधार पर मम्मट की यह परिभाषा 'तद दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुन क्वापि' युक्तियुक्त नही समझी जायगी।[1] इन्होने काव्य को दोषरहित और गुणसहित माना है। लेकिन लोगिनुस काव्य को दोषरहित नही, बल्कि दूषण सहित मानते है। महान दोष महान् पुरुष मे अपनी शोभा पाते है। फूँक-फूँक कर पैर रखने वाले, सूँघ-सूँघ कर चलने वाले अक्ल के ठेकेदार हो सकते है, समाज के नेता नही। ऐसे लोग सियारो के बीच पडित कहला सकते है, शेरो के बीच नही। हमेशा काव्य-दोष से बचने वाला कवि और कार्य-दोष से बचने वाला व्यक्ति अत मे तुक्कड और लुक्कड ही रह जाता है। दोष रहने पर भी महाकाव्य महाकाव्य ही रहता है, महापुरुष महापुरुष ही कहलाता है।

बहुत पहले ही उदात्त पर लोगिनुस ने अत्यत व्यवस्थित विचार प्रकट किया है। आधुनिक युग में भी उसकी उपयोगिता पहले की तरह है।

लोगिनुस के करीब डेढ हजार वर्ष बाद १७५६ ई० मे एडमड बर्क का एक निबध 'एसे ऑन दि सब्लाइम एड ब्युटिफुल' प्रकाशित हुआ। इस निबध मे एक मौलिक विचार प्रस्तुत किया गया है। इनके मतानुसार किसी भी भाव

---

[1]काव्य प्रकाश १।४

या सवेग की प्रकृत अनुभूति, चाहे वह कष्टदायक ही क्यो न हो, अपने आप मे आह्लादक होती है। किसी भय या विपत्ति की अनुभूति स्वत. दुखद प्रतीत नही होती है। भयदायक सवेग की अनुभूति अततोगत्वा सुखदायक ही प्रतीत होती है। यदि किसी सवेग की अनुभूति उस क्षण दुखद प्रतीत होती है तो कुछ समय के बाद ही उसका अनुचिन्तन सुखद प्रतीत होता है। ब्लेड से अँगुली के कटते समय की अनुभूति कष्टप्रद हो सकती है, लेकिन उसकी याद दुखद नही रह सकती।

बर्क ने पीडा और विषाद (पेन एड ग्रीफ) मे अतर स्थापित किया है। पीडा के कारणो से उत्पन्न प्रभाव का भोग व्यक्ति को तत्काल स्वय भोगना पडता है। विषाद का अनुभव परोक्ष मे कल्पना द्वारा प्राप्त किया जाता है। जेल मे यातनाएँ सहता हुआ कैदी पीडा का अनुभव करता है, लेकिन उसके वियोग मे घर पर तडपने वाली पत्नी विषाद का अनुभव करती है। विषाद मे व्यक्ति अपनी प्रिय वस्तु का, जिससे वह वियुक्त है, अधिक ध्यान करता है, वह उसे प्यार करता है, सुन्दर रूप मे देखता है। विषाद मे आह्लाद का, सुखानुभूति का स्थान सबसे ऊँचा है। यह तो विषाद या स्वविषयक दुख की बात हुई। मनुष्य, बर्क की मान्यता है, दूसरे के दुख मे भी सुख का ही अनुभव करता है। औरो के दुर्भाग्य पर, विपत्ति पर हम शोक के नही, हर्ष के आँसू बहाते है।[१] भय या आतक वह सवेग है, जो हमेशा, यदि कोई गहरा आघात न हो तो, सुख उत्पन्न करता है। करुणा (पिटी) की अनुभूति मे तो निश्चित रूप से सुख वर्तमान रहता है, क्योकि यह प्रेम और सामाजिक स्नेह से उत्पन्न होती है। प्रचड आतक (टेरर), जो आया नही, आने को है, की कल्पना मे हम हमेशा मोद का अनुभव करते हैं। लेकिन जब वह आतक प्रत्यक्ष उपस्थित हो जाता है, तभी दुख का अनुभव होता है। आतक का प्रत्यक्ष अनुभव दुखद और परोक्ष सुखद या मोद पूर्ण (डिलाइटफुल) प्रतीत होता है।

---

[१]I am convinced we have a degree of delight, and that no small one, in the real misfortunes and pains of others.

—The Harvard Classics : Vol. 24; Edmund Burk. —page 40.

सुन्दर रूप, गध या स्वर के प्रत्यक्षीकरण से, अथवा, अपनी मनोभिलाषा की पूर्त्ति से जिस सुख की प्राप्ति होती है वह उपर्युक्त आतक जनित मोदानुभूति से भिन्न है। पहला सुख (प्लेजर) है और दूसरा मोद (डिलाइट) है। पहला भाव मूलक है, दूसरा अभाव मूलक। पहले की परिणति हर्ष मे और दूसरे की विषाद मे होती है। बर्क ने दु खात्मक भावो का सबध आत्म सरक्षण की भावना से भी स्थापित किया है। आत्मसरक्षण के लिए हमे सघर्ष करना पड़ता है, इसलिए, पीडा, दुख, आपत्ति, चिंता आदि के भाव इसी से सबधित है। प्रत्यक्ष कष्ट पहुँचाने के कारण शोकमूलक भाव भले ही उस समय दुखद प्रतीत हो, लेकिन यथार्थ परिस्थिति से अलग हटने पर कल्पना मे वे सुखद या मोदपूर्ण प्रतीत होते है। जिस वस्तु या व्यापार के द्वारा शोक की कल्पना से उत्पन्न मोद की अनुभूति होती है, वह उदात्त है।[1]

बर्क ने उदात्त भाव की उत्पत्ति का मूल कारण पीडा या शोक स्वीकार किया है। कल्पना मे किसी प्रकार का शोक सुख उत्पन्न करता है। बिना शोक के उदात्त का उद्भव नही हो सकता। सौन्दर्य को उन्होने एक सामाजिक गुण कहा है।[2] सौन्दर्य को पुनः उन्होने शरीर का वह गुण बताया है जिससे प्रेम या प्रेम के सदृश भावावेग की उत्पत्ति होती है। सौन्दर्य का मूलाधार सुखात्मक भाव या प्रेम है, और उदात्त का मूल दुखात्मक भाव या शोक है। पहले का सबध आत्मसंरक्षण से और दूसरे का सामाजिक श्रेय से है।

दूसरे का दुख या विपत्ति सुन कर या देख कर हमारे मन में मोद (डिलाइट) या आह्लाद उत्पन्न होता है, बर्क का यह मत कहाँ तक युक्तिसंगत है ? यह अनुभव की बात है कि टोले मुहल्ले मे चोरी की घटना सुनते ही सभी वहाँ सोत्साह दौड पडते हैं। टूटे बक्से, बिखरे कपडे और मुँहबाई सेंध को देख कर लोग मन ही मन मुदित होते है। ऊपर से सहानुभूति दिखा कर फिर घर मे पहुँच कर उस चर्चा मे वे खूब रस लेते हैं। रेल या जहाज की दुर्घटना पर भी यही होता है। जिसका आदमी उसमें मरा वही रोता या पछताता है, और लोग तो इसकी सनसनी की गहरी चुस्कियाँ लेते नजर आते है। किसी ने

---

[1]Whatever excites this delight, I call sublime.

—वही पृ० ४५

[2]I call beauty a social quality.

—वही।

कहा है कि यदि कोई सुन्दरतम नाटक सर्वश्रेष्ठ अभिनेताओ द्वारा किसी सर्वोत्तम रगमच पर अभिनीत हो रहा हो तो वह तुरत खाली हो जायगा यदि कोई यह समाचार घोषित कर दे कि नजदीक के चौराहे पर अभी देश के सुप्रसिद्ध डाकू को फाँसी दी जा रही है। नाटक छोड कर सभी दर्शक फाँसी देखने दौड पडेगे। यह बात सही है। क्योकि दुख का कारण तो आसक्ति है, ममत्व है, स्वार्थ बुद्धि है। लेकिन जब यह आसक्ति नही रहेगी, यानी, मै दूसरे का दुख देख रहा हू अपने सबधी का नही, तब दुख का बोध नही होगा। सुख-दुख मे अनासक्त दृष्टि तो गीता के योगियो की सुनी गई है। क्या हम भोगियो की दृष्टि मे भी पर दुख के समय अनासक्ति योग का उदय होता है ? कहना पडेगा कि नही। मेरा विचार है कि दुखी व्यक्ति के दुख से हमारा कोई सबध 'स्व' या 'पर' रहता ही है। यह आसक्तिमूलक है, इसलिए दु खात्मक है। यदि कुछ व्यक्ति किसी की दुखद घटना को सुन कर कल्पना मे मोद का अनुभव करते है तो यह अनुभव, मेरी राय मे, उदात्त नही कहा जा सकता। उदात्त मे किसी भाव का उन्नयन होता है। क्या फाँसी देखने वाले लोगो की आत्मा का उन्नयन होता है ? क्या उनके मानस मे महत् की अनुभूति होती है ? यदि नही तो यह उदात्त नही, कुछ और है। उदात्त को लोगिनुस ने महान् आत्मा की प्रतिध्वनि कहा है। दूसरे के आँसुओ को देख कर यदि किसी की कल्पना मे मोद का अनुभव होता है, तो हुआ करे। हम उस मोद को भाव की विकृति कहेगे। उदात्त का मूलाधार भाव की विकृति नही हो सकती। दुखी के साथ सहानुभूति यह भाव की सस्कृति है। बर्क ने जिसे 'डिलाइट' कहा है वह विकृत सुखानुभूति (परवर्टेड प्लेजर) है। जिस प्रकार प्रेम की विकृति (आत्मपीडन सुख या परपीड़न सुख) आदर्श प्रेम का लक्षण नही हो सकती, उसी प्रकार सुख की विकृति उदात्त का कारण नही बन सकती।

बर्क ने आतक, भय, आश्चर्य, करुणा, सहानुभूति आदि दुखात्मक भावो को आत्मसरक्षण भावना के अंतर्गत रखा है और प्रेम जनित सुखात्मक भावो को सामाजिक भावना के अतर्गत। इनका यह वर्गीकरण भी, मेरी दृष्टि मे, अवैज्ञानिक है। आत्मसरक्षण भावना के अतर्गत प्रेम क्यों नही आ सकता ? प्रेम भाव के द्वारा योग-क्षेम, कल्याण, पोषण और सेवा को प्रोत्साहन मिलता है। प्रेम के द्वारा सामाजिक सुख-शाति की उपलब्धि होती है। आत्मसंरक्षण के लिए युद्ध और सधि, भय और प्रेम दोनो आवश्यक है।

बर्क ने आश्चर्य को उदात्त की अनुभूति का सर्वप्रमुख तत्व माना है। प्रशसा, आदर और आस्था उदात्त के गौरा प्रभाव कहे जा सकते है।[१] प्रकृति मे जो कुछ भी भयोत्पादक दृष्टिगोचर होता है, वह भी उदात्त है।[२] भय की उत्पत्ति से चित्त की सभी चेष्टाएँ निष्क्रिय-सी हो जाती है। भय मे भावी दुख का तीव्रतम चिंतन किया जाता है। उस समय दुख की कल्पना इतनी मूर्त्त हो उठती है कि वह भय, आने वाले दुख की तरह, भयकर हो उठता है। भय की तीव्र कल्पना या आशका प्रत्यक्ष दुख की तरह सवेदना उत्पन्न करती है। इसलिये व्यक्ति की दृष्टि मे जो कुछ भी भयावह प्रतीत हो वह उदात्त है। बर्क के इस तर्क मे मेरा एक सशोधन है। भय की भावना एक क्षुद्र व्यक्ति मे भी होती है। वह राई को पहाड बना कर दिन मे हजार बार मरता है। गाँव के बाहर बूढे पीपल के नीचे अँधेरी रात मे भूत का भय, दगा छिड जाने पर अपनी जान का भय, युद्ध के समय बम गिरने की आशका से प्राण का भय, हैजा फैलने से मरने का डर, इनकम टैक्स मे पकडे जाने पर जेल का भय और इसी तरह के कितने ही भय हमारे मन मे आते रहते है। प्रश्न है कि इस प्रकार के भयो से ग्रस्त व्यक्ति के मन मे क्या उदात्त की अनुभूति होती है? मृत्यु का भय सबसे अधिक भयकर होने के कारण हमारे पुराणो मे यमराज का चित्रण अत्यन्त भयावह प्रतीत होता है। भय से आदमी के प्राण सूखते है, रोगटे खडे होते है, आँखो तले अँधेरा छा जाता है, तो क्या इस क्षण की अनुभूति को हम उदात्त कहेगे।[३] मेरा अपना विचार है कि इस प्रकार की

---

[१] Astonishment, as I have said, is the effect of the sublime in its highest degree; inferior effects are admiration, reverence and respect.

—वही पृ० ४६

[२] Whatever is therefore terrible with regard to sight, is sublime too. —वही।

[३] एक मित्र के कारण जहाज छूट जाने पर मुझे एक बार मामूली डोंगी से 'श्रावण शुक्ला सप्तमी' को गंगा पार करना पड़ा था। मँझधार मे डोगी के छेद से पानी की पिचकारी आते देख मेरे प्राण सूख गये। इधर उन्मत्त ढेवों के कारण बेचारी डोगी अब डूबी, तब डूबी हो

भयानुभूति उदात्त नही है। वह उदात्त की सज्ञा की अधिकारिणी तभी हो सकती है, जब साधारण बधनो से ऊपर उठ कर व्यक्ति असीम की कल्पना करने लगे। एक अग्निशिखा जब दावानल के रूप मे दीखती है, एक साँप जब शेषनाग बन जाता है, तभी उदात्त का रूप अनावृत्त होता है। भय का विन्दु कल्पना की तरगो पर चढ कर जब सिन्धु बन जाय, तभी उदात्त का चद्रोदय दिखाई देता है। उदात्त मे आलबन की भयकरता के साथ आश्रय की तीक्ष्ण भावकता भी अपेक्षित है। सातवे दिन तक्षक के डसने से मृत्यु होगी—इस कल्पना ने परीक्षित को भक्ति और वैराग्य की भूमिका पर पहुँचा दिया। प्राण के प्रति मोह व्यक्ति को कातर और विह्वल बना देता है। मोह पर विजय पाने वाला व्यक्ति वीरता या वैराग्य से उत्प्रेरित हो सकता है। वीर पुरुष को भय से शौर्य प्रदर्शन का भी अवसर मिलता है। इसलिए, भय यदि उदात्त होता भी है तो उसी क्षण जब व्यक्ति मोह जनित क्षुद्रता से ऊपर उठ कर ऊर्ध्वगामी बन जाता है। नि सगता, निर्भयता और नि सीमता की झाँकी से भय उदात्त मे रूपान्तरित हो जाता है। बर्क ने इन तत्वो का अलग से विवेचन भी किया है।

कभी-कभी अस्पष्टता, दुर्बोधता या जटिलता के कारण भी चित्त उदात्त हो जाता है। मिल्टन ने एक स्थल पर मृत्यु देवता का वर्णन जटिल दुर्बोधता के साथ किया है। उनका यह चित्रण निश्चय ही उदात्त हो गया है।

नि सीमता या अनतता के चित्रण मे सहज ही औदात्य उपलब्ध हो जाता है। जब तक हमारी दृष्टि सीमाओ को निहारती रहती है, कूलकिनारो का लेखा-जोखा लगाती रहती है, तब तक महत् का उदय नही होता। अच्छी तरह जानी हुई चीज, जो तर्क से व्याख्येय है, हमे साधारण प्रतीत होती है। वस्तु के असाधारण होने के लिए उसे कुछ अशो मे अज्ञेय होना चाहिए। महापुरुष की महानता को सुरक्षित रखने के लिए रहस्यमयता एक आवश्यक

रही थी। सामने रखे हुए पनडब्बे से अंतिम बार पान खाने के लिए मैंने हाथ बढ़ाया। आँखें फाड़ कर हाथों से टटोलता रहा, पर पनडब्बा न मिला। आँखों तले अँधेरा छा गया, दिल की धड़कनें बेहद बढ़ गयीं, रोंगटे खड़े हो गये, प्राण सूखने लगे, राम नाम की रट लगाई, आँखें आप ही बंद हो गयीं। भगवान् के भरोसे किसी तरह नैया पार लगी। अकेले में भय और घनीभूत हो जाता है।

तत्व है।[1] यदि वह पूरी तरह जाना जाय तो ब्रह्म नही रह पायगा। नेति-नेति उसे अनत बनाती है। इसलिए औदात्य के लिए अनतता (इन्फिनिटी) एक आवश्यक तत्व है।[2]

शक्तिशाली पुरुष की शक्ति की कल्पना या प्रत्यक्षीकरण से भी उदात्त की निष्पत्ति सभव है। किसी उच्च पद पर आसीन व्यक्ति की पदजन्य शक्ति को देख कर साधारण मनुष्य हतप्रभ हो जाता है। राजदड को धारण करने वाला दुधर्ष पुरुष अपनी उपस्थिति से जन समुदाय मे आतक उत्पन्न कर देता है। अशोक वाटिका मे एक वृक्ष की फुनगी पर बैठे हुए हनुमान जी, रावण के आगमन की आहट मात्र से, और घने पत्ता मे जा कर छिप जाते है।[3] इसलिए व्यक्ति से उत्पन्न भय की अनुभूति उदात्त होती है। (क्योकि आश्रय के मानस मे आलबन की शक्ति की नि सीमता उदित होती है।)

शक्ति (पावर) के अतिरिक्त शून्यता, निर्जनता, एकात, महामौन, नीरवता, महाशाति, घना अधकार आदि के चित्रण मे उदात्त देखा जाता है। ये परिस्थितियाँ भयोत्पादक है, इसलिए इनमे महान् की अनुभूति हो सकती है। वर्जिल के एक पद मे नीरवता, अधकार, आतक और आकाक्षा का

---

[1]उदात्त में उद्गम की तन्मयता है, अनन्त में विराम की अचिन्त्यता। उद्गम की अपेक्षा प्रवाह स्थूल होता है। धारा से धारा की कल्पना सूक्ष्मतर है। Sublime इसी अर्थ में मूलाधार दृष्टिसम्पन्न होता है।

—उदात्त : सिद्धांत और शिल्पन—प्रो० जगदीश पांडेय, पृ० ५

[2]Infinity has a tendency to fill the mind with that sort of delightful horror which is the most genuine effect and truest test of sublime.

—The Harvard Classics : vol. 24; Edmund Burk—page 62.

[3]तं पत्र विटपे लीनः पत्र पुष्प घनावृतः।
समीपमुपसंक्रान्तं निध्यातुमुपचक्रमे।

—वाल्मीकि • सुन्दर काण्ड १८।२५

अत्यन्त उदात्त चित्रण हुआ है।[१] 'कामायनी' और 'राम की शक्ति पूजा' के प्रारभ मे हम शक्ति, शून्यता, नीरवता और अधकार का औदात्यमूलक चित्रण पाते है।[२]

क्षेत्र या आयाम की विस्तीर्णता, विशालता उदात्त का एक सशक्त कारण होती है।[३] अभ्रकष प्रासाद की ऊँची अट्टालिकाएँ हमारे मन को अभिभूत कर देती है। कुतुबमीनार, हुमायूँ का मकबरा, मीनाक्षी और कोणार्क के मन्दिर हममे भव्यता की भावना उत्पन्न करते है। इनके दर्शन मात्र से हमारे मन मे महत् की अवतारणा होती है। हम विस्मय विस्फारित नेत्रो से उनके आयाम का अवलोकन करते है। यहाँ भीति, समादर, विस्मय, आश्चर्य आदि भावो की उत्पत्ति के कारण स्वत उदात्त का प्रादुर्भाव होता है। ऊँचाई की अपेक्षा नीचे की ओर देखने से अधिक भय उत्पन्न होता है। कुतुबमीनार के कगूरे पर चढ कर जरा नीचे देखिये तो दिमाग चकरा जाता है। अत. विशालता (वास्टनेस) उदात्त का एक सशक्त कारण है।

वस्तुओ का प्रचुरता के साथ प्रदर्शन—प्रकृष्टता—औदात्य का जनक होता

---

[१]Ye subterraneous gods, whose awful sway
The gliding ghosts and silent shades obey;
O chaos hour ! and Phlegethon profound !
Whose solemn empire stretches wide around;
Give me, Ye great, tremendous powers, to tell
Of scenes and wonders in the depth of hell;
Give me your mighty secrets to display
From those black realms of darkness to the day.

[२]है अमा निशा, उगलता गगन घन अन्धकार,
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन चार,
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल,
भूधर ज्यों ध्यानमग्न; केवल जलती मशाल।

—निराला : 'राम का मोह'

[३]Greatness of dimension is a powerful cause of the sublime.

—बर्क; वही, पृ० ६१

है। जो वस्तुएँ अपने आप मे उत्कृष्ट और मूल्यवान है, उनका महान् विस्फूर्जन प्रकृष्टता (मैग्निफिसेन्स) है। कृष्णपक्ष का तारो भरा आकाश भव्य है, प्रकृष्ट है, इसलिए उदात्त है। किसी कविता मे यदि बिम्बो की प्रचुरता अपनी विशिष्टताओं के साथ प्रदर्शित की जाय, तो वहाँ भी उदात्त की अनुभूति होती है। राम से शून्य तेजहीन अयोध्या के वर्णन मे वाल्मीकि ने बिम्बो का मेला-सा लगा दिया है।[1] इस बिम्बप्राचुर्य मे निश्चय ही औदात्य की उदात्तमूलक अनुभूति निष्पन्न होती है।

जीवन की सहज सूझ, मनोवैज्ञानिक तथ्य और अपने काव्यानुशीलन के आधार पर बर्क ने उदात्त तत्व का अच्छा विश्लेषण किया है। सौन्दर्यशास्त्र मे इनका दृष्टिकोण भौतिक और यथार्थवादी समझा जाता है। इन्होने उदात्त सबधी सभी भावो का मूल उत्स शोक मे देखा है। इनकी मान्यता है कि प्राणो के उत्पीडन से उदात्त का उदभव होता है। इस सबध मे मेरा पुन निवेदन है कि शोक के अतिरिक्त भी कई स्थल है जहाँ औदात्य की सहज अनुभूति सभव है। विष्णु भगवान् का शेषशायी रूप सुखद होते हुए भी उदात्त है। अवलोकितेश्वर की शाति मुद्रा भक्तजन मे दिव्य शाति का सचार करती है। श्रीकृष्ण की रासलीला सुखद होते हुए भी उदात्त है, इसकी दिव्यमाधुरी अलौकिक और अद्भुत है। रासलीला मे प्रवेश करते ही मन की लघुता समाप्त होती है और उसमे अनत आनद का—रस का नही रास का—उदय होता है। उदात्त को शोकोद्भूत मानने से मुन्दर उसका विरोधी हो जाता है। लोगिनुस के मतानुसार शोक, भय, औदात्य आदि भावो से आत्मा का अपकर्ष होता है। इसलिए प्रत्यक्ष जीवन मे तो शोक से उदात्त की उद्भूति मानना उचित नही जँचता और यदि

---

[1]अल्पोष्णत्क्षुब्धसलिला धर्मोत्तप्त विहङ्गमाम्।
लीनमीनझषग्राहां कृशा गिरिनदीमिव॥
विधूमामिव हेमाभामध्वराग्नेः समुत्थिताम्।
हविरभ्युक्षिता पश्चाच्छिखा प्रविलय गताम्॥
× × ×
सफेना सस्वना भूत्वा सागरस्य समुत्थिताम्।
प्रशात मारुतोद्भूता जलोर्मिमिव निःस्वनाम्॥

—अयो० ११४। ४, ५, ७

कलागत शोक से औदात्य की निष्पत्ति माने, तो वहाँ भी शोक रस मे रूप परिणत हो कर करुण हो जाता है। महा करुणा की अभिव्यक्ति मे उदात्त आता है, लेकिन केवल शोक या भय के अनुभव मे वह नही पाया जा सकता।

बर्क ने उदात्त के आलबन पक्ष पर अधिक बल दिया है और कही-कही तो केवल वस्तु को उदात्त मान लिया है। मान लिया जाय कि कोई वस्तु या व्यक्ति अपने आप मे महान् है, विराट है। यदि उसका चितेरा उसे स्नेह की दृष्टि से देखता है, तो वह सुन्दर हो जायगा। शकराचार्य का व्यक्तित्व अपनी माता की दृष्टि मे सुन्दर और जनता की दृष्टि मे उदात्त हो सकता है। हिमालय अपने आप मे जो हो, लेकिन कुमारसम्भव के कालिदास की दृष्टि मे वह सुन्दर दीखता है। इसलिए उदात्त भाव आलबन की अपेक्षा आश्रय की चित्तदशा की ज्यादा अपेक्षा रखता है। दूसरी ओर, यदि आलबन बिल्कुल तुच्छ है, तो आश्रय की कल्पना के कारण वहाँ भी उदात्त का अनुभव सभव है। कवि अजलि मे अनत और कलिका मे वसत का दर्शन कर सकता है।

सुख का आह्लादकत्व सुन्दर और दु ख का आह्लादकत्व उदात्त है—बर्क के इस मत से प्रभावित हो कर सभवत काट ने अपना उदात्त-विषयक सिद्धात निरूपित किया है। ये भी भय को उदात्त भाव का उत्पादक मानते है। इनके पहले विकलमान ने उदात्त के विवेचन मे भय की उपयोगिता को कबूल किया है। उनका कहना है कि विशाल समुद्र की उत्ताल तरगें देख कर हमारा मन पहले तो उत्साहहीन हो जाता है, लेकिन कुछ क्षणों के बाद वह पुनरुद्दीपित होता है, और उसमें तीव्रतर उत्साह का सचार होता है। समुद्र की नि सीमता मनुष्य के लघुमानस के स्तर से जब टकराती है तो उसमें अपनी क्षुद्रता के अनुभव की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। उसमें अपनी सत्ता के विलीन होने का भय भी उत्पन्न होता है। इस प्रकार निःसीमता के दर्शन की क्रिया उसके मानस मे क्षुद्रता और विलीनता की प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। लेकिन कुछ क्षणो के बाद ही इस प्रतिक्रिया की पुन दूसरी प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। उसके मानस से अधिक बलवती दीप्ति अवतरित होती है। उसकी आत्मा की यह पुनर्दीप्ति उसके मानस मे स्फीति का संचार करती है। इस प्रकार वह व्यक्ति पुनर्दीप्ति और आत्म-स्फीति की भावना से ऊपर उठने लगता है, यानी उन्नमित हो जाता है। उसमें अतीव उत्साह का संचार होता है। आत्मस्फीति या आत्मदीप्ति की यह अनुभूति वास्तव मे उदात्त की अनुभूति है। समुद्र की

विराटता की अनुभूति का पहले तो गतिरोध होता है, और बाद मे प्रतिक्रिया-स्वरूप नवीन स्फूर्ति का उदय होता है। समुद्र-दर्शन से उत्पन्न उदात्त भाव को समझने के लिए अपने अनुभव से एक उदाहरण देता हूँ। वृक्ष की झुकायी हुई डाल पर बैठा बच्चा, हठात् छोड देने पर जब ऊपर उठने लगता है, तो उसमे एक विचित्र सनसनीपूर्ण सवेदन होता है। डाल के स्थिर होने पर उसकी सनसनाहट समाप्त-सी हो जाती है, और उसमे विस्मयजनित आनद की अनुभूति होती है। डाल के ऊपर उठते समय बच्चे के मन मे भय का तीव्र सचार होता है, और स्थिर होते समय उसकी आत्म-स्फीति होती है। समुद्र-दर्शन से उत्पन्न आत्म-स्फीति की भावना का प्रथम उल्लेख विंकलमान ने किया है। इन्ही से प्रभावित हो कर काट ने आत्मिक पुनर्दीप्ति सिद्धात (Spiritual reinvigoration theory) का निरूपण किया है। महान् त्याग या आत्म-बलिदान या मारविजय का चित्रण देख कर हम (उपर्युक्त मतानुसार) उदात्त की उपलब्धि करते है। ऐसे चित्रण मे काम-तत्व का रूपान्तरण आध्यात्मिक भावना के रूप मे हो जाता है। युग ने इस पद्धति को विकामीकरण (Desexualisation) की सज्ञा दी है।

काट मे उदात्त के दो प्रमुख रूप है · गणितमूलक और गतिमूलक। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकृति को पूरी तरह समझना चाहती है, उसे आत्मसात् करना चाहती है। लेकिन प्रकृति के विशाल रूप को देख कर वे हतप्रभ भी हो जाती है। प्रकृति की वे शक्तियाँ जो हमारी ज्ञानेन्द्रियो की बोधशक्ति को चुनौती देती है, अभिभूत करती है, गणितमूलक उदात्त की आलबन है। ये देश-काल से आबद्ध है, लेकिन हमारे मानस मे पराभव की भावना उत्पन्न कर पुन हमे उदात्त की ओर ले जाती है। आकाश, समुद्र, हिमालय, बुद्ध, ईसा, गाधी आदि गणितमूलक उदात्त के आलबन कहे जायेगे। गतिमूलक उदात्त मे वे वस्तुएँ या घटनाएँ आलबन रूप मे प्रकट होती है जो प्रकृति पर विजय पाने की हमारी धारणा का उपहास करती है। ऐसी घटनाओ के प्रत्यक्षीकरण से हमारी शक्तियो का खोखलापन प्रकट हो जाता है। हम प्रकृति की उद्दाम शक्तियो के सामने आत्म-समर्पण कर देते है। गतिमूलक उदात्त सृष्टिचक्र के चिरतन नियमो की ओर, ऋत-चित् की अविरल धारा की ओर हमारा मन आकृष्ट करता है। गणितमूलक मे रूप (फार्म) की, आयात की विशेषता है और गतिमूलक उदात्त मे शक्ति और व्यापार की प्रधानता है। निराला-काव्य से प्रत्येक का एक-एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है :—

गणितमूलक उदात्त

देखो, बन्धुवर, सामने स्थित जो वह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना है इसकी मकरन्द-बिन्दु,
गरजता चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु।
दशदिक् समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर,
अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर,
लख महाभाव-मंगल पद-तल धँस रहा गर्व,
मानव के मन का असुर मन्द हो रहा खर्व।

—'राम की शक्तिपूजा' से

गतिमूलक उदात्त

ऐ निर्बन्ध !—
अन्ध-तम-अगम-अनर्गल बादल।
ऐ स्वच्छन्द !—
मन्द-चंचल-समीर-रथ पर उच्छृङ्खल।
ऐ उद्दाम !
अपार कामनाओं के प्राण !
बाधारहित विराट !
ऐ विप्लव के प्लावन।
सावन घोर गगन के
ऐ सम्राट !...

—'बादल राग' से

पहले उद्धरण में पर्वत की महाशक्ति और विशाल रूप का प्रभावशाली चित्रण है, और दूसरे में बादल की गत्यात्मक चिरंतन शक्ति का प्रवाहमान रूप अंकित हुआ है। रूप और शक्ति का उक्त पदों में जो उदात्तीकरण हुआ है वह हिन्दी काव्य में अत्यन्त दुर्लभ है। शैली का ओज गुण और खरतर प्रवाह उदात्त भाव को प्रत्यक्ष कर रहा है। जिस भूधर के चरण प्रान्त पर सिन्धु-सिंह गरजता है, उसे देख किसका गर्व खर्व नहीं होगा। अनर्गल बादल के उच्छृङ्खल रथ के सामने कोई भी बलशाली नहीं ठहर सकता!

उदात्त विषयी के मानस मे उल्लास, गरिमा, महत्, आतक और आश्चर्य के भाव जाग्रत करता है। यह अपने रूप के तेज से द्रष्टा को हतप्रभ करता है। यह उसमे तेज, प्रखरता और शक्तिमयता की भावना का सचार करता है। उदात्त के गर्भ मे एक प्रहेलिका, एक कुहू की माया छिपी रहती है। सुन्दर के लिए, काट का मत है, रूप (फार्म) का होना अनिवार्य है। लेकिन, उदात्त कभी-कभी रूप की विकृति मे या रूप के अभाव मे भी अभिव्यक्त होता है। एक छोटी-सी पर्णशाला रूपाकृति के कारण सुन्दर है, लेकिन कोई विशाल खडहर भयावना होने के कारण उदात्त होगा। स्रस्त ध्वस्त खडहर या भग्नावशेष का कोई निश्चित या मान्य रूप नही है। वह रूप की विकृति मे रूपवान है। फैले हुए नीले आकाश मे कोई क्रमबद्ध रूप नही दिखाई देता। यहाँ रूपहीनतता मे ही रूप का दर्शन होता है। काट ने इस रूपहीनता को, विरूप को, unform कहा है।

'क्रिटिक ऑव प्योर रीजन' और 'क्रिटिक ऑव प्रैक्टिकल रीजन' के बाद काट ने अपना तीसरा ग्रथ 'दि क्रिटिक ऑव दि पावर ऑव जजमेट' १७६० ई० मे प्रकाशित किया। प्रथम ग्रथ मे इन्होने प्रकृति मे स्थित सार्वभौम नियमो का शुद्ध तर्क के बल पर विवेचन किया है। प्रकृति के अन्तर्गत कुछ ऐसे नियम है, जो अनादिकाल से वर्त्तमान है। इनके शासन मे विवश हो कर हमे रहना ही है। प्रकृति के कुछ अशो को सम्पूर्ण के सदर्भ मे हम जानने का प्रयास करते है। लेकिन अश, पूर्ण से पूर्णतया अलग करके, नही जाना जा सकता। साथ ही, पूर्ण को हमारी ससीम दृष्टि पकड भी नही पाती। हमारे ज्ञान की सीमा है, हद है। इसलिए वस्तु का अपने आप मे क्या स्वरूप है, इस सत्य को हम त्रिकाल मे नही जान सकते। ज्ञाता किसी वस्तु के एक अश को किसी क्षण मे अपनी आतरिक प्रतिक्रिया द्वारा जान पाता है। व्यक्ति का यह आशिक ज्ञान अपूर्ण और सीमाबद्ध है। वह वस्तु के सत् स्वरूप को कदापि नही जान सकता।

मनुष्य की इच्छा-शक्ति प्राकृतिक जगत् मे प्रवेश कर उसमे परिवर्त्तन लाना चाहती है। इस इच्छा का क्या स्वरूप है ? यथार्थ जीवन मे मूल्यो का क्या महत्व है ? सत्य, शिव, सुन्दर, दया, करुणा, मैत्री आदि का जीवन मे क्या महत्व है ? प्रैक्टिकल रीजन में उपर्युक्त विषयो का सम्यक् विवेचन किया गया है। प्रकृति जगत् और ज्ञान जगत् इन दोनो का मिलन विन्दु आचार

जगत् है। काट ने अपने तीसरे ग्रथ में सौन्दर्यमूलक निर्णय (एस्थेटिक जजमेट) का विश्लेषण किया है।

सौन्दर्यानुभूति की शुद्धता, मिश्रता, सोद्देश्यता, निरुद्देश्यता, स्वतत्रता, परतत्रता आदि पर उक्त ग्रथ मे विचार प्रस्तुत किये गए है। काट ने सौन्दर्य की शुद्ध अनुभूति मे कोई उपयोगिता, लक्ष्य या उद्देश्य नही माना है। समुद्र को मछली के व्यापार की दृष्टि से देखा जाय तो उसमे उपयोगिता आयेगी, सुन्दरता नही। तरगसकुल समुद्र और तारक खचित आकाश निरूद्देश्य दृष्टि से देखने पर सुन्दर प्रतीत होगे। कला की दृष्टि व्यावसायिक नही, व्यावहारिक नही, वह निरूद्देश्य आनद की दृष्टि है।

किसी व्यक्ति का सौन्दर्य-बोध उसकी रुचि पर, सहृदयता पर निर्भर करती है। सौन्दर्यानुभूति मे रुचिवैशिष्ट्य (जजमेट ऑव टेस्ट) का स्थान महत्वपूर्ण है। रुचि के अभाव मे सौन्दर्य-बोध असभव है। रुचि मे भाव-निष्ठता, रूपबद्धता और समजसता वर्त्तमान रहती है।

रुचि अपने आतरिक अनुभूत सामजस्य को व्यक्त करती है। औदात्य की अनुभूति के समय विषयी के मानस मे बौद्धिकता अधिक क्रियाशील रहती है। वह बौद्धिक संवेग के द्वारा उसका भावन करता है। सुन्दरता द्रष्टा के मानस मे एकात्म हो कर लयबद्ध बन जाती है। उसकी सत्ता उसमे घुलमिल जाती है। उदात्त द्रष्टा के मानस पर प्रतिघात करता है। यह उसकी कल्पना में कठिन द्रव्य प्रेषित करता है। बुद्धि के सवेग द्वारा (emotion of the intelligence—Geistesge fiıhl—) यह तरलित हो कर भावनिष्ठ होता है। उदात्त से बुद्धिजनित प्रत्ययों को प्रेरणा मिलती है। इससे हमारा बोधपक्ष तो कम, विचारपक्ष अधिक उत्तेजित होता है। यही कारण है कि औदात्य की अनुभूति ऐन्द्रिक रूप मे अधिक देर तक नही टिक सकती। काट का कथन है सौन्दर्य से मानस को भावात्मक एव औदात्य से अभावात्मक सुख उपलब्ध होता है।

ए० सी० ब्रैडले ने उदात्त-विषयक विचार मे कोई मौलिक उद्भावना नही की है। अपने पूर्ववर्त्ती विचारको के मतो का इन्होंने सरल साहित्यिक प्रतिपादन किया है। ब्रैडले ने उदात्त के आलबन पक्ष के विराट आकार, असीम विस्तार और अतुल वेग की भी विवेचना की है; विशेषता केवल यह है कि उन

सभी तत्वो का समावेश 'असीम शक्ति' के अन्दर कर दिया है। बर्क ने उदात्त भावना का आधारभूत आवेग भय या शोक प्रतिपादित किया है। ब्रैडले भी इस तथ्य को स्वीकार करते है कि प्रमाता में भाव का जो गतिरोध उत्पन्न होता है, वह भय या भय से मिलता-जुलता कोई भाव होता है। लेकिन, जब यह भय हमारी सौन्दर्यानुभूति का अंश हो जाता है, तो फिर वह 'भय' की कोटि मे नही रह सकता। तूफान या अजगर को देख कर जो भय उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है, शारीरिक भय है। वह आतंकपूर्ण हो सकता है, औदात्यपूर्ण नही। उदात्त मे भय का रूपान्तरण किसी और रूप मे हो जाता है। वह सौन्दर्यानुभूति के समकक्ष हो जाता है।

इस विवेचन के प्रसग मे ब्रैडले ने सौन्दर्य से मिलते-जुलते पाँच शब्दो का प्रयोग किया है—उदात्त, भव्य, सुन्दर, सुष्ठु, और ललित।[१]

ऊपर के क्रम मे 'सुन्दर' बीच मे है और इसके दोनो ओर दो-दो शब्द है। उदात्त और भव्य मे महानता के तत्व निहित है, शेष तीनो मे नही। उदात्त मे किसी न किसी रूप मे महानता का प्रभाव अवश्य ध्वनित होता है। यह महानता (ग्रेटनेस) देश या काल के विस्तार के रूप मे प्रमाता की आत्मा को अभिभूत करती है। यदि यह तत्व कल्पना से निकल जाय तो औदात्य स्वत विलीन हो जाता है।[२] इसका दर्शन हम देश, काल, आकार, सख्या, परिमाण और विस्तार आदि मे सहज ही कर सकते है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि औदात्य का कारण किसी वस्तु के आकार की विशालता नही, बल्कि, उसके मूल मे छिपी हुई महती शक्ति है। गरुड, सिंह, गजराज आदि अपनी आकृति के कारण नही, बल्कि शक्ति के कारण उदात्त हैं।

---

[१]Sublime, grand, beautiful, graceful, pretty

[२]Whatever strikes us as sublime produces an impression of greatness and more of exceeding or even overwhelming greatness; . remove the greatness in imagination and the sublimity vanishes.

—Oxford Lectures on Poetry, पृ० ४१

डीलडौल मे बडी चीज का सुन्दर होना आवश्यक नही है, लेकिन उदात्त सुन्दर का ही एक रूप है।[१]

उदात्त भाव की निष्पत्ति के लिए आलम्बन की महती आकृति का होना कोई आवश्यक नही। यह भाव लघु या क्षुद्र आलबन के द्वारा भी उत्पन्न होता है। ब्रैडले ने अपने इस कथन की पुष्टि मे तुर्गनेव की डायरी का एक पृष्ठ उद्धृत किया है जिसमे एक गौरैया अपने बच्चे को बचाने के लिए डाल से नीचे कूद पडती है और तुर्गनेव के शिकारी कुत्ते के पजो तले अपनी जान निछावर कर देती है। अपनी सतान के प्रेम मे एक चिडिया अपने प्राण का बलिदान करती है। तुर्गनेव ने इस घटना मे प्रेम की महान् शक्ति का अनुभव किया है। ब्रैडले ने इस चित्रण मे उदात्त का दर्शन किया है। क्षीणकाय गौरैये मे प्रेम और त्याग की ज्योति छिपी हुई है। रैफेल के 'मैडोना' चित्र मे अकित शिशु के मुख पर दिकशाति और सरलता साकार हो उठी है। इससे औदात्य की अनुभूति होती है। वर्ड्सवर्थ ने लघु शिशु को महान् पैगम्बर सम्बोधित कर उसे उदात्त बना दिया है।[२] इसी प्रकार, प्रलय के समय अक्षयवट के पल्लव पर भगवान् का शिशु रूप में खेलना औदात्य का निदर्शन है। महती शक्ति की अभिव्यक्ति लघुतम आकृति से भी हो सकती है, लेकिन इसके लिए द्रष्टा की कल्पना और अनुभूति में गाभीर्य अपेक्षित है।[३]

---

१. ..for bigness need have no beauty, while sublimity is a mode of beauty.

२Mighty Prophet ! seer blest !
On whom those truths do rest
Which we are toiling all our lives to find.

३काशी में एक दिन मैं संकट मोचन जी के दर्शन के लिए गया। मंदिर की ओर जाने वाले मार्ग के बीच में देखता हूँ कि एक गिलहरी मरी पड़ी है। उसके नजदीक ही एक बंदर मन मारे उदास बैठा है। यात्रियों की कुछ भी परवाह न कर वह आगे बढ़ता है। अपने दोनों हाथ धरती पर रख, गर्दन झुका, नाक सटा कर वह उसे बार-बार सूँघता है। फिर, अँगुलियों से उसे हिला-डुला कर देखता है। उसे अंतिम साँस लेते देख कर वह हताश हो जाता है। उस बंदर का करुण

जो अनुभूति हमारे मन मे अमिट छाप छोड दे, जो रह-रह कर हमे ऊपर उठने को विवश करे, जो हमारी लघुता को गला दे, उच्चता को चमका दे, वह उदात्त है। दैनिक जीवन के ओछेपन से बाहर निकाल कर जो करुणा की आकाशगगा मे अवगाहन कराती है वह अनुभूति भी उदात्त है। तुच्छ प्राणी का महान् बलिदान हमारी आत्मा को अभिभूत कर देता है। औदात्य की अनुभूति मे गुण तो चाहिए ही, लेकिन पूरी मात्रा मे। केवल गुण मे नही, गुण की मात्रा मे उदात्त की अवस्थिति है। त्याग, प्रेम और बलिदान की अधिकाधिक तीव्र मात्रा मे इसका निवास है। जहर का प्याला पीते समय सुकरात के इस कथन 'I have overcome the world' मे उदात्त का उत्कृष्ट रूप व्यक्त हुआ है। शैव्या से कफन माँगते समय हरिश्चन्द्र की उक्ति भी उदात्त कही जायगी। साधारण व्यक्ति—वह चाडाल वेश मे ही क्यो न हो, अपनी गुण गरिमा के कारण महान् हो जाता है। सर्वशक्तिमान परमेश्वर से हार नही मानने वाला मिल्टन का शैतान अपने आप मे महान् है, लेकिन वही जब हौवा को लालच दे कर फुसलाता है, तो तुच्छ दीखता है। इसलिए उदात्त के लिए गुण की मात्रा भी अपेक्षित है।[1]

सौन्दर्यानुभूति के समय चित्त दशा कैसी रहती है? इस पर विचार करते हुए ब्रैडले ने कहा है कि किसी चीज को देख कर या सुन कर जब हम सहसा कह उठते है, वाह! कितना सुन्दर! तब, उस क्षण हमारे चित्र मे आनन्द (प्लेजर) की एक धारा प्रस्फुटित होती है। हमारे चित्त का बेरोक-टोक विस्तार होने लगता है। वस्तु और भावक के बीच सुखद सामजस्य घटित होता है।

मुख मेरे मन से कभी उतरता नही। उस मार्ग से कितने लोग आते-जाते हैं; पंडित, पुजारी, सेठ-साहूकार, विश्वविद्यालय के छात्र आदि। अभी डाल से गिर कर एक नन्ही जान तड़प कर रह गयी—यह केवल वह बंदर ही जानता है। एक डाल पर साथ-साथ खेलने वाली गिलहरी की मौत से बेचारा कितना दुखी है। उसके मन में कितना स्नेह और कितनी करुणा है। करुणा में भींगा हुआ यह बंदर भगवान ही है।

[1] 'It is not in the quality alone, but in the quantity of the quality, that the sublimity lies.

—Oxford Lectures on Poetry, पृ० ४४

हमारी भावना इस समय पूर्णतया भावात्मक या स्वीकारात्मक होती है। भावना वस्तु से मिल कर एक होना चाहती है। इस प्रकार सौन्दर्य मे विषय और विषयी का तादात्म्य सबध हो जाता है। औदात्य की अनुभूति मे चित्त मे एक बलवती प्रतिक्रिया होती है, आत्माभिव्यजन का वेग फूट पडता है। अवरुद्ध भाव फूट कर बह चलता है, और साथ ही हमे भी बहा ले जाता है। बधनो और सीमाओ से हम ऊपर उठ जाते है। उदात्त की अभिभूति करने वाली महानता क्षण भर के लिए हमारे चित्त को रुद्ध करती है, हतप्रभ करती है, मूढ बनाती है, लघुता का बोध कराती है, लेकिन दूसरे ही क्षण कल्पना-लोक मे प्रवेश कर वह लघुता को महानता के आयात मे रूपान्तरित करती है। सीमा या लघुता को तोड कर हम उदात्त वस्तु मे मिल जाना चाहते है,[1] तद्रूप होना चाहते है, उसकी महानता का उपभोग करना चाहते है। सुन्दर मे विषय विषयी के साथ तदाकार होता है और उदात्त मे विपय ही विषयी को अपने रूप मे मिलाना चाहता है। पहले मे वस्तु विषयी के सामने आत्मसमर्पण करती है, और दूसरे मे विषयी वस्तु के सामने। दोनो मे एकत्व की भावना सन्निहित रहती है।

सुन्दर अपने को ऐन्द्रिय रूप मे प्रकट करता है, और ऐसा प्रतीत होता है कि उसी मे इसका वास है। यह सीमा और रूप को तोड कर अनंत होना नही चाहता। सुन्दर हमारी आँखो मे धँसना चाहता है, बसना चाहता है, और हम भी इसमे रमना चाहते है। उदात्त रूप या सीमा को तोड़ कर ऊपर उठना चाहता है, वह नि.सीम होना चाहता है। ससीम का असीम होना, रूप का अरूप होना, अल्प का प्रचड होना—यह उदात्त भाव का लक्षण है। हिब्रू कविता प्राय: ससीम में असीम का दर्शन कराती है, इसलिए कोलरिज ने उदात्त को जन्म से हिब्रू मान लिया है। यह सत्य है कि सुन्दरता रूपबद्धता मे प्रकट होती है, लेकिन उसकी अनुभूति में हम सार्वजनीनता पाते हैं। ब्रैडले के मतानुसार 'सुन्दर अनंत की सम्पूर्ण सत्ता का प्रतीक है, प्रतिबिम्ब है·· ····· उदात्त

---

[1]इस तरह 'स्व', 'स्थूल', 'उपयोगिता' तथा 'सीमा' के उत्तरोत्तर उत्क्रमण की आवश्यकता है। यही उदात्त की सरणि का उत्तर दर्शन है।

—उदात्त सिद्धान्त और शिल्पन;
प्रो० जगदीश पाडेय—पृ० ७

वस्तु की निःसीमता का प्रतीक है।' सुन्दर अनत की पूर्ण विद्यमानता का प्रतिबिम्ब है, जो अपने को अनुकूल सीमा मे बाँध कर प्रकट करता हैं, उदात्त निर्बन्धता का प्रतिबिम्ब है। पहला सर्वव्यापकता और दूसरा नि सीमता का प्रतिरूप है।[1]

प्रो० ब्रैडले ने सुन्दर और उदात्त के विवेचन मे कोई नवीन सिद्धांत प्रस्तुत नही किया है। 'काव्य मे उदात्त तत्व' की भूमिका में डॉ० नगेन्द्र ने भी कोई मौलिक उद्भावना नही की है। पूरब और पश्चिम के विचारों को झाड पोछ कर आमने सामने खडा कर देना—यह भी एक बडी बात है। मैं भी अपनी ओर से इस विषय पर कोई नयी बात नही कह सका हूँ। मन मे दो-एक प्रश्न उठते है, क्या सौन्दर्यानुभूति रसानुभूति के अतर्गत नही आ सकती ? औदात्य की अनुभूति क्या करुणा और अद्भुत रस के अन्तर्गत नही समा सकती ? भक्ति की अनुभूति सुन्दर है या उदात्त ? प्रत्येक प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक और नकारात्मक हो सकता है।[2]



---

[1]Beauty.. is the image of the total presence of the Infinite within any limits it may choose to assume; sublimity the image of its boundlessness...
The one the image of its immanence, the other of its transcendence...
—Oxford Lectures on Poetry.

[2]देखिए—उदात्त : सिद्धान्त और शिल्पन—प्रो० जगदीश पांडेय, प्रथम खण्ड, पृ० १४ से १८।

५ वैदिक साहित्य में उदात्त तत्व

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।

यद्भद्रं तन्न आ सुवा ॥ (यजु० ३०।३)

हे सर्वप्रकाशक परमेश्वर ! हमारे सभी दुष्ट आचरणो को दूर कीजिए और जो कल्याणकारी है उसे हमे प्राप्त कराइए ।

सहिता-साहित्य के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि वेद आर्य जाति के जीवन का विमल दर्पण है । ज्ञान, कर्म और उपासना का उत्कृष्ट रूप यहाँ हमे उपलब्ध है । वैदिक ऋचाओ के अतर्गत जिस पौरुष, दीप्ति और उत्साह का दर्शन होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । आर्य जाति ने भय, निराशा और दुख के सामने कभी आत्मसमर्पण नही किया । वेद विजेता आर्यो का उद्गान है । वे सदा सर्वदा तमस से ज्योति की ओर और असत् से सत् की ओर प्रगति करते रहे । उन्होने ईश्वर को साथ रख कर इस जगत् के सुख-सौन्दर्य का उपभोग किया, विश्व के प्रत्येक पदार्थ मे और सृष्टि के प्रत्येक व्यापार मे विराट् ब्रह्म की चेतन सत्ता का दर्शन किया । प्रत्येक वस्तु सत्, चित्त और आनद के आलोक से आपूरित है । जो बृहत् है, अनत है वही भूमा है, अमृत है, जो अल्प है, ससीम है, वही दुःख है, मृत्यु है । दृष्टि मे विराट् का समावेश होते ही सम्पूर्ण जीवन यज्ञ हो जाता है । हमारे सारे व्यापार परमात्मा के निमित्त होने लगते है । प्रत्येक कार्य आहुति बन जाता है और तब जीवन का प्रत्येक श्वास 'देवहित' हो कर सुरभित हो उठता है ।

वाणी उदात्त होती है तब जब भावना उदात्त हो । वैदिक ऋषियो की उदात्त वाणी के मूल में उनका उदात्त चरित, उदात्त चिंतन और उदात्त भावना है । जीवन मे जब तक महत् का, विराट् का, अवतरण नही होता, तब तक उदात्त का उद्घोष सुनाई नही पडता । वैदिक ऋषियो की ऋचाओं से यह स्वतः

सिद्ध है कि उन्होने जगत् के माध्यम से भूमा का साक्षात्कार किया है। गो, वाजि, रत्न, प्रजा, वर्षा आदि सासारिक सुख के साधन उन्हे चाहिये ही, लेकिन ये साधन व्यष्टि के लिए नही लोक कल्याण के लिए है। वीर प्रसविनी माता, योद्धा, राजा, गोधन आदि राष्ट्र की सम्पत्ति है, किसी व्यक्ति की नही। आर्यो का राष्ट्र कोई विशेष प्रात ही नही, बल्कि सम्पूर्ण धरित्री ही है। पृथ्वी उनकी माता और पर्जन्य उनके पिता है। इन्द्र, सविता और मरुत् सम्पूर्ण विश्व का कल्याण करते है। यज्ञ से जनजीवन का हितसाधन होता है। लोक-सग्रह की यह भावना ऋषियो की वाणी मे औदात्य का सचार करती है। औदात्य यदि आत्मा की महानता का प्रतिबिम्ब है, तो सम्पूर्ण वैदिक साहित्य उदात्त का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन समझा जायगा।

मत्र द्रष्टा ऋषि की दृष्टि मे विराट् की अवतारणा का मुख्य कारण सर्वव्यापी ऋत का प्रत्यक्षीकरण है। ऋत तत्व का बोध होने से सभी वस्तुएँ और सम्पूर्ण व्यापार एक-दूसरे से गुँथे हुए, अनुस्यूत, दीखते है। किसी वस्तु के दो रूप हैं, बाह्य और आभ्यन्तर। आकृतिगत, स्थूल और इन्द्रियगम्य रूप बाह्य है एव उसके अतराल मे निहित आतरिक शक्ति का स्वरूप आभ्यतर है। दृश्य-जगत् के नाना रूपो के अन्तस् मे बहने वाली एक ही शक्तिधारा है—वह ऋत है। ऋत वह सनातन दिव्यचेतन शक्ति है जिसके द्वारा यह विराट् विश्व नियम-बद्ध हो कर परिचालित होता है। सविता, सोम, मरुत् ये सभी उसी ऋत के कारण तेज और प्राण विकीर्ण कर रहे है। द्यावा पृथिवी उसी के सकेत से अपने कक्ष पर घूम रहे है। वनस्पति मे हरीतिमा, अग्नि मे अर्चियाँ और सरिता मे प्रवाह उसी के कारण है। ऋत के कारण निखिल विश्व मे सृजन, पालन और सहार की शक्तियाँ क्रियाशील रहती है। ऋत एक सार्वभौम नियम है, विश्वजनीन सिद्धात है। अघमर्षण सूक्त मे इसकी उत्पत्ति तप से कही गई है —

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्य जायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥[1]

अर्थात्, तप से ऋत और सत्य की उत्पत्ति हुई। प्रसग के अनुकूल तप का अर्थ यहाँ अन्तस्साधना है। बहिर्मुखी इन्द्रियो को एक विन्दु पर स्थिर करना,

---

[1] ऋक्० १०।१९०।१

ध्यानस्थ करना तप है। योगशास्त्र मे चित्त की पाँच भूमियाँ बताई गई हैं; मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। प्रथम तीन भूमियो मे चित्त समाधि प्राप्त नही करता है, शेष दो मे वह प्राप्त करता है। निर्विचार समाधि की प्रवीणता होने पर योगी को अध्यात्मप्रसाद की, प्रज्ञा की, निर्मलता की उपलब्धि होती है। अध्यात्मप्रसाद का लाभ होने पर ऋतम्भरा प्रज्ञा—अविद्या से रहित, सत्य को धारण करने वाला ज्ञान—उत्पन्न होती है।[1] अर्थात् चित्त की निरुद्धावस्था मे, जब वृत्तियो का सर्वथा शमन हो जाता है, ऋत का प्रादुर्भाव होता है। तप के द्वारा ऋत का अनुभव होता है। सत् का कार्य सत्य है। ऋत का जो विराट् रूप दृष्टिगोचर हो रहा है वह सत्य है। वस्तु के रूप और गुण के यथार्थ ज्ञान का नाम सत्य है। अर्थात् वस्तु का वह धर्म जो त्रिकाल मे वर्तमान रहता है, कभी बाधित नही होता है, सत्य है। छान्दोग्य उपनिषद् मे एक स्थल पर ब्रह्म का नाम सत्य कहा गया है। सत्य मे तीन अक्षर है, सकार, तकार और यम् [स+ती+यम्=सत्यम्] सकार अमृत है, तकार मर्त्य है और यम् उन दोनो का नियमन करता है। व्यावहारिक दृष्टि से सत्य वह है जो देखे, सुने या अनुभव किए हुए रूप को यथार्थता के साथ प्रकट करता है। इस प्रकार प्रसग के अनुसार सत्य के कई अर्थ है, लेकिन यहाँ सत्य का आशय विश्व के व्यापार अथवा घटनाचक्र से है। अग्नि मे दाहकता है, पृथ्वी मे आकर्षण-शक्ति है यह ऋत है, और अग्नि से अन्न सिद्ध होता है, धरती पर युद्ध होते रहते है—यह सत्य है। सत्य व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त होने पर ऋत के समकक्ष हो जाता है :—

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः॥[2]

अर्थात्, सत्य से पृथ्वी या प्राकृतिक शक्ति ऊपर धारण की जाती है। सूर्य के द्वारा द्यौ धारण किया जाता है। ऋत के द्वारा अदिति अर्थात् वर्ष के बारह महीने धारित होते है। सत्य ने भूमि को उठा रखा है और ऋत ने ऋतुओ को स्थिर रखा है। यहाँ सत्य और ऋत चिरतन नियम के पर्याय बन कर आए है। उपनिषदो मे शातिपाठ के कई स्थलों पर 'ऋतंवदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि' का उल्लेख हुआ है। यहाँ ऋत का अर्थ शाश्वत नियम और सत्य का अर्थ मन द्वारा अनुभूत घटना का यथावत् प्रकाशन समझना चाहिये।

---

[1] ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा—योग० १।४८

[2] ऋक्—१०।८५।१ तथा अथर्व १४।१

वैदिक ऋषि सूर्य को एक ज्वलित पिण्ड के ही रूप मे न देख कर उसका वरेण्य भर्ग के रूप मे अनुभव करते है। यह सूर्य जिस नियम के कारण प्रज्वलित हो रहा है, वह ऋत है। सृष्टि की वेदिका पर ऋत का अविराम यज्ञ चल रहा है। ग्रह, नक्षत्र और सभी जीव समुदाय अपने व्यापारो द्वारा उसमे आहुतियाँ प्रदान करते है।[१] व्यक्ति का विशिष्ट व्यापार उस महायज्ञ मे आहुति बन कर विराट् का अग हो जाता है। जिस प्रकार विद्युत्-शक्ति का व्यक्त रूप बल्ब का प्रकाश है, उसी प्रकार ऋत का व्यक्त रूप यह विराट् है, निखिल विश्व है। ऋत की अनुभूति की अभिव्यक्ति विराट् की वर्णना द्वारा सभव है। ऋत की शक्ति का अनुभव एक तुच्छ कण मे और अखिल ब्रह्माड मे समान रूप से किया जा सकता है। पिण्ड मे ब्रह्माण्ड का दर्शन करने वाली दृष्टि निश्चित रूप से उदात्त है। ऋषि की कल्पना ने अनत परम पुरुष को ब्रह्माड के व्यक्त रूप द्वारा पकडने का प्रयास किया है। अरूप, असीम, अनत—यह कैसे शब्दो मे बाँधा जाय! अनत हमारे मानस मे सुखद विस्मय उत्पन्न करता है, थोडी भीति और अधिक प्रीति यह अनत का प्रसाद है। इससे मन मे सभ्रम उत्पन्न होता है। लघु की सीमा को तोड कर मन असीम मे तदाकार होने के लिए विकल हो उठता है। विराट् पुरुष के अनत विस्तार, अनंत रूप और अनत सौन्दर्य को देख कर मन विस्मय से अभिभूत हो जाता है। विराट्बोधक उदात्त की अनुभूति के लिए द्रष्टा के मानस में ऊर्जा, आत्मा का उत्कर्ष करने वाली प्रबल अनुभूति, अपेक्षित है। अनत या विराट् को रूपायित करते समय ऋषि-कल्पना मे उल्लास और सभ्रम का जो तत्व चाहिए वह यहाँ पूर्णतया वर्तमान है। अनत सौन्दर्य के सामने वैदिक कवि विस्मित होते है, लेकिन हतप्रभ नही, अभिभूत होते हैं, लेकिन पराजित नही। वे परिकरबद्ध हो कर अपनी दृढ मेधाशक्ति के द्वारा उसे रूपक में उतारने का प्रयास करते है, बिम्बों में बाँधने का प्रयत्न करते है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि कवि की कल्पना क्रेन की तरह विराट् को इधर-उधर उछालती रहती है। विराट्बोधक उदात्त के उदाहरण में पुरुषसूक्त—ऋ० १०।९०।१—यजु० ३१।१ से—१८ की कुछ ऋचाएँ उद्धृत की जाती है—

---

[१] **यज्ञेन यज्ञमय जन्त। ऋ० १०।९०।१६—यज्ञ रूप आत्मा से हम यज्ञ रूप परमात्मा का यजन करते हैं।**

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
सभूमिं सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति ॥२॥
एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष· पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥४॥
ततो विराडजायत विराजोऽअधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥५॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥११॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
श्रोता द्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निर जायत ॥१२॥
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१८॥

उपर्युक्त ऋचाओ का सक्षिप्त आशय इस प्रकार है—

वह अनत शिरो, अनंत नेत्रो, अनत चरणो वाला पुरुष पूर्ण जगदीश्वर है। वह निखिल भूमि मे सब प्रकार से व्याप्त हो कर उससे दश अगुल अधिक हो कर विराजता है। भूत और भविष्य सब वही पुरुष है। वही भोग्य अन्न के निमित्त से जगत् रूप मे प्रकट होता है। अमृतत्व या मोक्ष का स्वामी भी वही परमेश्वर है। यह ब्रह्माड उसकी महान् सामर्थ्य का स्वरूप है। यह परमेश्वर इससे भी कही महान् है। उत्पन्न होने वाले पृथिवी आदि लोक उसका एक पाद या एक अश है। इस पुरुष का स्वरूप जो तीन पादो वाला है, अमृत रूप से नित्य विद्यमान है। तीन अशो वाला यह पुरुष सबसे ऊँचा, मुक्त रूप हो कर रहता है। उसका एक अश इस ससार मे व्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। वह एक अश से ही व्याप्त हो कर चराचर लोको को विविध प्रकार से उत्पन्न करता है। उस पूर्ण पुरुष से विराट् अर्थात् सूर्यादि लोकों से प्रकाशमान् ब्रह्माड उत्पन्न हुआ। इस विराट् का अधिष्ठाता वह परमेश्वर ही है। वह सबसे पूर्व विद्यमान रह कर जगत् में प्रकट हो कर भी उससे कही अधिक बडा है। पीछे वह प्राणि-

जगत् को उत्पन्न करता है। उस पुरुष का मुख ब्राह्मरण है, बाहु क्षत्रिय, जघा वैश्य और पद शूद्र है। चद्रमा उस विराट् पुरुष का मन है; सूर्य चक्षु, श्रोत्र वायु और अग्नि ही उसका मुख है। मैं उस महान् पुरुष को, पूर्ण परमेश्वर को, सूर्य के समान तेजस्वी और अधकार से दूर, ऐसा साक्षात् करता हूँ। उसको ही जान कर व्यक्ति मृत्यु को पार कर जाता है। इसके अतिरिक्त मोक्ष-प्राप्ति का दूसरा कोई मार्ग नही है।

निम्नलिखित मत्र मे आकाश और पृथिवी परमेश्वर के दो दाढो के रूप मे चित्रित हुए है :—

> **स्रुवेव यस्य हरिणी विपेततुः**
> **शिप्रे वाजाय हरिणी दविध्वतः ।**
> **प्रयत् कृते चमसे मर्मृजद्धरी**
> **पीत्वा मदस्य हर्यतस्यान्धसः ।—ऋ० १०।९६।९**

अर्थात् जिसके शासन मे, यज्ञ मे दो स्रुवो के समान, दीप्तियुक्त सूर्य और चन्द्र गति करते है और जिसके दो दाढो के समान पृथिवी और आकाश अन्न-जल आदि ऐश्वर्य-कार्य के निमित्त चल रहे है और जिसके प्राणदायक अमृत रस का पान कर आत्मा अपने इन्द्रियवर्ग को पवित्र कर लेती है, वह प्रभु है। यहाँ चद्र और सूर्य को यज्ञ के दो स्रुवो के रूप मे कल्पित किया गया है। यज्ञ के स्रुवे आहुतियाँ देते रहते है। ये चद्र और सूर्य भी पृथ्वी पर किरणो की सतत आहुतियाँ दे रहे है। सम्पूर्ण विश्व मे अनवरत यज्ञ की कल्पना कितनी भव्य है। इतना विशाल सूर्य यज्ञ का एक छोटा-सा स्रुवा बन गया है! कवि की कल्पना मे यज्ञ की पूत गध बसी हुई है। यह सारी पृथ्वी ही यज्ञ की वेदिका है, जिससे विभिन्न वर्णो की अर्चियाँ सदा प्रकट हो रही है—चद्र-सूर्य आहुतियाँ दे-दे कर इस अग्नि को सदा प्रज्वलित रखते है। यज्ञ के रूपक मे सारा ब्रह्माड सिमट कर चला आया है। सूर्य-स्रुवा को धारण करने वाला यजमान-पुरुष कितना महान् होगा। इसी मत्र मे एक दूसरा गत्यात्मक बिम्ब है। पृथिवी और आकाश परमेश्वर के दो दाढ है, दो जबडे है। धरती नीचे का जबड़ा है और तारो भरा आसमान ऊपर का जबडा है। ये दोनो जबडे दिन रात चल रहे है; इनके चलने से सभी प्राणियो को अन्न-जल, प्रकाश आदि मिला करते हैं। जबडो के चलते रहने से शरीर को पुष्टि मिला करती है,

आकाश और पृथ्वी के चलने से जीव को सुख-शांति मिलती है। धरती और आकाश जिनके जबडे है, वे परमेश्वर कितने बडे होगे, और ये जबडे कभी चैन नही लेते, सदा चलते ही रहते है। बिम्ब मे एक विस्मय उत्पन्न होता है, विराट् की एक हल्की झाँकी से मन अभिभूत हो जाता है। आश्चर्य और भीति को कम करने के लिए अत मे अमृत रस का उल्लेख किया गया है। भीति और प्रीति का, साँप और फूल का, पत्थर और मोम का कैसा अपूर्व सयोग है।

निम्नाकित मत्र मे ऋषि ने कविरूप परमेश्वर की स्तुति की है :—

हुवे वातस्वनं कवि पर्जन्य क्रन्द्यं सह ।
अग्नि समुद्रवाससम् ॥ ऋक्० ८।१०२।५

अर्थात् महान् आकाश मे व्यापक, प्राण-वायु द्वारा समस्त जीवो को प्राण देने वाले, विद्युत् के समान सब मेघो को गर्जन कराने वाले, सब कुछ सहने वाले क्रातदर्शी अतर्यामी प्रभु को स्मरण करता हूँ। यहाँ परमात्मा का कैसा शक्ति-शाली रूप इगित है! बिजली की चाबुक से जो सभी मेघो को कँपाता रहता है, गर्जन कराता है, रुलाता है, वह स्वामी कैसा प्रभावशाली है! आकाश मे व्याप्त प्राण-वायु के द्वारा वह सभी जीवो को प्राण भी देता है। प्राणियो मे सुखद प्राण-वायु पहुँचाने वाला परमात्मा कितना प्रेमी है, उदार है, दयालु है। लेकिन मेघो को रुलाने वाला वही स्वामी कितना कठोर शासक है। पिता पुत्र के लिए कठोर भी है और उदार भी। सुखद प्राण-वायु और विद्युत् का कशा-घात, दोनो विरोधी बिम्बो की गलबाँही देखते ही बनती है। बिम्ब के मुख पर आलिगन और क्रदन के आँसू एक साथ सुशोभित हो रहे हैं। प्रभु की विराट् शक्ति का यहाँ उदात्त चित्रण हुआ है।

यह ब्रह्माण्ड प्रकाश्य और ब्रह्म प्रकाशक है। यह सभी ज्योतियो की ज्योति है। इसी के एक कण से सूर्य, अग्नि, नक्षत्र, चन्द्रमा और वनस्पतियाँ दीप्तिम्ती हो रही हैं। सभी ज्योतिष्मान पदार्थ आर्यों के लिए वरेण्य है। रात्रि के अधकार मे वन्य पशुओ से भीत प्राणी प्रातःकाल होते ही प्रसन्न हो जाते हैं। प्रकाश ज्ञान और आनन्द का प्रतीक हो गया है, एव अज्ञान अधकार और दुःख का। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' में उनके ज्ञान पिपासु हृदय का उद्गार है। अधकार मे रूप और वर्ण का कोई भेद नही रहता, प्रकाश के कारण

सौन्दर्य और वर्ण का बोध होता है। प्रकाश के परमाणु मे सात्विकता और पवित्रता का निवास है। अंधकार में पाप और प्रकाश मे पुण्य की वृद्धि होती है। ऋत की सत्ता का विशेष प्रकाशन ज्योतिष्मान पदार्थों मे पाया जाता है। चंद्र, दीपक और जुगनू की ज्योति सुन्दर होती है, लेकिन सूर्य और अग्नि की प्रदीप्त शिखाएँ उदात्त होती है। इन्द्रधनुष नयनाभिराम है, सुन्दर है; विशाल समुद्र की जल-ज्योति उदात्त है। ब्रह्म ज्योतियो की ज्योति परम ज्योति है, उसका तेज आर्यों को वरेण्य है। उस परम ज्योति के उद्गान मे उदात्त ऋचाएँ प्रस्तुत की गई है :—

> उत्ते बृहन्तो अर्चयः समिधानस्य दीदिवः।
> अग्ने शुक्रास ईरते। ऋ० ८।४४।४
> मन्द्रं होतारमृत्विजं चित्रभानुं विभावसुम्।
> अग्निमीडे स उ श्रवत्॥ ऋ० ८।४४।६

उपर्युक्त मंत्रो मे अग्नि को—अग्निरूप ब्रह्म को—तेजस्वी, कान्तियुक्त और शुक्रवान् कहा गया है। जिस प्रकार अग्नि की प्रदीप्त ज्वालाएँ ऊपर उठती हैं, सूर्य की उज्ज्वल कांतियाँ ऊपर उठती है, भूमिस्थ जल का तेज ऊपर उठता है, उसी प्रकार (हे ब्रह्म) तुम्हारा उत्तम शुक्र ऊपर उठता है। अग्नि चित्र-भानु यानी अद्भुत कान्तियुक्त है। वह दीप्तियुक्त धन का स्वामी विभावसु है। वह सुखजनक—मन्द्र—है। वेदो मे ज्योतिवाचक अनेक शब्द प्रयुक्त हुए है; उनमे मुख्य है —

अर्चि, शुक्र, विभा, वसु, रत्न, स्वर्, हरिणी, देव, प्रभा, पावक, चित्र, रेतस्, भर्ग., और अग्नि..

वह सर्व प्रकाशक परमेश्वर विश्व को अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है। वह सबो के लिए दर्शनीय है और मनोहर रूप से अपने को प्रकट करता है[1] :—

> तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य।
> विश्वमा भासि रोचनम्॥ —ऋ० १।५०।४

हमारे ऋषियो की प्रार्थना है कि वे समस्त अंधकार से परे, सबके

---

[1]देखिए—ऋ० १।६।१—रोचन्ते रोचना दिवि।

ऊपर प्रलयकारी प्रकाशवान् सूर्य को देखते हुए परमज्योति परमात्मा को प्राप्त हो .—

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ —ऋ० १।५०।१०

ज्योति-ज्योति कहने से ही उदात्त का अकन नही होता, उसमे आत्मा का उन्नयन, विराटीकरण और बिम्बग्रहण का धर्म अपेक्षित है। ऊपर के उद्धरण मे हम इन गुणो को वर्त्तमान पाते है। सूर्य और अग्नि के रूप मे जहाँ ब्रह्म की स्तुति की गई है, वहाँ ज्योतिमूलक उदात्त के अनेक उदाहरण मिल जाते है।

ज्योति के उपरात हमारा ध्यान गति पर जाता है। चद्र, सूर्य, नक्षत्र, पवन, निर्झर, सरित् आदि गतिशील दृष्टिगोचर होते है। प्राण की गति है, इसलिए जीवन है। गति जीवन और स्थिरता-मृत्यु है। विश्व मे जहाँ कही भी गति दीख रही है, उसका मूल स्रोत ब्रह्म है, वही सबो की परम गति है। गति ऋत का एक व्यक्त रूप है। इसके कारण जगत् मे प्राण है, परिवर्तन है, नवजीवन है। मरुत् देवता जब अपने प्रचड वेग से पृथ्वी को धूलधूसरित करते, तृण-पत्र को विघूर्णित करते, वृक्ष की शाखाओ को तोड़ते मरोड़ते बहने लगते है तो मन मे सुन्दरता की नही उदात्त की अनुभूति होती है। पर्वत शिखर से नीचे की ओर उमडता हुआ निर्झर का वेग भी उदात्त है। समुद्र का भीषण गर्जन भी हमारे मन को आतकित करता है। औदात्य की अनुभूति के समय व्यक्ति का मन आत्मसमर्पण कर देता है, लेकिन सौन्दर्यानुभूति मे सुन्दर वस्तु द्रष्टा के सामने आत्मसमर्पण करती है। गतिमूलक उदात्त के यहाँ दो उदाहरण दिए जाते है .—

ईशानकृतो धुनयो रिशादसो वातान्
विद्युतस्त विषीभिरक्रत ।
दुहन्त्यूधर्दिव्यानि धूतयो भूमिं
पिन्वन्ति पयसा परिज्रयः ॥ —ऋ० १।६४।५

उक्त श्लोक में मरुत् प्राणो का उत्पादक होने से ईशानृकृत है। रोग-विनाशक होने के कारण रिशादस है और वृक्षो को कँपाने के कारण धुनि है। वह मेघो से विद्युत् उत्पन्न करता है और अन्तरिक्ष से ओसरूप दूध को दुहता

है। सर्वत्र गमन करने के कारण वह परिज्रि है। नीचे के मत्र मे मरुत् को घर्षण उत्पन्न करने वाला, पवित्रकारक, पृथक्-पृथक् बाँटने वाला, विलेखन करने वाला, और जीव का प्रेरक कहा गया है। उसे रुद्र का पुत्र भी कहा गया। लोक का सचालन करने के कारण वह रजस्तुर है।

घृषुं पावकं वनिनं विचर्षणिं
रुद्रस्य सूनुं हवसा गृणीमसि।
रजस्तुरं तवसं मारुतं गणमृजीषिणं
वृषणं सश्चत श्रिये ॥ —ऋ० १।६४।१२

अग्नि, मरुत्, मेघ, विद्युत् और राजा को लक्ष्य कर के इस प्रकार के अनेक मत्र कहे गए है। जिस चित्रण मे गति मूर्त्त रूप मे अकित हो, जहाँ उसका व्यापार सार्वभौम प्रतीत हो, वहाँ निश्चित रूप से गतिमूलक उदात्त है। राष्ट्र के परिपालक राजा के गत्यात्मक रूप का यहाँ कैसा सजीव चित्रण हुआ है :—

उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च।
सासह्वाँश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा॥ यजु० ३९।७

अर्थात्, वह राजा भयकर और सदा वायु के समान प्रचड वेग से आक्रमण करने से उग्र है, भयप्रद होने से भीम है, अधकार के समान शत्रुओ को मूढ कर देने से ध्वान्त है, कँपाने के कारण धुनि है, पराजित करने के कारण सासह्वान् है, शत्रुओ को तितर-बितर करने के कारण विक्षिप है, उन पर आक्रमण करने के कारण अभियुग्वा है। वह नमन करने योग्य है। उपर्युक्त मत्र का प्रत्येक शब्द अपने आप मे वज्रघोष है। इन्द्र के वज्र-वाण को सहन करना आसान है, लेकिन ऋषि के शब्द-वाण को सहन करना अत्यन्त कठिन। उग्रश्च, भीमश्च, ध्वान्तश्च. ऐसे पद है जो कर्णकुहरो मे तीव्र प्रकम्पन उत्पन्न करते है, मानस को दोलायमान करते है और राजा के भीम रूप को प्रत्यक्ष करते है। यहाँ शैली मे ऊर्जा, ओज और वेग का अद्भुत सचार हुआ है। इन्द्र के रूप मे सेनापति की स्तुति करते समय एक से एक गत्यात्मक विशेषण प्रयुक्त हुए है :—

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो
घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम।

संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः
शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः ।। ऋ० १०।१०३।१

अर्थात्, हमारा सेनापति, जो साक्षात् इन्द्र है, आशु है, वेग से शत्रु पर आक्रमण करता है, साँड के समान भयानक और शत्रुओ का नाश करने वाला है। वह शत्रुओ को रुलाने वाला है। वह अनिमिष है, अर्थात् कभी भी पलक नहीं मारता, सदा सावधान रहता है। वह नायक सहित अनेक दलों पर विजय करता है। वह एक ही शूर है।[1] पहली पक्ति मे श-ष की ध्वनि शत्रु सैन्य को सिहराने वाली प्रतीत होती है, जैसे कोई प्रचड समीर शैल शिखर को हिलाता हुआ बह रहा हो। दूसरी पक्ति मे ध-क्ष-र्ष आदि अक्षरो की ध्वनि भयकर समुद्र को मथित करती प्रतीत होती है। ऐसे पद शब्दो के बीच ही नही पाठक के मन मे भी घूर्णिचक्र उत्पन्न करते है। गति और वेग की तीक्ष्णता के सामने पलके गिर-गिर जाती है, धारा की प्रखरता पैर को जमने नही देती। सेनापति का गत्यात्मक रूप औदात्य की अनुभूति उत्पन्न करता है।

आर्य ऋषियो ने समस्त भूत समुदाय की मगल कामना की है। कोई विशेष भूखड उनका देश नही, कोई विशेष राजा उनका शासक नही, कोई विशेष सम्प्रदाय उनका धर्म नही। जिस कर्त्तव्य से जीवमात्र का कल्याण हो, वही उनका धर्म है। समस्त पृथिवी उनकी माता और पर्जन्य रूप परमात्मा उनके पिता है। वे शिव का विकास और शिवेतर का विनाश चाहते है। लता, वनस्पति, कीट-पतग, दिवा-रात्रि सभी उनके मित्र हैं। लोक-कल्याण की इस विशद भावना ने ऋषियो को सनातन कवि और वेदो को सनातन काव्य बना दिया है।

स्वस्ति, शान्ति, स्वाहा और श या शिवम् के प्रयोग वेदो मे कई भावपूर्ण स्थलों पर हमें उपलब्ध होते हैं। स्वस्ति का धातुगत अर्थ हुआ, यह हमें सुख पहुँचावे। इन्द्र, पूषा, बृहस्पति, वरुण आदि देवताओ से प्रार्थना की गई है कि वे हमारे लिए सुख पहुँचावें—हमारा स्वस्ति करें। स्वस्तिका 卐—यह चिह्न आर्य-परिवार में सुख पहुँचाने का प्रतीक समझा जाता है। स्वस्तिका में सुख के साथ शाश्वत गति का भी सकेत है। सभी देवता, ग्रह, वनस्पति, सर सरित्, कीटपतग आदि आर्य ऋषियो की सतत कल्याण कामना करते रहते

---

[1]यही मंत्र यजुर्वेद, अध्याय, १७ में मंत्र संख्या ३३ में भी आया है।

है। प्रत्येक दिशा, दिवा, रात्रि, पल, मूहूर्त्त, सवत्सर, आदि उनकी शुभ कामना मे सलग्न है। सबो की सहायता करने वाला, सबो से सहायता की कामना कर सकता है। ऋषियो ने सबो की कल्याण कामना की है, इसलिए वे सबो से कल्याण की याचना करते है। शुभ अवसर पर आशीर्वाद के समय अब भी मत्रोच्चार के द्वारा हम राष्ट्र की मगल कामना करते हैं :—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा
राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽति व्याधी महारथो जायतां
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां
योगक्षमो नः कल्पताम् ॥ —यजु० २२।२२

अर्थात्, हे परमेश्वर, राष्ट्र मे ब्राह्मण ब्रह्म तेज से युक्त हो। क्षत्रिय शूर धनुर्धर और शीघ्र ही शत्रु को पराजित करने वाले हो। वे रथारोही वीरो के स्वामी, महारथी हो। राष्ट्र मे गाय बहुत दूध देने वाली हो, बैल बोझा ढोने मे समर्थ हो, घोडा अतिवेगवान् हो। स्त्री कुटुम्ब को धारण करने मे समर्थ हो। रथ पर स्थित वीर विजयशील हो। राष्ट्र मे साधु, उत्तम वक्ता और वीर पुरुष हो। मेघ प्रार्थना करने पर वर्षा करे। औषधियाँ सफल और परिपक्व हो। हमारे राष्ट्र मे योग और क्षेम सुरक्षित रहे। उनकी प्रार्थना है कि जो भी पदार्थ विश्व मे शातिदायक हैं, वे सभी हमारे लिए कल्याण-कारी हो। हमे शाति प्राप्त हो, हमे अभय प्राप्त हो :—

यानि कानि चिच्छान्तानि लोके सप्त ऋषयो विदुः।
सर्वाणि शं भवन्तु मे शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु ॥
—अथर्व १६।६।१३

अथर्व वेद के काड १६, सूक्त १० मे केवल श की कामना की गई है—श न इन्द्राग्नी...श नो भग...श न. सत्यस्य.. श न पर्वता ध्रुवयो भवन्तु श नः सिन्धव . इत्यादि। यजु० २५।१६ मे स्वस्तिमूलक यह मत्र प्रसिद्ध है :—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्ट नेमिः स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु ॥

शाति-पाठ तो हमारी विद्या का, सस्कृति का एक अभिन्न अग बन गया है। प्रत्येक पाठ के प्रारभ में ऋषि शाति-पाठ के द्वारा त्रिविध ताप की शाति करना चाहते है। पाठ के अत मे भी 'शान्ति' कहा जाता है। हमारे कार्य के आदि, मध्य और अत तीनों मे शाति-पाठ का विधान है। ॐ शाति — यह तो मानो आर्य जीवन का मूल मत्र बन गया है। शाति-पाठ के मूल में सुख-शाति और कल्याण की ही कामना है। हम शाति की कामना करते है, हम शाति की याचना करते है। सबो को शाति मिले, हमे भी शाति मिले। सासारिक यातनाओ से व्यक्ति प्राय दुखित और अशात रहता है, चित्त मे शाति मिली कि उसे सुखानुभूति हुई और उसका कल्याण भी हुआ। अशात जीवन मे शाति का मत्र हमे सान्त्वना प्रदान करता है। स्वस्थ, शात और शुद्ध चित्त से 'शान्ति' का उच्चारण चतुर्दिक् वातावरण मे शाति का सचार कर देता है —

द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष॑ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः
शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवा शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः
सर्व॑ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।

—यजु० ३६।१७; अथर्व १६।६।१४

इसी प्रकार निम्नलिखित मंत्र मे दिव्य जल से शाति की कामना की गई है। ऋग्वेद मे भी श वाचक अनेक मत्र है।[१]

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शं योरभि स्रवन्तु नः।

—यजु० ३६।१२

अर्थात्, दिव्य गुणो से युक्त जल इष्ट कार्य को सिद्ध करने के लिए हमे शातिदायक हो। वे जल पान और पालन करने के लिए भी हों। वे हमे शाति-सुख के वर्षण करने और बहाने वाले हो। स्वाहा देवता की स्तुति में और स्वधा पितर के लिए प्रयुक्त होता है। ये दोनो शब्द नमस्कार, समर्पण और स्तवन के लिए प्रयुक्त होते है। सदर्भ के अनुसार स्वाहा का अर्थ बदलता

---

[१]**शन्नो मित्रः शंवरुणः शन्नो भवत्वर्यमा**
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ ऋ० १।६०।६

रहता है। इसका साधारण अर्थ सत्कार करना या अर्पित करना है। हवन करते समय 'स्वाहा' का अनवरत प्रयोग वातावरण को भव्यता और सौरभ से परिपूर्ण कर देता है। इससे हमारे मानस मे अनुगुजन उत्पन्न होता है, और लगता है कि हम किसी दिव्य लोक मे अनायास सतरण कर रहे हैं। स्वाहा के निनाद के सामने सासारिक क्षुद्रता विलीन हो जाती है, दिव्य भव्यता, लोकोत्तरता का स्वत प्रादुर्भाव हो जाता है। नेत्रो के सामने अग्निदेव की प्रज्वलित अर्चियो की आभा दीखने लगती है। स्वाहा की बार-बार की आवृत्ति से चित्त मे सात्विकता और पवित्रता की अनुभूति होती है। मानव लोक से, ऐसा प्रतीत होता है, ऊपर उठ कर हम देव लोक मे प्रवेश करते रहते है। भव्यता, दिव्यता और महतीयता के कारण स्वाहा मे परिपूरित मत्र उदात्त की श्रेणी मे परिगणित होगे :—

> वाचे स्वाहा प्राणाय स्वाहा प्राणाय स्वाहा।
> चक्षुषे स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्रायस्वाहा श्रोत्रायस्वाहा ॥
>
> —यजु० ३९।३
>
> आयासाय स्वाहा प्रायासाय स्वाहा सयासाय स्वाहा
> वियासाय स्वाहा। उद्यासाय स्वाहा। शुचे स्वाहा
> शोचते स्वाहा शोचमानाय स्वाहा शोकाय स्वाहा।
>
> —यजु० ३९।११

अर्थात्, अगों के व्यापक श्रम के लिए उत्तम अन्न खाओ। उत्तम परिश्रम के लिए उत्तम अन्न खाओ। सम्मिलित प्रयत्न के लिए, विविध अगो के श्रम के लिए, उठाने के परिश्रम के लिए भी उत्तम अन्न को ग्रहण करो। शरीर की शुचिता और कान्ति के लिए उत्तम आहार करो। शुद्ध विचार के लिए शुद्ध आहार करो। तेजस्वी विचार के लिए तेजस्वी आहार करो। स्वाहा का अर्थ यहाँ 'आहार करो' होने से बात स्पष्ट होती है। श-शान्ति-स्वाहा वाचक मत्रों मे यहाँ बिम्ब-विधान का प्रायः अभाव है। भावना मूर्त्तिमती नही हो पाई है; इसलिए प्रश्न उठता है, इसे उत्तम काव्य या उदात्त चित्रण कैसे समझा जाय ? औदात्य का निवास रूपक, उपमा या उत्कृष्ट बिम्ब मे ही हो यह अनिवार्य नही है। और, बिम्बग्राहकता किसी अलकार के ही माध्यम से हो यह भी युक्ति-युक्त नही है। अनुभूति को प्रभावशाली रूप में उपस्थित करना अलंकरण के बिना भी सभव है। यो, अलकार के

आचार्य वहाँ भी प्रश्नालकार या स्वभावोक्ति या और कोई अलकार जड़ देंगे—यह और बात है। आचार्य मम्मट ने अलकार नहीं रहने पर भी काव्य की सत्ता स्वीकार की है। उपर्युक्त उद्धरणो मे औदात्य की उपस्थिति का कारण श-स्वाहा आदि द्वारा वातावरण का उन्नयन हैं। उक्त मन्त्रो के मूल मे जो भावनाएँ व्यक्त हुई है, वे सार्वभौम है, शुचि है और सनातन है। स्वार्गिकता का सात्विक निनाद उनमे वर्तमान है—इसलिए वे उदात्त है। शुद्ध हृदय से निखिल भूत समुदाय की कल्याण-कामना स्वत. एक उदात्त स्वर है। लोक कल्याण का उदात्त भाव ऋषियो की लोकोत्तर वाणी मे स्वतः प्रस्फुटित हुआ है। शाति का यह भव्य रूप अन्य भाषा के साहित्य मे सर्वथा दुर्लभ है। शाति या स्वस्तिमूलक उदात्त वैदिक साहित्य की निजी सम्पत्ति है।

विस्मयजनित अभिभूति औदात्य का प्रमुख धर्म होने के कारण स्नेह, प्रीति और वात्सल्य के भाव इसके अतर्गत नहीं आते है। ये सौन्दर्यानुभूति के क्षेत्र मे आते है। लेकिन, किसी ने कहा है कि उदात्त सुन्दरता का ही एक विस्तृत रूप है। मेरी भी मान्यता है कि स्नेह या प्रणय जब व्यक्ति की परिधि को तोड कर विभु या विराट होने लगे, तो वह उदात्तीकृत हो जाता है। अपनी प्रेमिका के नयन की नीलिमा जब आकाश मे अभिव्याप्त हो जाय तो वह प्रेम क्षुद्र नही महत् हो उठता है। वस्तु वही है, रूप वही है, केवल द्रष्टा की तीव्र अनुभूति के कारण लघु विराट हो जाता है, अल्प भूमा हो जाता है। विन्दु सुन्दर है, सिन्धु उदात्त है। व्यक्ति सुन्दर है, विश्व उदात्त है, शिलाखड सुन्दर है, हिमालय उदात्त है। यहाँ औदात्य का कारण अनुभूति के अतिरिक्त दृश्य का अनत विस्तार भी है। औदात्य की निष्पत्ति का कारण आश्रय का मानसिक गाभीर्य तो है ही, आलम्बन का, दृश्य का अपत्ता विस्तार भी उसका हेतु होता है। प्रीति या स्नेह अपनी सीमा में सुन्दर है, क्योकि दृश्य के साथ द्रष्टा का चित्त रमण करता रहता है; लेकिन, यदि प्रीति की व्यापकता का अत्यधिक प्रसार होता जाय, तो वही उदात्त की सीमा तक पहुँच जाता है। अपनी स्वाभाविक सुन्दरता के कारण वधू रमणीय दीखती है, लेकिन उसमे सरस्वती या लक्ष्मी का सौन्दर्य प्रस्फुटित होने लगे तो वह देवी बन जाती है, उदात्त हो जाती है। वेदो मे ऐसे कई स्थल हैं जहाँ प्रीति या वात्सल्य अपनी सीमा से ऊपर उठ कर औदात्य की अनुभूति प्रदान करता है। निम्नलिखित मत्र मे वात्सल्य का उदात्तीकरण हुआ है :—

संगच्छमाने युवती समन्ते
स्वसारा जामी पित्रोरुपस्थे ।
अभिजिघ्रन्ती भुवनस्य नाभिं
द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात् । ऋ० १।१८५।५

अर्थात्, जिस प्रकार आकाश और पृथिवी सहोदर भाई-बहन की तरह एक-दूसरे से मिले हुये है, और ससार के केन्द्र को धारण करते है, उसी प्रकार हमारे माता-पिता वधुवत् मिल कर रहे और अपने से उत्पन्न बालक की नाभि का प्रेम से चुम्बन करे। यहाँ द्यावा पृथिवी का प्रेम माता-पिता के प्रेम के समान चित्रित हुआ है। पारिवारिक प्रेम की परिधि आकाश के समान व्यापक हो कर उदात्त हो गई है। पृथ्वी और आकाश सहोदर भाई-बहन की तरह मिले हुए है—इस कथन मे प्रेम निःसीम आकाश को भी बाँध रहा है। द्यावा भुवन की नाभि को सूँघ रहा है, इस उक्ति मे स्नेह का कितना व्यापक रूप चित्रित हुआ है। यह सृष्टि शिशु की तरह धरती और आकाश की गोद मे मुस्कुरा रही है। दिवा-रात्रि का वात्सल्य इस मत्र मे देखिए —

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुपधापयेते ।
हरि रन्यस्यां भवति स्वधावञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः ॥
—ऋ० १।९५।१

अर्थात्, दो विभिन्न रूप वाली स्त्रियाँ अपने शुभ प्रयोजन के निमित्त विचरती है। वे दोनो एक-दूसरे के बच्चे को दूध पिलाती और पोसती है। एक की गोद मे मनोहर श्याम रग का बालक है और दूसरी की गोद मे शुक्र, उज्ज्वल वर्ण का बालक है। रात्रि के गर्भ से उत्पन्न बालक सूर्य का पोषण दिवा करती है और दिवा से उत्पन्न अग्नि का पोषण रात्रि करती है। दिवा और रात्रि के दो रूप है, दो गुण है, लेकिन ये दोनो मिल कर जगत् का कल्याण करती रहती है। सृष्टि के मूल मे वात्सल्य का यह विशद रूप देख कर मन विस्मित हो उठता है। दिवा-रात्रि या आकाश-पृथिवी भुवन रूपी शिशु का किस स्नेह से पालन कर रहे है। वधू का मगलमय रूप भावना की विशदता के कारण कितना दिव्य हो सकता है, यह इन ऋचाओ मे दर्शनीय है :—

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥

या गुङ्गूर्या सिनीवाली या राका या सरस्वती ।
इन्द्राणीमह्व ऊतये वरुणानीं स्वस्तये ।।
—ऋ० २।३२।६, ८ तथा यजु० ४३।१०

अर्थात्, हे प्रेम बधन से वरण करने वाली, विस्तृत जघन वाली, तू विद्वान् पुरुष को अपनी इच्छानुसार वरण करने वाली है । तू हव्य और आहुति को (आदर से दिये गये द्रव्य को) प्रेम से स्वीकार कर । हे देवि, तू हमे उत्तम सतान प्रदान कर । जो अस्फुट, लज्जाशील और प्रेम से युक्त (सिनीवाली) हो, जो चाँदनी रात के समान मनोहर और सुखद हो, जो ज्ञान मे सरस्वती और ऐश्वर्य मे इन्द्राणी हो, जो दुख का वारण करने वाली वरुणानी हो, उस श्रेष्ठ स्त्री को मैं अपने कल्याण के लिए समीप बुलाता हूँ । मैं ऐसी स्त्री का वरण करूँ । सुन्दर वाहु, अगुलि और रूप वाली युवती को सुवाहुः, स्वङ्गुरि , सुषूमा कहा गया है । बहुत पुत्र उत्पन्न करने वाली को बहुसूवरी कहा गया है । अत्यत प्रेम वाली युवती को 'सिनीवाली' से सबोधित किया गया है । उपर्युक्त मन्त्रो मे पतिवरा युवती या नवविवाहिता वधू का भव्य रूप अकित हुआ है । देव, हव्य, आहुति, प्रजा आदि शब्द वैवाहिक जीवन को मत्रपूत यज्ञ बना देते है । प्रजोत्पादन लोक-कल्याण का, सृष्टि का एक अभिन्न अग बन जाता है । विवाह जीवन-यज्ञ का एक पवित्र सस्कार है । वधू को सिनीवाली, राका, सरस्वती, इन्द्राणी, और वरुणानी कहा गया है । यह वधू क्या है, मानो सौन्दर्य, प्रणय, शीतलता, ज्ञान, ऐश्वर्य और सुख-शाति की प्रयत्क्ष देवी है । सुवाहु, सुषूमा, राका, सिनीवाली युवती लक्ष्मी और सरस्वती के रूप मे रूपान्तरित हो जाती है । सिनीवाली की सुन्दरता सरस्वती की उदात्तता मे परिणत हो जाती है । जहाँ कथन उद्गार बन जाय, वर्णन उद्गान हो जाय, सूक्ति मत्र में रूपायित हो जाय, समझिए कि वहाँ औदात्य अवतरित हो चुका है ।

पारिवारिक या सामाजिक सबध में हम एक-दूसरे के अनुकूल रहते हैं । प्रतिकूलता मे दुख और अनुकूलता में सुख की अनुभूति होती है । कुछ प्राणियों के बीच अनुकूलता का दर्शन साधारण बात है, लेकिन ग्रह, नक्षत्र, आकाश, पृथिवी, जल, समुद्र, वायु आदि तत्वों में अनुकूलता की अनुभूति असाधारण प्रसग है । ब्रह्माण्ड के सभी तत्वो में पारस्परिक आनुकूल्य या दिव्यराग का अनुभव ऋषि को उदात्त भूमि पर पहुँचा देता है । वह सन्नत या आनुकूल्य प्रेम की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है । प्रणय या प्रेम शब्द का प्रयोग वेदों मे

अवश्य होगा, लेकिन खोजते रहने पर भी यह मुझे अब तक नही मिला है। (प्रेम का दर्शन दुर्लभ है!)। 'जोष' शब्द प्रेम-विषयक भाव को कही-कही अभिव्यक्त करता है। 'जोषा' प्रेमिका या पत्नी के लिए प्रयुक्त होता है। निम्न-लिखित मंत्र मे 'सनत', आनुकूल्य या प्रेम का अत्यत उच्च अकन हुआ है :—

अग्निश्च पृथिवीच सन्नते
ते मे संनमतामदो।
वायुश्चान्तरिक्षं च सन्नते
ते मे संनमतामद ॥
आदित्यश्च द्यौश्च सन्नते
ते मे संनमतामद।
आपश्च वरुणश्च सन्नते
ते मे संनमतामदः ॥—यजु० २६।१

अर्थात्, अग्नि या सूर्य और पृथिवी दोनो परस्पर एक-दूसरे के अनुकूल रहते है, वे मुझ पर भी अनुकूल हो। वायु और अतरिक्ष, सूर्य और आकाश, जल और वरुण ये सब परस्पर अनुकूल रहते हैं, ये मुझ पर भी सदा अनुकूल रहे। ऋषि अग्नि, पृथ्वी, आकाश, सूर्य, वायु सभी तत्वो का स्नेह चाहते हैं। जो अपने मे अनुकूल है, वे दूसरे पर भी अनुकूल रह सकते हैं। विश्व की यह अनुकूलता ऋत-शक्ति के कारण है। ऋत अपनी अभिव्यक्ति प्रत्येक व्यापार में करता रहता है। ऋत निखिल ब्रह्माड की नाभि है। ऋषि इस नाभि-देश मे भावना के द्वारा प्रवेश करना चाहते हैं। ऋतमय होना, तन्मय होना एक ही बात है। ऋत के साथ रागात्मक सबध की अनुभूति उदात्त है। ऐसे चित्र प्रीतिपरक उदात्त कहे जा सकते है।

यदि सृष्टि की सारी बातें जान ली जायँ, सभी स्पष्ट हो जायँ, तो फिर इसका आकर्षण भी समाप्त हो जायगा। जाना से अनजाना अच्छा होता है, क्योकि वह व्यक्ति को जानने के लिए सतत क्रियाशील रखता है। कुछ अधकार, कुछ-कुछ प्रकाश, कुछ झिलमिल, कुछ उस पार की बातें बड़ी लुभावनी होती हैं। क्षितिज के परदे में क्या है? मृत्यु के बाद क्या है? सृष्टि के आदि मे क्या है? वह प्रभु कैसा है? यह पवन किस देश से आता है आदि जिज्ञासाएँ हमे जीवित रखती हैं। यदि दुनिया दो और दो बराबर चार की तरह साफ हो जाय

तो फिर जीने के मजे खत्म हो जायँ। ब्रह्म के विषय में कुछ बातें कह कर अत मे 'नेति-नेति' कह दिया गया। सूर्य को ज्योति प्रदान करने वाली वह परम ज्योति कौन है ? काल का प्रारभ कब से हुआ ? जन्म के पहले हम कहाँ थे ? सत्य का मुख हिरण्यमय पात्र से किसने ढँक दिया ? सबो को हम आँख से देखते है, आँख को किससे देखें। विज्ञातारम् केन विजानीयात् ? अज्ञात या रहस्य को जानने का प्रयास भी रहस्यमय हो जाता है।

> **यस्ता चकार सकुह स्विदिन्द्रः**
> **कमा जनं चरति कासु विक्षु।**
> **कस्ते यज्ञो मनसे शं वराय,**
> **को अर्क इन्द्र कतमः स होता॥—ऋ० ६।२१।४**

अर्थात्, जो सृजन करता है वह इन्द्र, प्रभु कहाँ है ? वह किसको प्राप्त होता है। वह किन प्रजाओ मे व्याप्त है ? हे इन्द्र तेरा वह यज्ञ किस प्रकार का है, जिससे चित्त को शाति मिले ? तेरी अर्चना का क्या उपाय है ? श्रेष्ठ पद कैसे प्राप्त हो ? हे प्रभो, सबसे श्रेष्ठ वह कौन दाता है ? यहाँ कई जिज्ञासाएँ प्रश्न के रूप में फूट पडी है—सकुह, कमाजनं चरति, कस्ते यज्ञः, क अर्क., कतम· सहोता आदि। प्रत्येक जिज्ञासा हमे सीमा से ऊपर उछाल कर अनत शून्य मे छोड़ देती है। हमारा मन आकाश मे चील की तरह मँडराता रहता है। केवल प्रश्न, समाधान कुछ नही। जगत् किसने सिरजा ? वह है कहाँ ? कैसे मिलता है ? किसको मिलता है ? उपाय क्या है ? इन प्रश्नों से हमारे चित्त मे एक सुखद औदात्य उत्पन्न होता है। हम शून्य की ओर निर्निमेष निहारते रह जाते है। नीरव गाने गाते हुए हम कहाँ खो जाते है ! हम नि.सीम होना चाहते है। रहस्य की यह औदात्य भरी सुखद अनुभूति उदात्त है। इस मत्र की रहस्यमयी अनुभूति और ही अपूर्व है :—

> **कतरा पूर्वा कतरा परायोः कथा जाते कवयः को विवेद।**
> **बिश्वंत्मना बिभृतो यद्ध नाम विवर्तेते अहनी चक्रियेव॥**
> **—ऋ० २।१८५।१**

अर्थात्, माता-पिता या पृथिवी-आकाश इन दो में से पहले कौन उत्पन्न हुआ ? पीछे कौन उत्पन्न हुआ। ये उत्पन्न ही क्यो हुए ? यह रहस्य कौन जानता है ? रात और दिन रथ के दो पहिये की तरह कहाँ जा रहे हैं ?...ऐसे विस्मय-

जनक प्रश्न मन को यथार्थ जगत् के घेरे से ऊपर उठा कर कल्पना के नि सीम गगन मे ले चलते है । व्यक्ति का मन विशाल वट वृक्ष से गिरे हुए एक पत्ते की तरह अनत प्रवाह मे अनायास बहता जाता है । जग के चित्राधार को जानने की जिज्ञासा महादेवी वर्मा जी की इन पक्तियो मे व्यक्त हुई है —

कनक से दिन मोती सी रात,
सुनहली साँझ गुलाबी प्रात ।
मिटाता रँगता बारम्बार,
कौन इस जग का चित्राधार !

अभी तक उदात्त के जिन भेदो का उल्लेख हुआ है वे मुख्यत भावावेग और विचारोत्कर्ष पर अवलबित है । अलकार विशेष के प्रयोग द्वारा औदात्य की उपलब्धि पर कुछ नही कहा गया है । अलकार मूल भाव के सम्प्रेषण मे सहायक सिद्ध होता है । भाव से भिन्न उसका कोई महत्व नही है । अलकार्य की गौरव-वृद्धि के लिए के लिए अलकार आता है । कुछ अलकार तो अनुभूति की अभिव्यक्ति के साथ ही अनिवार्यत प्रकट हो जाते है, जैसे फूल के साथ उसका वर्ण और गध, लेकिन कुछ ऐसे भी है जो कवि के शैल्पिक प्रयास के द्वारा, अनुभूति को भास्वर या प्रभावोत्पादक बनाने के लिए प्रयुक्त होते है । कवि की कला की सफलता इसमे है कि वह प्रयास पाठक को अनायास प्रतीत होता है । फिर भी, कवि कौशल का स्पर्श वहाँ देखा जा सकता है । रूप के साथ एकात्म भाव से प्रकट होने वाले अलकार कवि की प्रतिभा के परिचायक होते है और कौशल द्वारा आने वाले अलकार उसके शैल्पिक गुण के द्योतक होते है । यह कहा जा चुका है कि उदात्त का कारण भाव की विशदता या महनीयता होती है कवि का वाह्य कौशल नही, फिर भी वह कौशल तटस्थ भाव से थोड़ा देखा जा सकता है । अलकार का सागोपाग निरूपण, यह सत्य है, भाव को कस देता है, उसे मस्ती के साथ खिलने नही देता । अलकार नियोजन मे कौशल तत्व कुछ प्रखर हो उठता है, इसलिए अनुभूति की सहजता और प्रखरता कुछ कुठित हो जाती है । अलकार से आवेष्टित उदात्त उत्तम नही, मध्यम होता है, और कभी-कभी तो हीन भी । यदि सौन्दर्य की तरह, क्रोचे के मतानुसार, उदात्त मे भी श्रेणियाँ नही मानी जायँ, तो अलकार पर आश्रित उदात्त उदात्त नही समझा जायगा । रामचरित मानस के प्रारभ और अंत मे दो लम्बे रूपक रखे गए हैं; वे ज्ञानवर्द्धक अधिक है, भावोत्तेजक कम । उनमें न औदात्य है न सौन्दर्य । यह और

बात है कि उनके औचित्य और पाडित्य का ख्याल कर हम प्रसन्न हो जाते है। वहाँ प्रसन्नता है, रमणीयता या आह्लादकता नही। वेदो मे ऐसे कई स्थल है जहाँ औदात्य की व्यजना रूपक अलकार पर आश्रित है। रूपक की योजना और विचार की व्यजना ऐसे उच्च स्तर से हुई है कि, कुल मिला कर, हमे औदात्य की अनुभूति हो जाती है। रूपकाश्रित उदात्त के दो-एक उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं :—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
> समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यन
> श्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ ऋ० १।१६४।२०

अर्थात्, ब्रह्म और जीव दो पक्षी की तरह ससार रूपी वृक्ष पर एक साथ निवास करते है। ब्रह्म रूपी पक्षी वृक्ष के फल (सुख-दुख) को केवल देखता है और जीव उसका स्वाद चखता है। जीव सासारिक भोगो मे लिप्त होता है, इसलिए दुख उठाता है, ब्रह्म निर्लिप्त रहता है, साक्षी मात्र होता है, इसलिए वह सुख-दुख से परे है। जीवात्मा और परमात्मा दोनो प्रकाशरूप हैं—दोनो यहाँ सखा रूप में एक ही डाल पर निवास करते है। जीव, जगत् और ब्रह्म के रहस्य को रूपक की भाषा में बडी सुन्दरता के साथ स्पष्ट किया गया है। इस मत्र के आधार पर विद्वानो ने द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत के दर्शन तैयार किये हैं। इसका भाव गूढ, महान् और विचारोत्तेजक है। हमारी कल्पना का विहग भाव के सुनील आकाश मे मँडराने लगता है। जो असाधारण है, महान् है, कल्पना को सुदूर देश मे पहुँचाता है, वह निश्चय ही उदात्त है। यहाँ रूपकातिशयोक्ति के द्वारा औदात्य की उद्भूति होती है। निम्नलिखित मत्र मे संसार को वृक्ष, जीवगण को पक्षी और सूर्य को पिता या परमेश्वर कहा गया है। जो इस पिता को नही जानता है, वह परमानद फल को प्राप्त नही करता :—

> यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
> तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥
> ऋ० १।१६४।२२

यजुर्वेद के बीसवें अध्याय के कुछ मत्रो में राजा के मुख से उसके विराट् रूप का उल्लेख हुआ है। राजा का कथन है कि राष्ट्र में प्रतिष्ठित शोभा या

ऐश्वर्य मेरा शिर और यश मुख है। शौर्य और काति मेरे केश है। मैं अमृत रूप राष्ट्र का प्राण हूँ। सभासद के विद्वान् मेरे नयन हैं। राष्ट्र-कल्याण मेरी जिह्वा है, वाणी विज्ञान है। इन्द्र मेरी भुजा और क्षात्रबल मेरी छाती है। सारा जनपद मेरी पसुलियो के समान है। मेरा उदर प्रजा है...जघा .। मैं राजा स्वय शरीरधारी धर्म हूँ. ।

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि ।
राजा मे प्राणोऽअमृतं सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥
जिह्वा मे भद्रं वाङ्महो मनो मन्युः स्वराड् भामः ।
मोदा प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्र मे सहः ॥

—युज० २०।५, ६

मेरी दृष्टि मे रूपकाश्रित उदात्त के उदाहरणो मे, वेदों में पुरुषसूक्त और उपनिषदो मे ऊषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर· .ये सर्वोत्कृष्ट है। बृहदारण्यकोपनिषद के प्रथम ब्राह्मण के प्रारभ मे अश्व के अवयवो में कालादि दृष्टि का आरोपण किया गया है। यह विराट् विश्व अश्व के रूप मे इस प्रकार चित्रित है .—

ॐ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः ।
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः
संवत्सर आत्माश्वस्यमेध्यस्य ।
द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं
दिशः पार्श्वे अवान्तर दिशः पर्शव
ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्य—
हो रात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्रा रायस्थीनि नभो मांसानि ।
ऊवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च
पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्यु—
द्यन्पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो
यद्विजृम्मते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति
यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् ।

—बृह० १।१।१

अर्थात्, ॐ उषा (ब्राह्म मुहूर्त) यज्ञ सबधी अश्व का सिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि खुला हुआ मुख है और संवत्सर यज्ञीय

अश्व की आत्मा है। द्यु लोक उसकी पीठ है, अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी पैर रखने का स्थान है, दिशाएँ पार्श्वभाग हैं, अवान्तर दिशाएँ पसलियाँ है, ऋतुएँ अङ्ग है, मास और अर्द्धमास पर्व (सन्धि स्थान) हैं, दिन और रात्रि प्रतिष्ठा (पाद) है, नक्षत्र अस्थियाँ है, आकाश (आकाश स्थित मेघ) मास है, बालू ऊवध्य (उदरस्थित अर्द्धपक्व अन्न) है, नदियाँ नाडी है, पर्वत यकृत् (जिगर) और हृदयगत मास खण्ड है, ओषधि और वनस्पतियाँ लोभ है, ऊपर की ओर जाता हुआ सूर्य नाभि से ऊपर का भाग और नीचे की ओर जाता हुआ सूर्य कटि से नीचे का भाग है। उसका जम्हाई लेना बिजली का चमकना है और शरीर हिलाना मेघ का गर्जन है। वह जो मूत्र त्याग करता है वही वर्षा है और वाणी ही उसकी वाणी है।

भू:, भव. और स्व—ये तीनो लोक अश्व के विराट् रूपक मे समा गये हैं। ऊषा का उस अश्व का मस्तक, सूर्य नेत्र और वायु प्राण है। अश्व का खुला हुआ मुख वैश्वानर अग्नि है। द्यु लोक पीठ के रूप मे कल्पित है। वनस्पतियाँ लोभ और नदियाँ नाडियाँ है उसकी। उसकी जम्हाई में बिजली चमकती है—शरीर के रोम हिलने मे मेघ का गर्जन है। जो भी नाद सुनाई पडता है, उसी अश्व का नाद है। विराट् मे अश्व और अश्व मे विराट् का यह अद्भुत दर्शन समस्त साहित्य मे अभूतपूर्व है। रूपक का प्रत्येक अग इतना सटीक है कि बुद्धि-जनित प्रयास का कुछ पता ही नही चलता। इसका भाष्य करते हुए शकराचार्य ने कहा है कि यहाँ कल्पना नही है—अर्थात् प्रत्येक कथन सर्वांशत. सत्य है। अश्व के रूपक द्वारा विराट् का प्रत्यक्षीकरण उत्कृष्ट उदात्त का अद्भुत उदाहरण है। वैदिक काव्य मे उदात्त तत्व का गभीर अध्ययन उच्च और व्यापक स्तर पर होना चाहिए।

वेद ससार का अति पुरातन साहित्य है। सरस्वती की वीणा की यह प्रथम झकार है। यह ऋषियो के अत मानस का सुस्वादु मधु है। ज्ञान, कर्म और उपासना की त्रिपथगा का यहाँ अविरल प्रवाह है। वेद शताब्दियो की नही सहस्राब्दियो की साधना का अमृत फल है। पूर्ण परिपक्व सस्कृति का यह नित नवीन रस है। यह जीवन, विराट् जीवन का एक अग है—इस सत्य का अनुभव उन्होने प्रत्यक्ष किया था। जीवन हेय नही वरेण्य है, तमस नही ज्योति है, जड नही चित् है, विषाद नही आनंद है। क्षार नही रस है—इस सत्य का उद्घोष यहाँ पद-पद पर मिलता है। त्याग के साथ भोग जीवन को

धर्म बना देता है। वेद की प्रत्येक ऋचा यज्ञ की पूतगध सुवासित है। उसमे घृत की स्निग्धता, आहुति की सात्विकता और अग्नि की भास्वरता विद्यमान है। जगत् का धूम यज्ञ मे आ कर प्राण का सौरभ बन जाता है, देवता का हविष् हो जाता है। ऋषि का भाल आकाशगगा के कण से अभिषिक्त होता है, लेकिन उनका हृदय जाह्नवी के जल से जुडाता है। इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, मरुत्, ऊषा आदि देवता उनके जीवन मे ज्योति जगाते है, प्राण मे गान भरते है, साँस मे आस देते है। प्रत्येक ऋषि जीवन-कला के विशारद है। उनके हर श्वास मे पृथ्वी और आकाश का प्रगाढ आलिगन है। उनके लिए सर्वत्र मधु का वर्षण हो रहा है, मधुवाता ऋतायते, मधुक्षरन्ति सिन्धव.। वैदिक ऋषि का चरित उदात्त, प्राण उदात्त, और वाणी उदात्त है। उन्होने पुरोहित के रूप मे अग्नि का वरण किया है। वैदिक ऋषि सत्, चित्, आनद के साक्षात् विग्रह हैं।



६ वाल्मीकि की सौन्दर्य और उदात्त भावना

आदि कवि ने जिस लोकनायक का चरित निरूपित किया है, वह अपने आप मे उदात्त है। आदर्श के हिम शिखर पर उन्होने अपने आदर्श पात्रो का प्रतिष्ठापन किया है। उत्कृष्ट गुणो के कारण राम का चरित देवत्व को प्राप्त हुआ है। कर्त्तव्यपरायणता, सत्यनिष्ठा, सहनशीलता और कर्मठता के कारण वे तीनो लोको मे पूजित हुए है। शील, शक्ति और सौन्दर्य उनमे चरम उत्कर्ष पर चित्रित हुए है। राम की तरह लक्ष्मण, भरत, सीता, हनुमान्, सुग्रीव आदि पात्र भी आदर्श है। भव्य कल्पना और प्राणवत चित्रण के कारण आदि कवि के कुछ पात्र देवता के रूप मे घर-घर पूजित होने लगे। रामराज्य का आदर्श युग-युग तक स्पृहणीय रहेगा। राजाराम का लोकरजन रूप यह देश कभी भूलने को नही। पतिव्रता सीता का सतीत्व निर्धूम दीपशिखा की तरह मानव-जीवन को आलोकित करता रहेगा। बल, बुद्धि, ब्रह्मचर्य और उत्साह के ज्वलत प्रतीक हनुमान् हमे प्रतिक्षण अनुप्राणित करते रहते है। त्रिलोक विख्यात वीर राम के समकक्ष उनका शत्रु भी होना चाहिए। रावण एक आदर्श शत्रु है। उसमे बुद्धि, नीति, तपस्या और शक्ति प्रचुर मात्रा मे है, लेकिन आचार-वर्जिता बुद्धि के कारण वह उत्तम ब्राह्मण हो कर भी राक्षस हो गया। अपने अत्याचार से जो लोक को रुलाता है, वह रावण है।

कवि की कल्पना और अनुभूति मे जितना तीव्र आवेग रहता है, उसके पात्र उतनी ही तीव्र गति से लोकमानस मे परिभ्रमण करते है। वाल्मीकि ने अपने पात्रो को एक ऐसी अक्षय शक्ति प्रदान की है, कि उनकी गति दिनानुदिन तीव्रतर होती जा रही है। वाल्मीकि के छोडे हुए ये उपग्रह प्राणो के अत-रिक्ष मे चिर काल तक भ्रमण करते रहेगे। उन्होने अपने प्रत्यक् मानस मे पात्रो का स्पष्ट साक्षात्कार किया है। उनकी आर्द्र अनुभूति ने सभी पात्रो

यौवन का चिन्ह है। सहतस्तनी रमणी सुन्दर होती है। पुरुष और नारी दोनो के अग सौन्दर्य के वर्णन मे वाल्मीकि ने अपनी आस्था और उत्साह का परिचय दिया है। स्वस्थ और पुष्ट रूप के प्रति ऐसी भावना विजयी राष्ट्र की आर्य-भावना है।

सुरूप या कुरूप, दोनो प्रकार की रूपाकृतियो का आदि कवि ने सविस्तार वर्णन किया है। अनिन्द्य सुन्दरी जगज्जननी जानकी एव वृद्धा कुरूपा शूर्पणखा दोनो का चित्रण इन्होने समान भाव से किया है। रावण की पानशाला मे जहाँ एक ओर अपूर्व सुन्दरियो की प्रदर्शनी है, वहाँ अशोकवाटिका मे घोरदर्शना राक्षसियो का भी भयावह चित्रण है। राम-लक्ष्मण के रूपलावण्य का चित्रण देख कर जहाँ चित्त आनदमग्न होता है, वहाँ विराध, कबंध और कुम्भकर्ण के भयकर रूप से मन आतकित हो जाता है। हर्षोत्फुल्ला सीता और शोकमग्ना जानकी दोनो के चित्र कवि ने समान कौशल के साथ अकित किये है। रावण की पानशाला मे प्रसुप्त सौन्दर्य का और हनुमान् के समुद्र लघन मे गतिशील सौन्दर्य का हृदयहारी चित्रण हुआ है। प्रकृति के स्वाभाविक और अति प्राकृतिक दोनो रूपो के दर्शन रामायण मे होते रहते है। कही तो प्रकृति (पुरी, नदी, वाटिका, ऋतु..) सुन्दरी के रूप मे और कही सुन्दरी ही सरिता के रूप मे चित्रित हुई है। सुन्दर या भयकर का एक साथ चित्रण देखना हो तो रावण का रूपवर्णन देख सकते है। मानव की रूपाकृति, भावाकृति, सुन्दरता, कुरूपता, युवालावण्य, वृद्ध-श्री, गत्यात्मक और स्थितिमूलक सौन्दर्य, प्राकृतिक और अति प्राकृतिक, विषादमग्न, हर्षोन्मत्त, घोरदर्शन, शुभदर्शन आदि अनेक रूप महाकवि की तूलिका से उतर कर धन्य हो गये है।

शिशपा वृक्ष पर बैठे हुए हनुमान् जी ने सीता माता का जो तप पूत रूप देखा है, उसका अकन बडी शालीनता, सात्विकता, श्रद्धा और मृदुता के साथ किया गया है। रात के पिछले पहर के धुध मे पहले जानकी का धुँधला रूप दिखाई देता है, तब चन्द्रमा के उदित होने पर उनका रूप शनै-शनैः प्रदीपित होने लगता है। इस स्थल पर सीता का रूप हनुमान् की श्रद्धा भक्ति, करुणा, उत्सुकता, प्रसन्नता, कल्पनाशीलता, सहानुभूति आदि कई भावनाओ से सबलित हो कर अत्यत मनोरम हो गया है। यह कमलासना हनुमान् की भाववीचियों पर

डोलती रहती है। शोकमग्ना मलिन सीता का रूप कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के द्वारा इस प्रकार चित्रित किया है —

भूमौ सुतनुमासीनां नियतामिव तापसीम् ।
निःश्वास बहुलां भीरुं भुजगेन्द्रवधूमिव ।।
शोकजालेन महता विततेन न राजतीम् ।
संसक्तां धूम जालेन शिखामिव विभावसोः ।।
तां स्मृतीमिव संदिग्धामृद्धिं निपतितामिव ।
विहतामिव च श्रद्धामाशां प्रतिहतामिव ।।
सोपसर्गां यथा सिद्धिं बुद्धिं सकलुषामिव ।
अभूतेनापवादेन कीर्त्तिं निपतितामिव ।।
रामोपरोध व्यथितां रक्षोगण निपीडिताम् ।
अबला मृगशावाक्षीं वीक्षमाणा ततस्ततः
बाष्पाम्बुपरिपूर्णेन कृष्ण वक्राक्षिपक्ष्मणा ।
वदनेनाप्रसन्नेन निःश्वसन्तीं पुनः पुनः ।।
मलपङ्क धरां दीना मण्डनार्हाममण्डिताम् ।
प्रभां नक्षत्र राजस्य कालमेघैरिवावृताम् ।।
तस्य संदिदिहे बुद्धिस्तथा सीतां निरीक्ष्य च ।
आम्नायानाम योगेन विद्यां प्रशिथिलामिव ।।
दुःखेन बुबुधे सीतां हनुमाननलंकृताम् ।
संस्कारेण तथाहीनां वाचमर्थान्तरं गताम् ।।

—सुन्द० १५।३१ से ३९

अर्थात्, 'अशोक वाटिका मे सीता नियमपरायण तापसी के समान भूमि पर बैठी थी। यद्यपि वे स्वभाव से ही भीरु और चिन्ता के कारण बारबार लम्बी साँस खीचती थी, तो भी दूसरो के लिए नागिन के समान भयकर थी। वे महान् शोकजाल से आच्छादित होने के कारण विशेष शोभा नही पा रही थी। धुएँ के समूह से मिली हुई अग्निशिखा के समान दिखायी देती थी। वे संदिग्ध अर्थ वाली स्मृति, भूतल पर गिरी हुई ऋद्धि, टूटी हुई श्रद्धा, भग्न हुई आशा, विघ्न-युक्त सिद्धि, कलुषित बुद्धि और मिथ्या कलक से भ्रष्ट हुई कीर्ति के समान जान पडती थी। श्री रामचद्र जी की सेवा में रुकावट पड़ जाने से उनके मन मे बडी व्यथा हो रही थी। राक्षसो के पीडित हुई मृगशावकनयनी अबला सीता असहाय

की भाँति इधर-उधर देख रही थी। उनका मुख प्रसन्न नही था। उस पर आँसुओ की धारा बह रही थी और नेत्रो की पलके काली एव टेढी दिखाई देती थी। वे बारबार लबी साँस खीचती थी। उनके शरीर पर मैल जम गयी थी। वे दीनता की मूर्ति बनी बैठी थी तथा शृगार और भूषण धारण करने योग्य होने पर भी अलकार शून्य थी, अत काले बादलो से ढकी हुई चद्रमा की प्रभा के समान जान पडती थी। अभ्यास न करने से शिथिल (विस्मृत) हुई विद्या के समान क्षीण हुई सीता को देख कर हनुमान् जी की बुद्धि सदेह मे पड गयी। अलकार आदि से रहित हुई सीता व्याकरणजनित सस्कार से शून्य होने के कारण अर्थान्तर को प्राप्त हुई वाणी के समान पहचानी नही जा रही थी। हनुमान् जी ने बडे कष्ट से उन्हे पहचाना।' कीचड से लिपटी हुई कमलनाल की भाँति शोभा और अशोभा दोनो से युक्त सीता का यह रूप है :—

सा मलेन च दिग्धाङ्गी वपुषा चाप्यलंकृता।
मृणाली पङ्कदिग्धेव बिभाति च न भाति च॥

—सु० १८।२५

रावण की पानशाला और शयनशाला मे सोई हुई सुन्दरियो का विस्तृत वर्णन कही उदास नही है। मास, मदिरा और सुन्दरियो की बहुलता के द्वारा यह दिखाया गया है कि रावण कितना मद्यप, कामी और हिंसक था। घोर विलास मे रत राजा का अत निकट होता है। पानशाला मे प्रसुप्त सुन्दरियो के दो-एक चित्र यहाँ दिये जाते है :—

कोई स्त्री वीणा को अपनी छाती से लिपटा कर सो जाने से ऐसी जान पडती थी मानो नदी धार मे डूबती हुई कमलिनी किसी नाव से जा लिपटी हो। कोई शुभस्तनी तबला बजाते-बजाते उसी पर झुकी हुई सो रही थी। कोई कमल लोचनी कामातुरा कामिनी एकात मे वशी को प्रियतम समझ कर पकडे सो रही थी। रतिश्रांता कोई कृशोदरी अपनी भुजाओं मे ढोलक दबाये सो रही थी, कोई डमरू को अपना शिशु समझ कर उसे आँचल मे छिपाये सो रही थी। एक स्त्री जल के कलसे से ही लिपट कर सो गई थी। कलसे के जल से भीगी हुई वह सुन्दरी वसतकाल की फूल-माला के ऊपर छिड़के हुए जल-सी लगती थी। कोई सुन्दरी ऊँघती हुई दूसरी सुन्दरी की सेज पर उसके वस्त्र छीन कर अपने शरीर को ढके सो रही थी। कुछ सुन्दरियो के मुखमडल की भगिमाओ से ऐसा लगता था कि कोई बात करती हुई, कोई गीत गाती हुई,

कोई अभिनय करती हुई सो गई हो। कोई कोमलागी कामिनी निद्रावस्था मे अपने कोमल हाथो को हिला-डुला रही थी, मानो वह स्वप्न मे हाव-भाव दिखा कर नाच रही हो। सुन्दरियो के मुख, मोतियो के हार, जघा, केश आदि की उपमा हस, चकोर, तट, धारा आदि से दे कर बाल्मीकि ने प्रसुप्त सुन्दरियो को प्रत्यक्ष सरिता के रूप मे चित्रित किया है। सुन्दर काड के नवम, दशम और एकादश सर्ग मे प्रसुप्त सौन्दर्य का, उत्कट विलास का, जाग्रत चित्रण है। शयनशाला मे सोई हुई इन सुन्दरियो को देख कर हमारे मन मे वासना उत्पन्न हो सकती हैं, लेकिन, प्रत्यक्ष देखने वाले हनुमान् जी को उस शयनशाला ने माता के समान सतृप्ति प्रदान की—'तर्पयामास मातेव तदा रावण पालिता।' उनके मन मे तनिक भी विकृति प्राप्त नही हुई, 'नहि मे मनस किञ्चिद् वैकृत्य-मुपपद्यते।' उनकी दृष्टि पर दारा मे कभी विषयवर्तिनी नही हुई। वे सभी सुन्दरियो के मुख मे माता जानकी का मुख देखने की आशा मे थे। जब अपनी खोई घडी खोजने के लिए आप पेटी की सभी वस्तुएँ कई बार निकालते है और रखते है, तब और चीजो को देखते हुए भी आप किसी को नही देखते, सबो को छूते हुए भी किसी को नही छूते। आसक्ति का कारण मन है, अनासक्त मन सबो को देखता हुआ भी किसी को नही देखता। सुन्दरी-सरोवर मे हनुमान् जी का मन पद्म पत्र बना रहा। पिच्छल विलास के बीच शील का उदात्त शिखर कितना भव्य प्रतीत होता है।

उन सुन्दरियो के बीच पलग पर लेटा हुआ रावण किस प्रकार सुशोभित है, उसके रूप चित्रण मे कवि बीच-बीच मे एक भयावह उपमा दे कर उसके रावणत्व की ओर हमारा ध्यान ले जाते है। सुन्दर आभूषणो, चीनाशुको और सुगधित चदनो से विभूषित रावण पलग पर सो रहा है, लेकिन उसकी भुजाएँ मदराचल पर स्थित पाँच मस्तको वाले नाग की तरह फन काढे थी। वह उज्ज्वल पलग पर लेटा हुआ, निर्झर के तट पर गधहस्ती की तरह सोया दीखता था। उसके वस्त्र बडे चमकीले थे, लेकिन, उसके वक्ष पर चर्चित चंदन का रग शशक्षतजकल्पेन खरगोश के ताजे खून की तरह लाल था। सोता हुआ रावण उडद के ढेर की तरह जान पडता था। वह साँप की फुफकार की तरह साँस लेता हुआ, पलग पर पडा ऐसा सो रहा था मानो गंगा जी के गहरे जल मे गजराज लेटा हो :—

> माषराशि प्रतीकाशं निःश्वसन्तं भुजङ्गवत्।
> गाङ्गे महति तोयान्ते प्रसुप्तमिव कुञ्जरम्॥ —सु० १०।२८

एक ही व्यक्ति मे एक ही समय सुन्दर और भयकर का ऐसा कलात्मक मिश्रण कम देखा गया है। सोया हुआ काला रावण श्यामल या उडद के ढेर-जैसा दीखता था, शुभ्र पलग पर लेटा हुआ वह गगा मे गजराज की तरह प्रतीत होता था। उसकी भुजाएँ मदराचल पर स्थित पाँच मस्तको वाले नाग की तरह फन काढे प्रतीत होती थी—सुगधित चदनो और कोमल चीनाशुको मे लिपटा हुआ रावण का यह रूप उसके रावणत्व को द्योतित कर रहा है।

सौन्दर्य के गतिमूलक रूप का चित्रण हनुमान् के समुद्र-लघन के समय किया गया है। उस ज्वलत रूप को देख कर योगिराज श्री अरविन्द मत्र-मुग्ध हो गये थे। उडते हुए हनुमान् का ऐसा गतिशील चित्रण उन्हे योरोपीय काव्य मे भी नही मिला। इस वेगवती सुन्दरता की ओर हमने पीछे सकेत किया है। यहाँ युद्ध काड से एक छोटा-सा उदाहरण दिया जाता है —

भ्रमन्ती काञ्चनी कोटिं कार्मुकस्य महात्मनः।
अलातचक्र प्रतिमां ददृशुस्ते न राघवम् ॥

—युद्ध० ९३।२८

वे राक्षस महात्मा श्रीराम के धनुष की सुनहरी कोटि (नोक) को अलातचक्र की भाँति घूमती देखते थे, किन्तु साक्षात् श्री रघुनाथ जी को नही देख पाते थे। यानी, वे श्रीराम के सुवर्णमय धनुष का अग्रभाग अधजली और घूमती हुई बनैटी की तरह सदा मडलाकार ही देखते थे। वे अलातचक्र देखते थे, राम या धनुष को नही। ठोस, सटीक, मूर्तिमती उपमा, अपना कृत्रिम अलकारत्व खो कर, बिम्ब बन जाती है। युद्ध की तीव्र गति को व्यक्त करने के लिए सुन्दर और युद्ध काड मे गत्यात्मक बिम्बो का प्रचुरता के साथ प्रयोग किया गया है।

शीलोदात्त पर पहले विचार किया गया है, अब शीलगत सौन्दय पर आप ध्यान दीजिये। उदात्त शील हमारे मानस मे विस्मय और समर्पण के भाव एव ललित या सुन्दर शील, कोमलता, सुखदता या सहानुभूति के भाव उत्पन्न करता है। शील के उन पहलुओ को हम सुन्दर कहेगे, जिन्हे हम चूमते है, दुलराते है और गले लगाते है। रामायण के अधिकाश पात्रो की प्रवृत्ति उदात्त तत्व की ओर है, फिर भी उन्ही के अंदर ललित शील के कुछ उदाहरण मिल जाते है। उदात्त पात्र हर घड़ी उदात्त नही रह सकता है, वह तो सामान्य

घटनाओ, या मानवीय व्यापारो के बीच ही महान् होता है। यदि कोई पात्र आद्योपान्त उदात्त चित्रित किया जाय तो वह आदर्श की प्रस्तर प्रतिमा हो जायगा, हँसी और आँसू का पुतला न रह सकेगा। दशरथ और कौशल्या का वात्सल्य, सीता की सरलता, सुमत्र का स्नेह, भरत की ग्लानि, केवट की भक्ति, राम का कई स्थलो पर विलाप, आदि प्रसग हमारे मन को बडे भाते है। सुनते हैं कि आदमी आदमी की दुर्बलता को प्यार करता है, और उसकी महत्ता से ईर्ष्या। जो भी हो, रामायण के महान् पात्र अपने दुर्बल क्षणो मे और सुन्दर प्रतीत होते हैं। हनुमान् का यह कथन है कि सीता का सतीत्व अग्नि को शीतल बना रहा है। अग्नि देव सीता को नही जला सकते, बल्कि वही अग्नि को जला सकती है —

> तपसा सत्यवाक्येन अनन्यत्वाच्च भर्तरि ।
> असौ विनिर्दहेदग्निं न तामग्निः प्रधक्ष्यति ॥ सु० ५५।२८

उक्त कथन सीता के उदात्त पातिव्रत को व्यक्त करता है। लेकिन, माया-मृग की विचित्र खाल को देख कर सीता का मचलना और लक्ष्मण से यह कहना कि तुम अयोध्या से ही मेरे साथ इसलिए लगे हो कि राम को मरवा कर मुझसे विवाह कर लो—उन्हे साधारण नारी के स्तर पर पहुँचा देता है। सन्यासी वेश मे रावण से अपने वनवास की सारी कथा कहना सीता का भोलापन सूचित करता है। अयोध्या मे वनवास के समय वह कटि मे पहनने के वल्कल को सिर मे पहन लेती है, यह उनका विचित्र भोलापन है। वनवास की प्रथम रात्रि बिताते समय राम लक्ष्मण से कहते है कि हे भाई, मेरे जैसे आज्ञाकारी पुत्र को कामी पिता ने वनवास दे दिया, यह उन्होने अच्छा नही किया। हे लक्ष्मण, तुम अभी अयोध्या लौट जाओ और कौसल्या की सेवा करो, क्योकि, हो सकता है कि कैकेयी मेरी माता को कही जहर खिला कर मार न डाले। राम के ये उद्गार उन्हे साधारण मानव के स्तर पर ले आते है। लेकिन, साधारण होते हुए भी, अतिशय मातृप्रेम से कारण, वे अतिमानव प्रतीत होते हैं। मानवीय दुर्बलताओ से मडित राम हमे प्यारे लगते है, इन्हे हटा दीजिए, तो वे पत्थर की मूरत हो जाते है। राम के स्निग्ध भ्रातृस्नेह का एक उदाहरण देखिए—

> सुसहृष्टः परिष्वज्य बाहुभ्या लक्ष्मणं तदा ।
> अति स्निग्धं च गाढ़ं च वचनं चेदमब्रवीत ॥

प्रीतोऽस्मि ते महत् कर्म त्वया कृतमिदं प्रभो ।
प्रदेयो यन्निमित्तं ते परिष्वङ्गो मया कृतः ।।
भावज्ञेन कृतज्ञेन धर्मज्ञेन च लक्ष्मण ।
त्वया पुत्रेण धर्मात्मा न संवृत्तः पिता मम ।।
—अरण्य० १५।२७, २८, २६

अर्थात्, 'गोदावरी के तट पर लक्ष्मण द्वारा बनाये हुए आश्रम को देख कर राम अत्यत हर्षित हुए । अत्यत हर्ष मे भर कर उन्होने दोनो भुजाओ से लक्ष्मण को कस कर हृदय से लगा लिया और स्नेह के साथ कहा, "हे सामर्थ्य-शाली लक्ष्मण, मै तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ । तुमने यह महान् कार्य किया है । इसके लिए और कोई समुचित पुरस्कार न होने से मैने तुम्हे प्रगाढ आलिगन प्रदान किया है । हे लक्ष्मण, तुम मेरे मनोभाव को तत्काल समझ लेने वाले, कृतज्ञ और धर्मज्ञ हो । तुम जैसे पुत्र के कारण मेरे धर्मात्मा पिता अभी मरे नही है । तुम्हारे रूप मे वे अब भी जीवित ही है ।"' स्नेह, हर्ष और करुणा का एक साथ कैसा सुन्दर रूप यहाँ उतरा है ।

राम और सीता, चाहे ये कितने ही सत्यवादी क्यो न हो, मैंने दोनो को एक-एक बार झूठ बोलते चुपके से सुन लिया है । सुमत्र राम आदि को रथ पर चढा कर वन ले जा रहे है । रथ के पीछे पुरवासियो के साथ महाराज दशरथ भी दौडते हुए चले आ रहे है । दशरथ जोर से चिल्ला कर कहते है, सुमत्र रथ को रोक लो । इस पर राम कहते है, "हे सुमत्र रथ को और तेज कीजिए । यदि पिता जी बाद में पूछे कि आपने रथ रोका क्यो नही, तो आप कह दीजिएगा कि हल्ला के कारण मैने आपकी आवाज ही नही सुनी ।" राम झूठ बोलने के लिए सिखा तो रहे हैं । बोलना या सिखाना एक ही बात है ।

नाश्रौषमिति राजानमुपालब्धोऽपि वक्ष्यसि ।
चिरं दुःखस्य पापिष्ठमिति रामस्तमब्रवीत् ।। —अयो० ४०।४७

अब सीता का मिथ्यावादन सुनिये । राक्षसियो ने जब सीता से पूछा कि वह लाल मुँह वाला वानर अभी-अभी तुमसे क्या बाते कर रहा था ? वह कौन है ? कहाँ से आया है ? तो उत्तर मे सीता ने कहा, "तुम्ही जानो यह कौन है और क्या करेगा ? साँप के पैरो को साँप ही पहचानता है, इसमे सशय नही । मैं इसे देख कर डर गई हूँ । मुझे तो लगता है कि यह कामरूप कोई राक्षस ही है ।"

यूयमेवास्य जानीत योऽयं यद्वा करिष्यति ।
अहिरेव हि अहेः पादान् विजानाति न संशयः ।।
अहमप्यति भीतास्मि नैव जानामि को ह्ययम् ।
वेद्मि राक्षसमेवैनं कामरूपिणमागतम् ।।

—सु० ४२।६, १०

सीता जी किस सफाई से सफ़ेद झूठ बोल गयी । स्त्री स्वभाव के अनुसार लोकोक्ति का भी प्रयोग कर गयी, साँप के पैर साँप पहचाने । हनुमान् को कामरूपी राक्षस भी बना दिया ! जगत्-पिता और जगन्माता को अभी मैंने झूठा कहा है । लेकिन सोचिये तो सही, यह झूठ लाख सच से सुन्दर है । राम के मिथ्यावादन मे अपने पिता के प्रति अगाध स्नेह है और सीता मे हनुमान् के कुशल की अपार चिंता । रसगुल्ले खा कर झूठी गवाही देने वाले इस मार्मिक प्रसग को क्या खाक समझेंगे ।

स्वभावमूलक सौन्दर्य से मेरा आशय जीव के उस मौलिक स्वभाव के चित्रण से है, जिससे उसकी जातीय पहचान अनायास हो जाती है । बच्चे, बूढे, बदर, पिल्ले, हरिण, हाथी, भौरे, पक्षी आदि जीवो के आतरिक स्वभाव को पकडना और उसे मौके पर चित्रात्मक शैली मे अभिव्यक्त करना वाल्मीकि के बाएँ हाथ का खेल है । सूर ने भी बाल-स्वभाव को खूब परखा है । गाय दुहते समय कन्हैया एक धार तो दोहनी मे पहुँचाते है और 'एक धार जहँ प्यारी ठाढी' । नद के साथ जीमते समय मिर्च खा लेने से वे मुँह बा कर चिल्लाते हुए बाहर दौड पडते हैं । हिन्दी में ही नही, सूर विश्व साहित्य मे बाल-स्वभाव का अद्भुत चितेरा है । रामायण से स्वभाव-सौन्दर्य के दो-एक उदाहरण दिये जाते हैं :—

रावण की शयन-शाला मे सोयी हुई मन्दोदरी के रूप सौन्दर्य को देख कर हनुमान् के मन मे होता है कि हो न हो यही सीता है । इतना सोचते ही मारे हर्ष के वे पूँछ को पटकने और चूमने लगे । वे आनदित होने लगे, खेलने लगे और गाने लगे । वे कभी खंभो पर चढ जाते कभी नीचे कूद पड़ते !

आस्फोटयामास चुचुम्ब पुच्छं
ननन्द चिक्रीड जगौ जगाम ।
स्तम्भानरोहन्निपपात भूमौ
निदर्शयन् स्वां प्रकृतिं कपीनाम् । —सु० १०।५४

हनुमान् जी गर्जन करते हुए, सीता का पता लगा कर, लका से लौट रहे है। उनकी भुजाओ और जघाओ से निकली हुई सनसनाहट तथा गर्जन का शब्द सुन कर सभी वानर बडे प्रसन्न हुए। वे पर्वत के एक शिखर से दूसरे शिखर पर कूद-कूद कर चढने लगे। वे हनुमान् को देखने के लिए वृक्षो की फुनगियो पर चढ गये। वे अपने-अपने हाथो मे उपहारस्वरूप फूली हुई शाखाएँ लिये हुए थे। वे कपडे की तरह उन शाखाओ को हिला रहे थे। उन्होने ज्योही हनुमान् के मुख से सुना कि मैने सीता का पता लगा लिया कि कई वानर सिंह-नाद करने लगे। कई पूँछ फटकारने लगे। बडे डील वाले वानर पर्वत शिखर से कूद-कूद कर हनुमान् जी को छूने लगे। अतीव हर्षवर्द्धक समाचार से कपियो मे जो उल्लास होना चाहिए वाल्मीकि ने उसका (सुन्द० ५७।२४ से ४४) सुन्दर चित्रण किया है। आज के सभ्य नागरिक जेब से रूमाल निकाल कर हिलाते है। ये वानर फूलोभरी डालियाँ हिला रहे है। दौड-दौड कर बारी-बारी से हनुमान को छूने मे तो और ही कपि-स्वभाव का मर्म पहचाना गया है। किष्किन्धाकाड मे, सीता का पता लगने पर मधुवन मे मधु पीते हुए वानरो का अत्यत मदमस्त वर्णन हुआ है —

गायन्ति केचित् प्रहसन्ति केचि
न्नृत्यन्ति केचित् प्रणमन्ति केचित् ।
पतन्ति केचित् प्रचरन्ति केचित्
प्लवन्ति केचित् प्रलपन्ति केचित् ।
परस्परं केचिदुपाश्रयन्ति
परस्परं केचिदति ब्रुवन्ति ।
द्रुमाद् द्रुमं केचिदभिद्रवन्ति
क्षितौ नगाग्रान्निपतन्ति केचित् ॥

× × ×

—सुन्दर० ६१।१६ से २४

सीता के आश्रम के सामने मारीच विचित्र मृग बन कर घूम रहा है। उसे देख कर अन्य वनचर जतु पास तो आते है, लेकिन उसे सूँघ-सूँघ कर भाग जाते है—'उपागम्य समाघ्राय विद्रवन्ति दिशो दश'—आर० ४२।२९। यहाँ पशुओं के सूँघने का और विजातीय समझ कर भाग जाने का अच्छा चित्रण हुआ है। एक चित्र पक्षी-स्वभाव का दिया जाता है। हेमत ऋतु की कडाके की सर्दी का

अदाज उन जलचारी पक्षियो से कुछ हो सकता है, जो नदी के किनारे कायर योद्धा की तरह चुपचाप बैठे है और ठड के कारण पानी मे डुबकी नही लगा पाते।

एते हि समुपासीना विहगा जलचारिणः ।
नावगाहन्ति सलिलमप्रगल्भा इवाहवम् ।।

—अरण्य० १६।२२

हेमत ऋतु मे यह जगली हाथी जो बहुत प्यासा है, इस अत्यत शीतल जल को, पीना तो एक ओर रहा, स्पर्श करने ही, अपनी सूँड सिकोड लेता है —

स्पृशन् सुविपुल शीतमुदकं द्विरदः सुखम् ।
अत्यन्त तृषितो वन्यः प्रति संहरते करम् ।।

—अर० १६।२१

बर्फीले पानी पर सूँड के पडते ही उसे सिकोड कर चट ऊपर उठा लेना—हाथी के स्वभाव को चित्रित करता है। भौरो के फूल पर बैठने और सहसा उड कर दूसरे वृक्ष पर चले जाने का उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है।

किसी पात्र की भावमुद्रा का सफल अकन भी एक कला है। चित्र और मूर्तिकला इसे बाँधने मे अपनी सार्थकता समझती है। काव्य कला भी दो-चार शब्दो मे भावमुद्रा को अकित कर सकती है। 'अश्रुपूर्ण मुखो रामो निशि तुष्णीमुपा विशत्'—(अयो० ५३।२७) मे राम की करुण भाव-मुद्रा अकित हुई है। सुमत्र से विदा लेते समय सीता की किंकर्तव्यविमूढ भाव-मुद्रा भी बडी सुन्दरता के साथ चित्रित हुई है, 'भूतोपहत चित्तेव विष्ठिता विस्मिता स्थिता।'

हमारे चित्त मे जो भाव उत्पन्न होते है उनकी शारीरिक प्रतिक्रिया हमारे अगो के द्वारा किसी न किसी प्रकार अवश्य व्यक्त होती है। चित्रगत भाव की प्रतिक्रिया का रूप प्रायः मुख पर प्रतिफलित होता है। क्रोध, घृणा, स्नेह, ईर्ष्या, निराशा आदि भावो का प्रतिफलित रूप मुख पर तत्काल दिखाई देता है। हिन्दी साहित्य मे अनुभाव लेखन कला मे विहारी का अपना विशिष्ट स्थान है। 'सौह करै भौंहनि हँसै , नासा मोरि नचाइ दृग करी ककाकी सौह. .' आदि पक्तियो मे कवि ने अपनी कला का अच्छा नमूना पेश किया है। अनुभाव का लेखन भाव की तीव्रता और आश्रय की ग्रहणशीलता पर निर्भर करता है। चालाक चतुर आदमी अपने अनुभावो को छिपाने का प्रयास करता है, वीर पुरुष

उन्हे प्रकृत रूप से व्यक्त करता है । राम की आज्ञा से क्रुद्ध लक्ष्मण भोग मे डूबे हुए सुग्रीव को चेतावनी देने जा रहे है । तीक्ष्ण क्रोध मे चलते हुए लक्ष्मण के अनुभाव देखिए (किष्कि० ३१।१३ से)—क्रुद्ध होने के कारण लक्ष्मण बडी तेजी से चलने लगे । वे रास्ते मे पडने वाले साखू, ताल, अश्वकर्ण आदि वृक्षो को तथा पर्वत-शृगो को गिराते चलते थे । वे अपने पैरो से शिलाओ को फोडते, दूर-दूर कदम रखते, तेजी से जा रहे थे, जैसे कोई मतवाला हाथी तोडता-फोडता जा रहा हो । लक्ष्मण जी को क्रुद्ध देख कर किष्किन्धा के वानर बडे-बडे वृक्षो और पर्वत शृगो को ले कर उनसे लडने खडे हो गये । इससे उनका क्रोध और द्विगुणित हो गया । वह ऐसा भभका जैसे सूखी लकडियो मे आग लग गई हो । अयोध्या काड मे शोक के और युद्ध काड मे क्रोध के अनुभाव चित्र बहुतेरे पाये जाते है ।

वाल्मीकि की उदात्त और सौन्दर्य भावना पर विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है । अँग्रेजी साहित्य के आलोचको ने शेक्सपियर, शेली, कीट्स आदि के बिम्बो पर अलग से पुस्तके लिख डाली है । वाल्मीकि के बिम्ब-विधान की क्या, उनके सामान्य काव्य की भी सम्यक् समीक्षा अब तक प्रस्तुत नही की जा सकी है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, इलाचद जोशी और भगवत शरण उपाध्याय आदि कुछ विद्वानो ने दो-एक स्थलो पर वाल्मीकि की काव्य कला की महत्ता पर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है । विदेशी काव्य की चकाचौध मे हम वर्षो अपने महाकवियो को भुलाए बैठे रहे । स्वतत्रता प्राप्ति के बाद हमारी सस्कृति का नवजागरण हुआ है । आशा है, इस युग मे प्राचीन काव्य के प्रति हमारा प्रेम उदबुद्ध होगा । रामायण के महासागर मे डूबने के लिए महीनो नही, वर्षो की तैयारी चाहिए । वाल्मीकि, व्यास और कालिदास अपने आलोचको से 'जीवन-दान' माँगते है । जिस कवि के पात्रो की हजारो वर्षो से भारतीय मदिरो मे आरती उतारी जा रही है, जिस कवि के पात्रो के नाम कोटि-कोटि भारतवासी श्रद्धा और भक्ति के साथ प्रात काल स्मरण करते है, जिस कवि के पात्रो ने अनेक महाकवियो को प्रेरणा प्रदान की है उसकी दिव्य कल्पना का साक्षात्कार आधुनिक युग को होना ही चाहिए ।

हनुमान् जी का कथन है कि—

'त्रैलोक्य राज्यं सकलं सीताया नाप्नुयात् कलाम्' ।

'तीनो लोको का राज्य सीता की एक कला के भी बराबर नही है।' मेरा भी निवेदन है कि तीनो लोको का राज्य वाल्मीकि की एक कला के सामने कुछ नही है। भगवान् ने विश्व की रचना की है, और वाल्मीकि ने स्वयं भगवान् की।

भगवान् वाल्मीकि की कला धन्य है।

७

व्यास की सौन्दर्य साधना

वैदिक ऋषियो ने निखिल सृष्टि के अनत रूप और ऐश्वर्य का भावन किया और उसे उदात्त शैली मे अभिव्यक्त किया। लेकिन, सिन्धु के असीम सौन्दर्य को तरगो के कलरव मे बाँधने का काम अभी पूरा नही हुआ था। यह भगवान् व्यास के द्वारा परिपूर्ण हुआ। श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कध मे श्री कृष्ण के चरित का सागोपाग निरूपण है। इसके पूर्वार्ध में श्री कृष्ण की व्रज लीला का और उत्तरार्ध मे द्वारकाधीश की राजनीति और गार्हस्थ्य-जीवन का उल्लेख है। इस एक स्कध ने सम्पूर्ण भारत को पिछले कई हजार वर्षो से किस प्रकार प्रभावित किया है, इसका सहज अनुमान करना कठिन है। व्यास की चित्रण शैली मे वह कौन सा अद्भुत गुण है जो कोटि-कोटि श्रोताओ एव पाठको को अब तक मत्रमुग्ध किये हुए है। एकमात्र व्यास की काव्य-प्रतिभा के कारण वृन्दावन सम्पूर्ण धराधाम का तीर्थ बन गया है। महापुरुष अपनी कीर्ति के कारण अमर होते है, बात सही है, लेकिन, कीर्ति यदि कलाकृति मे न ढल सकी तो अमरता के बने रहने मे सदेह है। माना, कि राम और कृष्ण, बुद्ध और ईसा अपने उज्ज्वल चरित के कारण चिर वदनीय है, रहेगे, लेकिन इनकी वदनीयता को चिरतन बनाने मे कला का प्रमुख स्थान है। कुछ लोग कहते है कि शिव और पार्वती, राम और कृष्ण हुए ही नही। यदि यह सच निकले तो फिर 'नही' को 'हाँ' बनाने के कारण कला की कितनी स्तुति की जाय। कपोलकल्पना को घर-घर मे अपना सगा-सबधी बना कर बसा देना, कोई मामूली काम नही। श्री कृष्ण की लीला धन्य है जो अनायास भक्तो के हृदय मे रस बरसाती है, और व्यास की कला धन्य है जो उनकी लीला को प्रतिक्षण अभिनव बनाती है। तुलसी ने हरि को चदन-तरु और संत को समीर कहा है। वाल्मीकि और व्यास, कालिदास और जयदेव, चडीदास और विद्यापति, तुलसी और सूर ये सभी सत है, ये सभी कवि समीर है। इनकी कविता मे चदन-वन की सुगन्ध है।

उपनिषद् के ब्रह्म की छटा हमारे मानस से निकल कर आकाश में व्याप्त हो गयी। इस ब्रह्म से—जो महत् से भी महान्, अणु से भी छोटा, चलता है, नही चलता है, जो दूर भी है, पास भी है—लोक जीवन का काम नही चलने का। हमे एक ऐसा भगवान् चाहिए था जो हमारे साथ खेले, हँसे, गाये, रोये, और लडे-झगडे। ऐसा भगवान् जो पर्वत भी उठा सके और ओखली मे बाँधा भी जा सके। ऐसा, जो गौओं को चरा लावे और शत्रुओं को भगा आवे। ऐसा भगवान् जो रास-लीला भी करे और योगिराज भी रहे। व्यास ने ऐसे ही भगवान् का दशम स्कध मे चित्रण किया है। पद्मपुराण के उत्तर खड मे श्रीमद्भागवत का माहात्म्य वर्णित है। इसमे इस महा ग्रथ को भगवद्भक्ति का और श्री हरि का प्रत्यक्ष विग्रह कहा है। भगवान् भागवत रूपी समुद्र मे अतर्धान हो गये है, प्रवेश कर गए है। श्रीमद्भागवत भगवान् की साक्षात् शब्दमयी मूर्ति है—'तेनेय वाङ्मयी मूर्ति प्रत्यक्षावर्त्तते हरे।' देवतागण अपना अमृत कलश दे कर बदले मे शुकदेव जी से भागवत कथा माँगने आये, तो उन्होने यह विनिमय स्वीकार नही किया। यह कथा देवताओं को भी दुर्लभ है—'श्रीमद्भागवती वार्त्ता सुराणामपि दुर्लभा।' भागवत सहृदय के लिए रस की अक्षय निधि है। रस वृक्ष के कण-कण मे व्याप्त है, लेकिन फल रूप मे, वृक्ष से अलग रह कर, वह अधिक स्वाद प्रदान करता है। इसी प्रकार खाँड ईख से अलग निकल कर अधिक मीठी होती है। वस्तु का सार उस वस्तु से मधुर होता है। श्रीमद्भागवत सम्पूर्ण वेदो-उपनिषदो का सार है, 'वेदोपनिषदा साराज्जाता भागवती कथा'। इसलिए, 'पृथग—भूता च सा मिष्टा तथा भागवती कथा।' इसका श्रवण करते ही श्री हरि हृदय मे आ विराजते है—'यस्या श्रवण मात्रेण हरिश्चित्त समाश्रयेत्'। इस कथा मे अलौकिक रस-पुष्टि है, सुधा है, स्वाद है, दिव्य माधुर्य है, स्वर्गिक आनद है। श्रीमद्भागवत के पद-पद मे स्वाद है—'रसज्ञाना स्वादु स्वादु पदे पदे।' पका मीठा फल तो यो ही सुस्वादु होता है, कही उसे सुग्गा पहले ही चख ले, तो उसकी मिठास का क्या कहना। भागवत रूपी फल भी शुक के मुख से सयुक्त हो कर अपूर्व स्वादिष्ट हो गया है—'शुकमुखादमृत द्रव सयुतम्'—भाग० १।१।३। भागवत पढने के लिए नही, पीने के लिए रचा गया है। वे रस-लम्पट धन्य है, जो सतत इस कथामृत का पान करते हैं, 'श्री भागवत पीयूषपानाय रस लम्पटा।' पद्मपुराण इसके महात्म्य का वर्णन करते समय थकता नही। भागवत का सप्ताह-श्रवण तो ज्ञान, योग, यज्ञ,

व्रत इन सबो से बढ कर है, इसका प्रभाव गर्जन करता रहता है—'किं ब्रूमो गर्जनं तस्य रे रे गर्जति गर्जति ।'

पद्मपुराणकार ने 'रसज्ञाना स्वादु-स्वादु पदे पदे' कह कर भागवत की रसमयता का अपूर्व परिचय दिया है। भागवत के काव्य सौन्दर्य के लिए रस, सुधा, अमृत, सार, स्वादु आदि पदो का प्रयोग किया गया है। भारतीय आचार्य की रसानुभूति सौन्दर्यानुभूति के समकक्ष कही जा सकती है। काव्य सौन्दर्य की अनुभूति तो भाव, अनुभाव, कल्पना, शैली, सवेग, उक्ति चमत्कार आदि मे भी सभव है, लेकिन रस की अनुभूति तो विभावानुभाव व्यभिचारी सयोगात् ही सभव है। किसी अलकार या चमत्कार के सफल प्रयोग मे भी सौन्दर्य आँका जा सकता है, लेकिन वहाँ रस का परिपाक हुआ, ऐसा नही कहा जा सकता। इसलिए, रसानुभूति और सौन्दर्यानुभूति दोनो समकक्ष नही है। ऐसी परिस्थिति मे पडितराज जगन्नाथ से हम सहायता ले सकते है और 'रमणीयार्थ प्रतिपादकता' को सौन्दर्यानुभूति के समकक्ष ला सकते है। लेकिन, रस का प्रयोग यदि अत्यत व्यापक अर्थ मे किया जाय, जैसा विश्वनाथ ने किया है—वाक्य रसात्मक काव्य—तो रसात्मकता और सुन्दरता समकक्ष हो सकती है। जो हो, रसानुभूति को सौन्दर्यानुभूति कहने मे कोई वाधा नही होनी चाहिए। जब हम कृष्ण के रूप सौन्दर्य का वर्णन करेगे, वहाँ सौन्दर्य का अर्थ लोक जीवन मे पुरुष के रूप का जो प्रतिमान गृहीत है, उसका प्रतिफलन काव्य मे किस प्रकार हुआ, यह समझना चाहिए। तात्विक दृष्टि से यदि सौन्दर्य पर विचार किया जायगा, तो, वहाँ इसका अर्थ वह प्रकाश तत्व होगा जो सम्पूर्ण विश्व मे चेतना और आनद की लहर के रूप मे परिव्याप्त है। भागवत मे श्री कृष्ण के इस दिव्य चिन्मय सौन्दर्य का भी पर्याप्त चित्रण है। अब श्रीमद्भागवत की सौन्दर्य और उदात्त भावना पर सक्षेप मे कुछ विचार करना अभिप्रेय है।

जिस प्रकार जल और स्थल के सौन्दर्य का मूर्तरूप कमल है, उसी प्रकार स्वर्ग और धरित्री के सौन्दर्य का प्रत्यक्ष विग्रह श्री कृष्ण है। रूप और रस, ऐश्वर्य और माधुर्य एव प्रेम और आनद की सर्वोत्कृष्ट कल्पना की सजीव प्रतिमा श्री कृष्ण है। ज्ञान-योग से छिटकने वाला जो परमात्मा प्रेमाभक्ति की पकड मे पूरी तरह आ गया, वह श्री कृष्ण है। वेद, यज्ञ, योग, क्रिया, ज्ञान, तप, धर्म, मोक्ष—इन सबो की परिसमाप्ति वासुदेव श्री कृष्ण में ही है —

वासुदेव परा वेदा वासुदेव परा मखाः।
वासुदेव परा योगा वासुदेव पराः क्रियाः॥
वासुदेव परं ज्ञानं वासुदेव परं तपः।
वासुदेव परो धर्मो वासुदेव परा गतिः॥

—भाग० १।२।२८,२९

व्यास को श्री कृष्ण के सगुण और निर्गुण दोनो-रूपो के प्रति अडिग आस्था है। अग्नि तत्व तो वस्तुत एक ही है, परन्तु जब वह अनेक प्रकार की लकडियो मे प्रकट होता है, तब अनेक-सा मालूम होता है। वैसे ही, सब के आत्मरूप भगवान् तो एक ही है, परन्तु प्राणियो की अनेकता से अनेक जैसे जान पडते है। वे ही सम्पूर्ण लोको की रचना करते है, और देवता, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि योनियो मे लीलावतार ग्रहण करके सत्व गुण के द्वारा जीवो का पालन-पोषण करते है —

यथा ह्यवहितो वह्निर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु।
नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान्॥
भावयत्येष सत्वेन लोकान् वै लोकभावनः।
लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु॥

—भाग० १।२।३२,३४

एकमात्र श्री हरि की भक्ति से ही जीव के सारे पाप-ताप नष्ट हो सकते है, और उसे परमानन्द एव कैवल्य की प्राप्ति हो सकती है। हमारे चित्त को स्थायी आनद सच्चिदानन्द श्री कृष्ण की पुष्टि से उपलब्ध हो सकता है। देवकी नन्दन वासुदेव श्री कृष्ण साक्षात् परब्रह्म है, उन्ही की इच्छा से जगत् का सृजन, पालन और सहार होता है। वे सभी जीवो के एक मात्र आश्रय और आनद घन है। जब तक जीव को इस प्रकार का विश्वास नही हो जाता, वह भक्ति-पथ मे अग्रसर नही होगा। जीव का दुख आनद सिन्धु से मिल कर आनदस्वरूप हो सकता है। आनन्दकन्द श्री कृष्ण का रूप सौन्दर्य इतना आकर्षक है कि वह तुरत जीव समुदाय को अपनी ओर खीच लेता है। रूप नेत्र का विषय है, और इसका अधिष्ठातृ देवता सूर्य है, प्रकाश है। श्री कृष्ण का रूप, प्रकाश, अधकार के दुख मे भटकते प्राणियो को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। श्री कृष्ण के मुख पर स्मिति—प्रकाश के प्रतीक के रूप में—सर्वदा वर्तमान रहती है।

तेज से प्रज्ज्वलित अग्नि के बीच किंशुक पुष्पचूड और नीलोत्पल का दर्शन प्रलयकर ताण्डव में लास्य की झाँकी जैसा है। ब्रह्माण्ड को फोडने वाले अग्नि-देव के बीच नीलकमल का दर्शन क्रुद्ध नृसिह के अक मे शिशु प्रह्लाद जैसा अभिराम है। धूमपक्ति का निर्वाण-रूप (धरती से सबध तोड़ कर आकाश मे मँडराने वाला रूप) कितना सुन्दर है! कवि की दृष्टि कितनी सूक्ष्म और बारीक है! लाल-लाल लपटो को टेसू के फूल के रूप मे देखना कितना सुन्दर है। अग्नि के उदात्त प्रलयकर रूप मे सुन्दरता की झाँकी प्रस्तुत की गई है। इसे उदात्त कहे या कात कहे या कातोदात्त, कुछ कहते नही बनता!

वाल्मीकि मे उदात्त के दो रूप और देखे जा सकते है, शीलोदात्त और बिम्बोदात्त। शील का अत्यत साधारण रूप हमे आकर्षित नही करता, असाधारण होने से उसमे आकर्षण आता है। चलते हुए को नही, हम रेगते या उडते हुए आदमी को देखना चाहते है। साधारण नारी से सतोष न हुआ तो हमने उसके कधे मे पख बाँध दिये। नर कन्या को नाग कन्या बना दिया। मानवी को अप्सरा बना दिया। लेकिन देवता, दानव और अप्सरा को छोड भी दे तो साधारण मानव के शील की गहराई मे जा कर भी हम आनदमग्न हो सकते है। कर्तव्यपालन मे शील की ऊँचाई और भावानुभूति मे उसकी गहराई देखी जा सकती है। उदात्त शील का निरूपण इन दोनो स्थितियो मे सभव है। सामान्य गति से चलने वाला शील जब अनुभूति के ताप से पिघलता है, या द्वन्द्व के धुएँ से अकुलाता है या अन्तर की आभा से दमकता है, तभी शील के उदात्त क्षणो का उद्घाटन होता है।

सत्वगुण से सम्पन्न मनुष्य की प्रवृत्ति प्रकाश की ओर एव तमोगुण अभिभूत व्यक्ति की अधकार की ओर दौडती है। अधकार मे अवसाद और प्रकाश मे आनद है। जीवन प्रकाश और अधकार का मेल है, धूप और छाँह का खेल है। प्रकाश मे अँधेरे के धब्बे और अँधेरे मे प्रकाश की किरण देखी जा सकती है। भयानक असुर मे स्नेह और वात्सल्य की चाँदनी एव धर्मराज युधिष्ठिर मे असत्य की छाँह का पता लग सकता है। शीलगत उदात्त मानव मे देवत्व की एक सुनहली झाँकी है। यह झाँकी राम या रावण में, कृष्ण या कस मे, सीता या त्रिजटा मे समान रूप से देखी जा सकती है। मूर्धन्य कलाकार पापमग्न पात्र में भी देवत्व की आभा का दर्शन करा देता है। शेक्सपियर की

लेडी मैकबेथ डकन की हत्या कर चुकी होती यदि मुखाकृति मे वह उसके पिता से न मिलता होता :—

> Had he not resembled
> My father as he slept, I had done't.

लेडी मैकबेथ बड़ी पापिनी है, लेकिन क्षरण भर के लिए वह पितृ स्नेह की चाँदनी से दिव्य हो जाती है। आसुरी अधकार के सलिल मे स्नेह की यह कोमल किरण पल भर किलक कर बुझ जाती है। यह क्षणिक किरण उसे उदात्त बना देती है।

वाल्मीकि का बालि, जो हमारी दृष्टि मे अनुज वधू पर कुदृष्टि डालने के कारण आततायी है, अपनी मरण-वेला मे कितना महान् दिखाई देता है! मरते समय वह सुग्रीव से कहता है —

"हे भाई, तुम मुझे दोष न देना। एक ही काल मे हम दोनो भाइयो का सुख के साथ रहना विधाता को मजूर नही था।" अपने लाडले पुत्र अगद को वह सुग्रीव के हाथो सौप जाता है। सुग्रीव को वह सलाह देता है कि वह बुद्धिमती तारा से सम्मति ले कर राज्य चलाता रहे। बालि अपने गले की दिव्य सुवर्ण माला को, जिसमे विजय श्री का सदा निवास है, सुग्रीव को प्रदान कर रहा है, जिससे वह जीवन में सदा विजयी बना रहे। [वह माला मृतक के गले मे रहने पर अपना प्रभाव खो देती है। इसलिए बालि मरने के पहले उसे सुग्रीव को पहना रहा है।][1]

> **इमां च मालामाधत्स्व दिव्यां सुग्रीव काञ्चनीम्।**
> **उदारा श्रीः स्थिता ह्यस्यां सम्प्रजह्यान्मृते मयि ॥**

अपने हत्यारे भाई के प्रति ऐसा सुनहला स्नेह ससार मे दुर्लभ है। भातृ स्नेह की इस अमृत धारा मे बालि के सारे पाप धुल जाते है। अपने बडे भाई के देवोपम व्यवहार से सुग्रीव पर जो बीती होगी, आदि कवि ने उसका भी मार्मिक चित्रण किया है। यह स्निग्ध और उज्ज्वल स्नेह बालि को उदात्त बना देता है। इस स्थल पर कोई भी सहृदय पाठक बिना दवित हुए नही रह सकता।

---

[1] किष्कि० २२।१६

लका-विजय के उपरात राम का सदेश ले कर हनुमान सीता के पास जाते है। अशोक वाटिका की राक्षसियो को फिर से देख कर हनुमान का दमित क्रोध एकाएक बरस पडा। वे सीता माता से कहते है कि हे माँ, इन राक्षसियो ने तुम्हे बहुत कष्ट दिया है। शीघ्र आज्ञा दो तो मै इनके केश नोच डालूँ, इन्हे आसमान मे उछाल कर पटक डालूँ. । राक्षसियो के प्रति हनुमान का यह उग्र क्रोध सीता के प्रति अनन्य भक्ति के कारण प्रज्वलित हुआ है।[1] उत्तर मे सीता कहती हैं कि ये राक्षसियाँ तो अपने राजा रावण की आज्ञा का पालन मात्र कर रही थी। उनका कोई दोष नही, दोष तो मेरे दुर्भाग्य का है। रावण की मृत्यु के बाद वे मुझे अब कहाँ डराती है। जीव हिंसक राक्षसो का भी हमे कोई अनिष्ट नही करना चाहिए। पापी हो या धर्मात्मा या वध करने योग्य ही कोई क्यो न हो, सज्जन को सदा उस पर दया करनी चाहिए, क्योकि ऐसा कोई नही है, जिससे कुछ अपराध न होता हो[2] —

न परः पापमादत्ते परेषां पापकर्मणाम् ।
समयो रक्षितव्यस्तु सन्तश्चारित्रभूषणाः ।।
पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति ।।

सीता का यह करुणार्द्र कथन उन्हे जीव मात्र की महामाता बना देता है। इस उक्ति को एक नीति श्लोक मात्र मान लेने से इसका औदात्य विनष्ट हो जायगा। इस श्लोक की मार्मिकता उपयुक्त नाटकीय स्थिति और आश्रयगत औचित्य पर निर्भर करती है। प्राणि मात्र के प्रति सीता की यह करुणा उन्हे अत्यत दिव्य बना देती है। यहाँ शीलगत औदात्य का दर्शन होता है।

---

[1] जहाँ सूक्ष्मोदात्त में स्थिति का उन्नयन है, मूल्योदात्त में भोग का उन्नयन है, परोदात्त मे व्यक्ति के स्वयं का उन्नयन है। व्यक्ति भोक्ता नही रह जाता, भाव हो जाता है। उसका प्राण लोक प्राण हो जाता है। उसका शरीर भोग के लिए नही सेवा के लिए रह जाता है। याद रखना चाहिये कि सेवा एक भोग नही, भाव है—

उदात्त सिद्धान्त और शिल्पन, प्रो० जगदीश पाडेय—पृ० १०

[2] युद्ध० ११३।४४,४५

वन गमन के समय, जब राम को विषादमग्न होना चाहिए था, वे त्रिजट ब्राह्मण के साथ विनोद कर रहे है। सीता और राम वन जाते समय अपनी धन-सम्पत्ति ब्राह्मणो के बीच वितरित कर रहे है। अपनी तरुणी भार्या के डाँटने पर सब से अत मे वृद्ध त्रिजट राम के पास दान माँगने आता है। राम ने हँस कर कहा कि हे ब्राह्मण, आप अपनी लाठी जितनी दूर फेक सकेंगे, उतनी जमीन पर गाएँ खडी कर आप को दान कर दूँगा। उस बूढे बाबा जी ने जी जान से अपनी लाठी घुमायी और उसे इतनी जोर से फेका कि वह सरयू के पार जा कर गिरी। वृद्ध त्रिजट की आशातीत सफलता पर राम हँसने लगे। घनघोर विषाद के बीच, आँसुओ की वर्षा के बीच, राम मुस्करा रहे है—यही वाल्मीकि को दिखाना है। वनवास राम को उदास न बना सका, वे सदा प्रसन्न राम है। कवि ने उपर्युक्त घटना द्वारा यहाँ राम को उदात्तशील दर्शाया है। वनवास के समय राम ही परिहास कर सकते है[1] —

> सशाटी परितः कट्यां सम्भ्रान्तः परिवेष्ट्यताम्।
> आविध्य दण्ड चिक्षेप सर्व प्राणेन वेगत.।
> सतीर्त्वा सरयूपारं दण्डस्तस्य कराच्च्युतः।
> गो व्रजे बहुसाहस्रे पपातोक्षण संनिधौ ॥
> × × ×
> मन्युर्न खलु कर्त्तव्यः परिहासो ह्ययं मम।

रावण की मृत्यु के उपरात राम विलाप करते हुए विभीषण से कहते है—जब रावण मर गया तो इससे मेरा फिर क्या वैर! यह जैसा तुम्हारा भाई था, वैसा ही अब मेरा भाई है। स्वर्ग प्राप्ति के लिए इसका उचित सस्कार होना चाहिए[2] :—

> मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं न. प्रयोजनम्।
> क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥

रावण के शव में भ्रातृत्व स्थापित करना राम जैसे महात्मा के ही अनुकूल है।

---

[1]अयो० ३२।३७ से ४०

[2]युद्ध० १०९।२५

रावण काम, क्रोध और हिंसा के लिए बुरी तरह कोसा जाता है। वह पाप का जगम समुद्र है। लेकिन, अपन भाई कुभकर्ण की मृत्यु का सवाद सुन कर उसका भातृ स्नेह उमड पडता है। दानवत्व भ्रातृत्व को न निगल सका! रावण अपनी भूल के लिए पश्चाताप भी करता है। वह कहता है, विभीषण ने उस समय मुझ अच्छी सम्मति दी थी, लकिन मैन अज्ञानवश उस महात्मा का कहना न माना। उसकी बातो का स्मरण कर मुझे बडी लज्जा जान पडती है। मैने धर्मपरायण श्रीमान् विभीषण को जो घर से निकाल दिया था, उसी कर्म का यह शोकदायक परिणाम अब मुझे भोगना पड रहा है[1] —

> **तदिद मामनुप्राप्तं विभीषण वच. शुभम् ।**
> **यदज्ञानान्मया तस्य न गृहीतं महात्मनः ॥**
> **. . मां व्रीडयति दारुण· ।**
> **तस्यां कर्मणः प्राप्तो विपाको मम शोकदः ।**
> **यन्मया धार्मिकः श्रीमान् सनिरस्तो विभीषणः ॥**

रामायण मे शीलोदात्त के कई उदाहरण मिलेंगे, लेकिन यहाँ एक और उद्धृत करना चाहता हूँ। रावण की मृत्यु के बाद विमान पर बेठे हुए महाराज दशरथ ने राम-लक्ष्मण को दर्शन दिया और उन्हे अक मे भर लिया। अपने प्रसन्न पिता से राम ने हाथ जोड कर कहा .—

हे धर्मज्ञ पिता जी आप कैकेयी और भरत के ऊपर प्रसन्न हो जाइए। हे प्रभो आपने कैकेयी से जो यह कहा था कि मैं पुत्र सहित तेरा त्याग करता हूँ, आपका वह शाप अब यथार्थ न रहे[2] —

> **कुरु प्रसादं धर्मज्ञ कैकेय्या भरतस्य च ॥**
> **सपुत्रां त्वां त्यजामीति यदुक्ता केकयी त्वया ।**
> **स शापः केकयी घोरः सपुत्रां न स्पृशेत्प्रभो ॥**

महाकवि ने स्वर्ग मे भी महाराज दशरथ को चैन से नही रहने दिया। मरण वेला की उनकी अभिलाषा राम-दर्शन के द्वारा पूरी कर दी गयी। भरत की तो कोई बात नही, कैकेयी पर पिता जी प्रसन्न हो जॉय, ऐसा वरदान माँगने

[1] युद्ध० ६८।२१, २२, २३
[2] युद्ध० ११६।२५,२६

वाला बेटा धरती पर कभी-कभी अवतरित होता है। राम के इसी शीलस्वभाव पर बाबा तुलसीदास लट्टू हो रहे है। सीतापति के शीलस्वभाव को सुन कर जिसके मन मे मोद नही, तन मे पुलक नही, नयन मे जल नही, वह आदमी धूल फाँका करे !

शील का उदात्त तत्व हमारे मानस पर अमिट प्रभाव डालता है, हृदय में कोमल स्पदन भरता है, और सम्पूर्ण जीवन को दूध और मधु से नहला देता है। उदात्त शील हमारे प्राण के लिए पचामृत है।

कवि की सहजानुभूति अभिव्यक्त होते समय अनायास बिम्ब मे प्रकट होती है। बिम्बविधान के द्वारा भाव प्रभविष्णु और विचार प्राणवत हो उठते है। यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक बिम्ब मे कोई अलकार देख जाय। बिम्ब बिना अलकार का भी प्रकट हो सकता है। और अलङ्कार भी, अभिनवता और मूर्तिमत्ता के कारण बिम्ब का पद प्राप्त कर सकता है। जिस रीति के कारण काव्यगत भाव या विचार में चित्रमयता, प्राणवत्ता, नवीनता और प्रभविष्णुता आती है उसे हम बिम्बविधान कहते है। जिससे मन में एक तस्वीर-सी खिंच जाय, जिससे ताजगी और आकर्षण का अनुभव हो, जो सरलता के साथ प्रेषित हो जाय, जिससे कल्पना को प्रेरणा मिलती हो, वह बिम्ब है। बिम्ब एक शब्द मे भी और पूरे ग्रथ मे भी मिल सकता है। बिम्ब अभिव्यजना से भिन्न नही है, वह एकात्म हो कर प्रकट होता है। मार्मिक अनुभूति बिना बिम्ब की अभिव्यक्ति नही हो सकती। सीधे-सादे दो-एक शब्दो मे भी बिम्बविधान सभव है। जिन बिम्बो के द्वारा हमारे मन मे विस्मय, आश्चर्य, आतक, भीति, विस्तीर्णता, अनतता आदि के चित्र प्रत्यक्ष होते है, उन्हे हम उदात्त की सज्ञा प्रदान करेंगे। सुन्दर काण्ड और युद्ध काण्ड मे ऐसे बिम्ब हमे प्रचुर मात्रा मे मिल जाते है। युद्ध काण्ड से दो-तीन बिम्बो का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

अपने पुत्र की हत्या का सवाद सुन कर पहले सतप्त और तुरत क्रुद्ध रावण तलवार ले कर सीता का वध करने के लिए दौडता है। कवि ने उसके रौद्र रूप को इस प्रकार बिम्बायित किया है[1] —

---

[1]युद्ध० ९२।२३, २४, २५

तस्य क्रुद्धस्य नेत्राभ्या प्रापतन्नश्रु विन्दवः ।
दीपाभ्यामिव दीप्ताभ्यां सार्चिषः स्नेह विन्दवः ।।
दन्तान् विदशतस्तस्य श्रूयते दशनस्वनः ।
यन्त्रस्याकृष्यमाणस्य मथ्नतो दानवैरिव ।।
कालाग्निरिव संक्रुद्धो याया दिशमवैक्षता
तस्या तस्या भयत्रस्ता राक्षसाः सविलिल्यिरे ।।

रुद्र की तरह दुर्घर्ष रावण के नेत्रो से आँसू की बूँदे वैसे ही टपकी, जैसे जलते हुए दीपको से चिनगारियो के साथ तेल की बूँदे टपक पड़ती है। उसके दाँतो के पीसने से ऐसा शब्द सुन पडा जैसे दानवी बल से घूमते हुए कोल्हू का शब्द होता हो। कालाग्नि की तरह क्रुद्ध रावण जिधर देखता उधर ही बैठे या खडे भयत्रस्त राक्षसो मे सन्नाटा छा जाता। अगाध शोक और प्रचड क्रोध का मीलित चित्रण चिनगारियो के साथ टपकते हुए तैल विन्दुओ से किया गया है। दाँतो का कटकटाना कोल्हू के कड़कडाने से उपमित हुआ है। यह गरीब का गुस्सा नही रावण का क्रोध है। युद्ध-स्थल मे अगद ने उछल कर रावणपक्ष के शूरमा नरान्तक के घोडे के सिर मे एक लात मारी है। उस मरते हुए घोडे का चित्र देखिए[१] :—

निमग्न पादः स्फुटिताक्षितारो
निष्क्रान्त जिह्वोऽचल संनिकाशः ।
सतस्य वाजी निपपात भूमौ
तल प्रहारेण विकीर्ण मूर्धा ।।

अगद के उस दारुण पद प्रहार से पर्वताकार घोडे का तालू फट गया, उसकी आँखे निकल पडी, ओठ लटक पडे, जीभ निकल आयी, सिर फट गया, वह भूमि पर लोट गया। वर्षो पहले मैने दोस्तवेस्की का 'क्राइम एड पनिशमेन्ट' पढा था, उसमे सवारी के बोझ से चाबुक खाते हुए एक घोडे को कुछ इसी प्रकार मुँह बा कर मरते पढा था। दोस्तवेस्की ने करुणा उभारी है, वाल्मीकि ने दिल दहला दिया है। मृत्यु के इस प्रत्यक्ष रूप को उदात्त ही कहा जायगा। आदि कवि ने निकुम्भ के परिघ का जीवत चित्र प्रस्तुत किया है। उसका परिघ बेहद लबा, चमकीला और भयकर था। वह इतना लबा था कि

---

[१]युद्ध० ६६।६०

निकुम्भ जब उसे ऊपर उठाता तो उसकी नोक से टकरा कर प्रवाह आदि पवन की सातो गाठे खुल जाती थी, और उससे बिना धुए की आग भभक उठती थी। जब वह परिघ को घुमाता था तो लगता था कि ग्रह नक्षत्रो समेत आकाश मंडल घूम रहा हो[1] .—

परिघाग्रेण पुस्फोट वातग्रन्थिर्महात्मनः।
प्रजज्वाल सघोषश्च विधूम इव पावकः॥
निकुम्भपरिघा घूर्ण भ्रमतीव नभ स्थलम्.

परिघ की नोक से पवन की गाँठो का खुलना, बिना धुएँ के चिनगारियो का निकलना, उसके घुमाने से नक्षत्र सहित आकाश मडल का घूमना अत्यत विस्मयोत्पादक बिम्ब है। ऐसा भयकर परिघ हनुमान् की छाती मे लगते ही चूर-चूर हो गया ! अब अनुमान कीजिए कि हनुमान् की छाती किस वज्र की बनी थी ! राम और रावण ने जब एक दूसरे पर बाण फेंकना शुरू किया तो सारा आकाश बाणो से भर गया। राम ने लाखो, करोडो बाण छोडे— ऐसा कहने से कोई चित्र सामने नही आता है। वाल्मीकि कहते है कि बाणो की इतनी घनघोर वर्षा हुई कि आकाश का साँस लेना ही बद हो गया ! आकाश जो सबो को साँस देता है, आज वही साँस नही ले पाता है। आकाश की साँस का रुक जाना, कैसी उच्च कल्पना है ! 'चक्रतुश्च शरैर्घोरैर्निरुच्छ्वास मिवाम्बरम्'।[2]

वाल्मीकि बिम्बो के चक्रवर्ती सम्राट् है। इनकी कल्पना का रथ घरघर करता हुआ दसो दिशाओं के अतिरिक्त स्वर्ग और पाताल को भी मुखरित कर रहा है। महाकवि का रथ कालचक्र से परिचालित हो रहा है। यह अब तक चल रहा है, कब तक चलता रहेगा, कौन जाने।

उदात्त के उपरात अब वाल्मीकि की सौन्दर्य-भावना पर कुछ विचार किया जाय।

प्रत्यक्ष जीवन मे सुन्दर कहे जाने वाले रूपो को कलाजगत् में भी हम वैसा ही देखना चाहते है। लेकिन, कला रूप के साथ उसके अतराल मे छिपे

---

[1]युद्ध० ७७।७,८
[2]युद्ध० १०७।२६

अरूप को, भाव को व्यक्त करना चाहती है । इसलिए, ऊपर से देखने पर जो रूप विकृत प्रतीत होता है, कला उसके अदर मे से झाँक कर उसके भाव सौन्दर्य को प्रकट कर देती है । इसलिए कला मे क्या कुरूप और क्या सुरूप, उसमे तो रूप मात्र—भावाभिव्यक्ति के कारण—सुन्दर हो जाता है । कलाकृति मे कोई वस्तु अलग काट कर नही दिखाई जाती, इसलिए, सबो के साथ ग्रथित हो जाने से वह 'पूर्ण' बन जाती है । केश की शोभा सिर के ऊपर है, उससे अलग हटने पर नही । कलावस्तु की सार्थकता समग्रता मे है, भिन्नता मे नही ।

रामायण की कोई भी वस्तु—घटना, पात्र, उद्देश्य, दर्शन, भाव—रामायण से अलग नही है । वाल्मीकि ने प्रत्येक वस्तु को 'पूर्ण' का अभिन्न अग बना दिया है । आदि कवि की कृति पूर्ण जीवन का महाकाव्य है । एक मानव के दो रूप है, देव और असुर । एक प्राण के दो रूप है जीवन और मरण । एक फूल के दो दल है, सुन्दर और कुरूप । एक शक्ति के दो व्यापार है, प्रेम और घृणा । ये सब एक महादेव के ही दो रूप है, रुद्र और शिव । वाल्मीकि ने प्रत्येक महान् कलाकार की तरह द्वन्द्वात्मक प्रतीत होने वाले जीवन का आनद घन के रूप मे चित्रण किया है । महाकवि और महायोगी की दृष्टि मे कही विरोध नही दिखाई देता, क्योकि उनकी दृष्टि मे समग्रता है । कहने के लिए, हम सीता को सुन्दर और शूर्पणखा को कुरूप कह ले, लेकिन कला मदिर मे दोनो की उपासना देवी के रूप मे की जाती है । दुर्गा की छिपी शक्ति को प्रकट करने वाला महिषासुर भी पूजित होता है । रावणत्व के कारण ही रामत्व प्रकाश मे आता है । आदि कवि ने जीवन के शुक्ल पक्ष की तरह कृष्ण पक्ष का चित्रण भी उसी उत्साह और मनोयोग के साथ किया है । इस महाकाव्य मे उदात्त के समान सौन्दर्य के भी विविध रूप और प्रकार देखे जा सकते है । विवेचन की सुविधा के लिए हमने उसे पाँच भागो मे यहाँ बाँटा है, प्राकृतिक दृश्य, मानवीय रूप, शील वैशिष्टय, स्वभाव-चित्रण और अनुभाव-लेखन । प्रत्येक के ऊपर थोड़ा विचार करना उचित होगा ।

हजारो वर्ष पहले भारत की वन्य प्रकृति कितनी शक्तिमती और ऋतुएँ कितनी आकर्षक रही होगी, इसका थोडा बहुत अनुमान रामायण के गायन से हो सकता है । उमडते हुए नद, गरजते हुए समुद्र, बिहँसते हुए सरोवर, कूजते हुए पक्षी और दहाडते हुए वन का अवलोकन करना हो तो आदि कवि की इन्द्रजालपुरी मे प्रवेश करना होगा । विशाल समुद्र को

देख कर जिस प्रकार वानरी सेना हतप्रभ हो भाग खडी हुई थी, उसी प्रकार रामायण के प्राकृतिक ऐश्वर्य को देख कर मै मुग्ध हो गया हूँ। महावीर प० रामचन्द्र शुक्ल का स्मरण कर डरते-डरते कुछ कह रहा हूँ। वाल्मीकि ने बडी सशक्तता और तन्मयता के साथ प्रकृति का रूपाकन किया है। लगता है कि कवि विराट् प्रकृति के प्रभूत रस का पान कर प्रेमोन्मत्त हो उठा है। सरयू, गगा, मदाकिनी, गोदावरी आदि नदियो का मनोरम चित्रण यहाँ मिलेगा। पर्वतो और निर्झरो के अतिरिक्त समुद्र के रोमहर्षक दृश्य का भी अकन किया गया है। चित्रकूट, अरिष्ट, मैनाक, त्रिकूट आदि पर्वतो का एव अयोध्या, किष्किन्धा, लका आदि नगरियो का भी इस महाकाव्य मे सुन्दर चित्रण हुआ है। किष्किन्धा और अरण्य काड मे पावस, शरत् और हेमत का एव सुन्दर काड मे वसत का नयनाभिराम अकन हुआ है। प्रभात, सध्या और रात्रि का, प्रसग के अनुकूल सुखद और भयावह वर्णन कई स्थलो पर आया है। सिह, हाथी, मृग, मयूर, साँड, भ्रमर, सर्प आदि का वर्णन भी यथास्थान किया गया है। मानव द्वारा निर्मित राजभवन, अट्टालिका, पुष्पकविमान, पुरी, उद्यान आदि का भी पर्याप्त चित्रण हमे यहाँ मिलता है। सुन्दर काड मे रावण के पलग का भी अच्छा वर्णन हुआ है।

वाल्मीकि की प्रकृति स्वच्छ, सरल और निर्मल है। कल्पना की दुरूहता के कारण प्रकृति का कोई चित्र दुरूह नही हो पाया है। वन्य प्रकृति अपने आप मे जैसी स्वस्थ और बलिस्ट है, कवि ने उसी रूप मे उसे अकित किया है। इनकी प्रकृति स्वस्थ, मासल और प्राणवत है। उसके मुख पर अकित भावो को सहज ही पढा जा सकता है। अनुभूति की स्वच्छता और गहराई के कारण इन्हे कृत्रिम अलकरण की आवश्यकता प्रतीत नही हुई। विरही राम के मुख से कही-कही प्रकृति का उद्दीपन-रूप भी चित्रित हुआ है, लेकिन वह हास्यास्पद कही नहीं है। पपा-सरोवर की प्रकृति राम के विदग्ध हृदय को शीतल भी करती है और प्रज्वलित भी। प्रकृति की प्रसन्नता और विरही की पीडा का मर्ममधुर योग अनुभव का विषय है। 'कामपीडिता' मोरनी अपने प्रियतम के साथ नृत्य कर रही है। वायु से प्रकपित उनके पख ऐसे शोभायमान है, मानो स्फटिक के झरोखे हो। इस मोर की प्रेयसी को कोई राक्षस हर कर नही ले गया है तभी तो यह रमणीय वनो मे अपनी वल्लभा के साथ नृत्य कर रहा है :—

मयूरस्य वने नूनं रक्षसा न हृता प्रिया ।
तस्मान्नृत्यति रम्येषु वनेषु सह कान्तया ।। किष्कि० १।४०

भौरे खिले हुए फूलो पर उड-उड कर बैठते है और फिर सहसा उड कर दूसरे वृक्ष पर चले जाते है। वसत ऋतु मे ये वृक्ष एक-दूसरे से होड लगा कर फूल खिला रहे है। भौरो की गुँजार से लगता है कि ये पेड एक-दूसरे को ललकार रहे है :—

निलीय पुनरुत्पत्य सहसा अन्यत्र गच्छति ।
मधु लब्धो मधुकर: पम्पातीर द्रुमेष्वसौ ।। किष्कि० १।८८
पुष्पमासे हितरव: संघर्षादिव पुष्पिता: । —वही ९१

भौरे का किसी फूल पर बैठना और सहसा फिर उड कर अन्यत्र चला जाना, इसमे भ्रमर की प्रकृति का बडा बारीक चित्रण हुआ है। आपस मे होड लगा कर वृक्षो का खिलना—वसत के पुष्प-प्राचुर्य का बोधक है। राम लक्ष्मण से कहते है कि पपा की इस वसत-श्री के बीच कही यदि सीता मिल जायँ तो वे इन्द्रपुरी भी जाना न चाहेगे और अयोध्या भी लौटना नही पसद करेगे। प्रकृति और प्रेयसी के सम्मिलन मे वे अयोध्या को भी भुला देगे—इस कथन मे जन्मभूमि के प्रति अनादर का भाव नही, बल्कि प्रकृति के लिए अभिनदन का भाव चित्रित हुआ है। शरत् ऋतु की प्रसन्नता का यह चित्र देखिये —

जलं प्रसन्नं कुसुम प्रहासं
क्रौञ्च स्वनं शालिवनं विपक्वम् ।
मृदुश्च वायुर्विमलश्च चन्द्र:
शंसन्ति वर्ष व्यपनीतकालम् ।। कि० ३०।५३

अर्थात्, 'जल स्वच्छ हो गया है, धान की खेती पक गई है, वायु मद गति से चलने लगी है और चन्द्रमा अत्यन्त निर्मल दिखाई देता है—ये सब लक्षण उस शरत् काल के आगमन की सूचना देते है, जिसमे वर्षा की समाप्ति हो जाती है, क्रौच पक्षी बोलने लगते है और फूल उस ऋतु के हास की भाँति खिल उठते है।' सारस-पक्ति का वर्णन यहाँ किस उल्लास के साथ किया गया है :—

विपक्वशालि प्रसवानि भुक्त्वा
प्रहर्षिता सारस चारुपक्ति: ।

नभ. समाक्रामति शीघ्र वेगा
वातावधूता ग्रथितेव माला। —कि० ३०।४७

अर्थात्, 'पके हुए धान की बालो को खा कर हर्ष से भरी हुई और तीव्र वेग से चलने वाली सारसो की वह सुन्दर पक्ति वायु-कपित गूँथी हुई पुष्प-माला की भाँति आकाश मे उड रही है।' सारस की पाँत हवा मे झूलती हुई फूलमाला की तरह है! जिसने सारसो को उडते हुए देखा है वह यहाँ कवि की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति की अवश्य प्रशसा करेगे। शुक्ल जी छायावादी प्रकृति मे नारी छवियो की बहुलता देख कर कुछ खीझते-से नजर आते है। वाल्मीकि के निम्नलिखित श्लोको पर भी, जो छायावाद की शृगारप्रियता को मात कर रहे है, वे जरूर खीझे होगे। पता नही, वाल्मीकि की दाढी ज्यो-ज्यो पकती गयी त्यो-त्यो साँवरी भी होती गयी क्या!

मीनोपसदर्शित मेखलानां
नदी वधूनां गतयोऽद्य मन्दाः।
कान्तोपभुक्तालसगामिनीना
प्रभातकालेष्विव कामिनीनाम्॥ वही, ५४

अर्थात्, 'रात को प्रियतम के उपभोग मे आ कर प्रात काल अलसायी गति से चलने वाली कामिनियो की भाँति उन वधूस्वरूपा नदियो की गति भी आज मन्द हो गयी है, जो मछलियो की मेखला-सी धारण किये हुए है।' इतना ही नही —

दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः।
नवसगमसव्रीडा जघनानीव योषितः॥ —वही ५८

अर्थात्, 'शरद् ऋतु की नदियाँ धीरे-धीरे जल के हटने से अपने 'पुलिनो' को दिखा रही है। ठीक उसी तरह जैसे प्रथम समागम के समय लजीली युवतियाँ शनै -शनै अपने जघन-स्थल को दिखाने के लिए विवश होती है।' इस श्लोक के सामने पत का 'चला मीनदृग चारो ओर, गह गह चचल अचल छोर · ··' अधिक साकेतिक है। आदि कवि ने यौवन की एक अनुभूति को निष्कपटता के साथ ऊपर व्यक्त किया है। उक्त कथन राम का लक्ष्मण के प्रति है। अपने छोटे भाई के सामने प्रकृति का ऐसा नग्न वर्णन करते समय मर्यादा पुरुषोत्तम को सकोच क्यो नही हुआ? लगता है कि राम विरहाधिक्य

के कारण बीच-बीच मे लक्ष्मण की उपस्थिति भूल कर अपने उपचेतन मन के प्रवाह मे वह जाते है। अपने मन मे प्रकृति का शृगारिक चित्र कल्पित कर सभवत वे प्रेयसी का सान्निध्य भी प्राप्त करते होगे। विरहोन्मत्तता मे मर्यादा का बाँध टूटना ही चाहिए। यह तो हुआ, लेकिन कवि ने अपने मुख से हनुमान् द्वारा मर्दित अशोक वाटिका की उत्प्रेक्षा क्षतविक्षता युवती से क्यो कर दी

विधूतकेशी युवतिर्यथा मृदित वर्णका।
निपीत शुभ दन्तोष्ठी नखैर्दन्तैश्च विक्षता॥
—सुन्दर० १४।१८

इसका उत्तर यही है कि कवि कवि है। बाबा के लिए सेक्स टैबू नही है। रावण ने अनेक युवतियो को मर्दित किया होगा, आज उसकी अशोक वाटिका एक वानर द्वारा क्षतविक्षत हो रही है। सुश्री अशोक वाटिका आज विश्री हो गयी। यह भी हुआ, लेकिन वृद्ध जाम्बवन्त ने हनुमान् के सामने ही अजना के उद्दाम यौवन का विवृत वर्णन क्यो किया ? लगता है कि देश काल के अनुसार यह वर्णन मर्यादापूर्ण नही हुआ। जो हो, वाल्मीकि स्वस्थ यौवन का मासल चित्रण करने मे दोष नही देखते है। विरही राम ने शरत् सरिता के पुलिन की ही कल्पना नही की, उन्होने सध्या के लाल आकाश मे अपने हृदय का लाल घाव भी देखा है,

सध्या रागोत्थितैस्ताम्रैरन्तेष्वपि च पाण्डुभिः।
स्निग्धैर भ्रपटच्छेदैबद्ध व्रणमिवाम्बरम्॥ किष्कि० २८।५

अर्थात्, 'सध्याकाल की लाली प्रकट होने से बीच मे लाल तथा किनारे के भागो मे श्वेत एव स्निग्ध प्रतीत होने वाले मेघ खडों से आच्छादित हुआ आकाश ऐसा जान पडता है, मानो उसने अपने घाव मे रक्तरजित सफेद कपडो की पट्टी बाँध रक्खी हो।' प्रिया-वियोग से घायल-हृदय राम के मुख से आकाश का यह वर्णन सर्वथा युक्तियुक्त है। जो लोग इलियट की सध्या का वह वर्णन पढ कर, जिसमे सध्या टेबुल पर बेहोश रोगी की तरह लेटी हुई चित्रित की गई है, उछल-कूद मचाते हैं, उन्हे वाल्मीकि के घायल आकाश की तरफ भी एक बार नजर उठानी चाहिए। किष्किन्धा काण्ड का २८वा सर्ग पढ़ लेने के

बाद कई स्थलो पर कालिदास का मेघ और पत का बादल पूर्वपरिचित प्रतीत होता है।

प्रकृति के बीच दिखाई देने वाले नाना प्रकार के रगो के प्रति भी वाल्मीकि का बेहद आकर्षण है। चटकीले रगो का जमाव एक जगह देखना हो तो मायामृग मारीच को क्षण भर निहारिये। मारीच के मुख का रग कुछ सफेद और कुछ काला था, नीलमणि से उसने अपनी सीगो की नोक बनाई। उसका मुख लाल कमल जैसा और कान नील कमल-से थे। उसके पेट का रग भी नील कमल और हीरे की तरह चमकीला था। उसकी दोनो बगले महुआ के फूल के रग की तरह थी। उमके खुर पन्ने के रग की तरह एव पूँछ इन्द्र-धनुष जैसी थी। इतने हीरे मोती और पन्नो के बीच महुए का फूल कैसा फब रहा है !

किंचिदभ्युन्नतग्रीव इन्द्रनीलनिभोदरः।
मधूकनिभ पार्श्वश्च कज किंजल्कसंनिभः। अर० ४९।१७

सप्तजन आश्रम के हवन का धूम जो कबूतर के अग जैसा कुछ लाल है यहाँ के वृक्षो पर छाया रहता है। धुएँ से ढकी वृक्षो की फुनगियाँ कुछ ऐसी लगती है, मानो मेघो से ढका हुआ पन्नो का पर्वत हो। अयोध्या और अरण्य काड मे आश्रमो का अत्यन्त हृदयहारी चित्रण हुआ है। रघुवश और शाकुतल के आश्रम-वर्णन का बीज अरण्य काड मे मौजूद है। वाल्मीकि के चित्रण मे कोई चातुरी नही, कोई कल्पना-विलास नही, कोई कृत्रिम अलकरण नही, फिर भी उन्होने दो-चार सरल शब्दो द्वारा, हल्की मोटी रेखाओ द्वारा, अतीव प्रफुल्ल वातावरण निर्मित कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम उन वनो और आश्रमो मे सचमुच पहुँच गए है। चकोर, हँस, मृग, हाथी, सरोवर, केले के वृक्ष, महुए का वन, नदी की तरगे, शीतल पवन, हवन का धूम आदि ये सभी तत्काल सामने चले आते है। राम गोदावरी स्नान करने जाते है, इच्छा होती है, हम भी साथ हो ले।

बलवान लक्ष्मण, सीता जी के साथ, अपने हाथ मे कलसी लिए हुए रामजी के पीछे-पीछे गोदावरी मे स्नान करने जा रहे है। सूरज थोडा ऊपर उठ आया है, चारो ओर घने कुहरे छाये हुए है, जिनके चलते सूरज चाँद की तरह धुँधला लग रहा है, पछुवा हवा, कुहरे के कारण दुगुनी ठढी हो कर वह रही है।

क्रौच और सारस पक्षी, जाडे मे ठिठुर कर, बोल रहे है। ये सुनहले शालिसमूह खजूर के फूल की तरह, धानो की बालो के बोझ से, कुछ झुके हुए कैसे सुशोभित हो रहे है। इस चित्रण को पढ कर बार-बार मेरा मन करता है कि मैं भी लक्ष्मण के पीछे-पीछे कुछ फूल, बेल, पात ले कर, कुहरे भरे घने खेतो से होता हुआ नहाने चल पडूँ। हेमत की शोभा का वर्णन करते-करते भगवान् राम को प्यारे भाई भरत की याद आ जाती है। वे विलाप करते हुए नदी मे स्नान करते है। प्रकृति की मोहिनी माधुरी भरत की याद से और भीग जाती है। हे राम, नयननीर के चलते तो तुम कही नारायण नही बने! गोदावरी का वह मार्गदृश्य, देखिए :—

प्रकृत्या शीतलस्पर्शो हिमविद्धश्च साम्प्रतम् ।
प्रवाति पश्चिमो वायुः काले द्विगुण शीतलः ॥
बाष्पच्छन्नान्यरण्यानि यवगोधूमवन्ति च ।
शोभन्तेऽभ्युदिते सूर्ये नदद्भिः क्रौञ्च सारसैः ॥
खर्जूर पुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्ण तण्डुलैः ।
शोभन्ते किंचिदालम्बाः शालयः कनक प्रभाः ॥
मयूखैरुपसर्पद्भिर्हिमनीहार सवृतैः
दूरमभ्युदितः सूर्यः शशाङ्क इवलक्ष्यते ॥ ...

—अर० १६।१५ से १८ तक

कुहासे से ढकी और फैलती हुई किरणो से उपलक्षित होने वाले दूरोदित सूर्य चन्द्रमा के समान दिखाई देते है। कुहरे से ढका सूरज दूर, ऊपर मे चाँद-सा दिखाई देता है! कैसा बारीक चित्रण है!

रामायण मे प्रकृति के भीम और कात रूप के जो सुन्दर चित्रण उपलब्ध है, वे रामचरितमानस मे नही। तुलसी प्रकृति की माधुरी मे प्राय. रमते हुए नही दीखते है। इनका प्रकृति चित्रण जहाँ-कही कृत्रिम, अलकृत और उपदेशात्मक हो गया है। वाल्मीकि का चित्रण स्वाभाविक, उत्फुल्ल और नयनाभिराम है। तुलसी की प्रकृति उनकी भक्ति के चलते गौण पड गई है। वाल्मीकि की प्रकृति उनके कवि-स्वभाव के कारण सजीव हो गई है। तुलसी की भक्ति मे कविता है—वाल्मीकि की कविता मे भक्ति है। पहला जन्मजात भक्त है, दूसरा जन्मजात कवि। प्रकृति-सौन्दर्य मे भले ही दोनो मे भिन्नता हो, लेकिन शील-सौन्दर्य मे दोनो मे एकता है।

अब हम, वाल्मीकि ने मानव की रूपाकृति का सौन्दर्य किस प्रकार निरूपित किया है, इस पर थोडा विचार करेंगे। सुन्दर काड के पैंतीसवे सर्ग मे हनुमान् ने राम के गुण और रूप का, सीता को विश्वास दिलाने के लिए, विस्तृत वर्णन किया है। इस स्थल पर शरीर की आकृति का आदर्श रूप खचित हुआ है। आर्य पुरुष का यही आदर्श रूप है। पुरुषोचित आकृति के प्रति यूनानी आचार्यो ने काफी जागरूकता दिखाई है। प्लेटो तथा उनके अनुयायियो ने रूपाकृति के लिए निम्नलिखित मान स्थिर किये —

सम्मात्रा—सिमेट्री	आनुगुण्य—प्रोपोर्शन
सुव्यवस्था—ऑर्डर	स्पष्टता—सिम्प्लिसिटी
विविधता—वैराइटी	मसृणता—स्मूथनेस
एकरूपता—युनिफॉर्मिटी	कोमलता—टेन्डरनेस
औचित्य—प्रोप्राइटी	वर्णप्रदीप्ति—कलरिंग
सगति—हार्मनी	इत्यादि. .

राम के आकृति-वर्णन मे इन सभी तत्वो का समावेश अनायास हो गया है। हनुमान् का कथन है कि रामचद्र विशाल कधो वाले, महाबाहु, शखग्रीव, हँसुलियो की मासल पेशियो वाले और रक्तनयन है। उनका कठस्वर गभीर है। वे स्निग्धवर्ण और समविभक्ताग है। उनके अग समाश्रित है। उनके जघन, भ्रू आदि लबे है। उनके कठ मे त्रिवली और मस्तक पर भँवर है। चौबीस अगुल के हाथ से वे चार हाथ लबे है। उनके बाहु, घुटना, जघा और कपोल समान है। उनके दाँत चिकने, परस्पर मिले हुए और पैने है। सिंह, शार्दूल, पक्षी, हाथी और साँढ की तरह चार प्रकार की उनकी चाल है। उनके शरीर के दस अग कमल के समान है। उनके कक्ष, उदर, वक्षस्थल, नासिका, स्कध और ललाट ऊँचे है। उनके केश, नख और त्वचा कोमल हैं। वे द्विशुक्लवान् है, यानी, उनके मातृ और पितृवश निर्दोष है। वाल्मीकि की मान्यता है कि प्रत्येक आर्य वीर का शरीर स्वस्थ, पुष्ट, बलिष्ट और विचक्षण होना चाहिए। शरीर के अग-सस्थान पर आदि कवि की पूरी आस्था है। राम, लक्ष्मण, हनुमान्, रावण, सीता, तारा, मदोदरी आदि की रूपाकृति का कवि ने प्रसग के अनुसार एकाधिक बार उल्लेख किया है। सीता की कटि, उरु, कपोल, वक्ष, चरण, ललाट आदि की शुभ्रता का नि सकोच चित्रण किया गया है। चारु पयोधर युवती के स्वस्थ

यौवन का चिन्ह है। सहतस्तनी रमणी सुन्दर होती है। पुरुष और नारी दोनो के अग सौन्दर्य के वर्णन मे वाल्मीकि ने अपनी आस्था और उत्साह का परिचय दिया है। स्वस्थ और पुष्ट रूप के प्रति ऐसी भावना विजयी राष्ट्र की आर्य-भावना है।

सुरूप या कुरूप, दोनो प्रकार की रूपाकृतियो का आदि कवि ने सविस्तार वर्णन किया है। अनिन्द्य सुन्दरी जगज्जननी जानकी एव वृद्धा कुरूपा शूर्पणखा दोनो का चित्रण इन्होने समान भाव से किया है। रावण की पानशाला मे जहाँ एक ओर अपूर्व सुन्दरियो की प्रदर्शनी है, वहाँ अशोकवाटिका मे घोरदर्शना राक्षसियो का भी भयावह चित्रण है। राम-लक्ष्मण के रूपलावण्य का चित्रण देख कर जहाँ चित्त आनदमग्न होता है, वहाँ विराध, कबंध और कुम्भकर्ण के भयकर रूप से मन आतकित हो जाता है। हर्षोत्फुल्ला सीता और शोकमग्ना जानकी दोनो के चित्र कवि ने समान कौशल के साथ अकित किये है। रावण की पानशाला मे प्रसुप्त सौन्दर्य का और हनुमान् के समुद्र लघन मे गतिशील सौन्दर्य का हृदयहारी चित्रण हुआ है। प्रकृति के स्वाभाविक और अति प्राकृतिक दोनो रूपो के दर्शन रामायण मे होते रहते है। कही तो प्रकृति (पुरी, नदी, वाटिका, ऋतु.) सुन्दरी के रूप मे और कही सुन्दरी ही सरिता के रूप मे चित्रित हुई है। सुन्दर या भयकर का एक साथ चित्रण देखना हो तो रावण का रूपवर्णन देख सकते है। मानव की रूपाकृति, भावाकृति, सुन्दरता, कुरूपता, युवालावण्य, वृद्ध-श्री, गत्यात्मक और स्थितिमूलक सौन्दर्य, प्राकृतिक और अति प्राकृतिक, विषादमग्न, हर्षोन्मत्त, घोरदर्शन, शुभदर्शन आदि अनेक रूप महाकवि की तूलिका से उतर कर धन्य हो गये है।

शिशपा वृक्ष पर बैठे हुए हनुमान् जी ने सीता माता का जो तप पूत रूप देखा है, उसका अकन बड़ी शालीनता, सात्विकता, श्रद्धा और मृदुता के साथ किया गया है। रात के पिछले पहर के धुध मे पहले जानकी का धुँधला रूप दिखाई देता है, तब चन्द्रमा के उदित होने पर उनका रूप शनैः-शनैः प्रदीपित होने लगता है। इस स्थल पर सीता का रूप हनुमान् की श्रद्धा भक्ति, करुणा, उत्सुकता, प्रसन्नता, कल्पनाशीलता, सहानुभूति आदि कई भावनाओ से सबलित हो कर अत्यत मनोरम हो गया है। यह कमलासना हनुमान् की भाववीचियो पर

डोलती रहती है। शोकमग्ना मलिन सीता का रूप कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के द्वारा इस प्रकार चित्रित किया है —

भूमौ सुतनुमासीनां नियतामिव तापसीम् ।
निःश्वास बहुलां भीरुं भुजगेन्द्रवधूमिव ।।
शोकजालेन महता विततेन न राजतीम् ।
संसक्तां धूम जालेन शिखामिव विभावसोः ।।
तां स्मृतीमिव संदिग्धामृद्धिं निपतितामिव ।
विहतामिव च श्रद्धामाशां प्रतिहतामिव ।।
सोपसर्गां यथा सिद्धिं बुद्धिं सकलुषामिव ।
अभूतेनापवादेन कीर्त्तिं निपतितामिव ।।
रामोपरोध व्यथितां रक्षोगण निपीडिताम् ।
अबला मृगशावाक्षीं वीक्षमाणा ततस्ततः
वाष्पाम्बुपरिपूर्णेन कृष्ण वक्राक्षिपक्ष्मणा ।
वदनेनाप्रसन्नेन निःश्वसन्तीं पुनः पुनः ।।
मलपङ्क धरा दीनां मण्डनार्हाममण्डिताम् ।
प्रभां नक्षत्र राजस्य कालमेघैरिवावृताम् ।।
तस्य संदिदिहे बुद्धिस्तथा सीता निरीक्ष्य च ।
आम्नायानाम योगेन विद्यां प्रशिथिलामिव ।।
दुःखेन बुबुधे सीतां हनुमाननलंकृताम् ।
संस्कारेण तथाहीनां वाचमर्थान्तरं गताम् ।।

—सुन्द० १५।३१ से ३९

अर्थात्, 'अशोक वाटिका मे सीता नियमपरायण तापसी के समान भूमि पर बैठी थी। यद्यपि वे स्वभाव से ही भीरु और चिन्ता के कारण बारबार लम्बी साँस खीचती थी, तो भी दूसरो के लिए नागिन के समान भयकर थी। वे महान् शोकजाल से आच्छादित होने के कारण विशेष शोभा नही पा रही थी। धुएँ के समूह से मिली हुई अग्निशिखा के समान दिखायी देती थी। वे सदिग्ध अर्थ वाली स्मृति, भूतल पर गिरी हुई ऋद्धि, टूटी हुई श्रद्धा, भग्न हुई आशा, विघ्न-युक्त सिद्धि, कलुषित बुद्धि और मिथ्या कलक से भ्रष्ट हुई कीर्ति के समान जान पडती थी। श्री रामचद्र जी की सेवा में रुकावट पड जाने से उनके मन मे बडी व्यथा हो रही थी। राक्षसो के पीड़ित हुई मृगशावकनयनी अबला सीता असहाय

की भाँति इधर-उधर देख रही थी। उनका मुख प्रसन्न नही था। उस पर आँसुओ की धारा बह रही थी और नेत्रो की पलकें काली एव टेढी दिखाई देती थी। वे बारबार लबी साँस खीचती थी। उनके शरीर पर मैल जम गयी थी। वे दीनता की मूर्ति बनी बैठी थी तथा शृगार और भूषण धारण करने योग्य होने पर भी अलकार शून्य थी, अत काले बादलो से ढकी हुई चद्रमा की प्रभा के समान जान पडती थी। अभ्यास न करने से शिथिल (विस्मृत) हुई विद्या के समान क्षीण हुई सीता को देख कर हनुमान् जी की बुद्धि सदेह मे पड गयी। अलकार आदि से रहित हुई सीता व्याकरणजनित सस्कार से शून्य होने के कारण अर्थान्तर को प्राप्त हुई वाणी के समान पहचानी नही जा रही थी। हनुमान् जी ने बडे कष्ट से उन्हे पहचाना।' कीचड से लिपटी हुई कमलनाल की भाँति शोभा और अशोभा दोनो से युक्त सीता का यह रूप है :—

सा मलेन च दिग्धाङ्गी वपुषा चाप्यलंकृता।
मृणाली पङ्कदिग्धेव विभाति च न भाति च ॥

—सु० १८।२५

रावण की पानशाला और शयनशाला मे सोई हुई सुन्दरियो का विस्तृत वर्णन कही उदात्त नही है। मास, मदिरा और सुन्दरियो की बहुलता के द्वारा यह दिखाया गया है कि रावण कितना मद्यप, कामी और हिंसक था। घोर विलास मे रत राजा का अत निकट होता है। पानशाला मे प्रमुख सुन्दरियो के दो-एक चित्र यहाँ दिये जाते है :—

कोई स्त्री वीणा को अपनी छाती से लिपटा कर सो जाने से ऐसी जान पडती थी मानो नदी धार मे डूबती हुई कमलिनी किसी नाव से जा लिपटी हो। कोई शुभस्तनी तबला बजाते-बजाते उसी पर झुकी हुई सो रही थी। कोई कमल लोचनी कामातुरा कामिनी एकात मे वशी को प्रियतम समझ कर पकडे सो रही थी। रतिश्राता कोई कृशोदरी अपनी भुजाओ मे ढोलक दबाये सो रही थी, कोई डमरू को अपना शिशु समझ कर उसे आँचल मे छिपाये सो रही थी। एक स्त्री जल के कलसे से ही लिपट कर सो गई थी। कलसे के जल से भीगी हुई वह सुन्दरी वसतकाल की फूल-माला के ऊपर छिड़के हुए जल-सी लगती थी। कोई सुन्दरी ऊँघती हुई दूसरी सुन्दरी की सेज पर उसके वस्त्र छीन कर अपने शरीर को ढके सो रही थी। कुछ सुन्दरियो के मुखमडल की भगिमाओ से ऐसा लगता था कि कोई बात करती हुई, कोई गीत गाती हुई,

कोई अभिनय करती हुई सो गई हो। कोई कोमलागी कामिनी निद्रावस्था मे अपने कोमल हाथो को हिला-डुला रही थी, मानो वह स्वप्न मे हाव-भाव दिखा कर नाच रही हो। सुन्दरियो के मुख, मोतियो के हार, जघा, केश आदि की उपमा हस, चकोर, तट, धारा आदि से दे कर बाल्मीकि ने प्रसुप्त सुन्दरियो को प्रत्यक्ष सरिता के रूप मे चित्रित किया है। सुन्दर काड के नवम, दशम और एकादश सर्ग मे प्रसुप्त सौन्दर्य का, उत्कट विलास का, जाग्रत चित्रण है। शयनशाला मे सोई हुई इन सुन्दरियो को देख कर हमारे मन मे वासना उत्पन्न हो सकती है, लेकिन, प्रत्यक्ष देखने वाले हनुमान् जी को उस शयनशाला ने माता के समान सतृप्ति प्रदान की—'तर्पयामास मातेव तदा रावण पालिता।' उनके मन मे तनिक भी विकृति प्राप्त नही हुई, 'नहि मे मनस किञ्चिद् वैकृत्य-मुपपद्यते।' उनकी दृष्टि पर दारा मे कभी विषयवर्तिनी नही हुई। वे सभी सुन्दरियो के मुख मे माता जानकी का मुख देखने की आशा मे थे। जब अपनी खोई घडी खोजने के लिए आप पेटी की सभी वस्तुएँ कई बार निकालते हैं और रखते है, तब और चीजो को देखते हुए भी आप किसी को नही देखते, सबो को छूते हुए भी किसी को नही छूते। आसक्ति का कारण मन है, अनासक्त मन सबो को देखता हुआ भी किसी को नही देखता। सुन्दरी-सरोवर मे हनुमान् जी का मन पद्म पत्र बना रहा। पिच्छल विलास के बीच शील का उदात्त शिखर कितना भव्य प्रतीत होता है।

उन सुन्दरियो के बीच पलग पर लेटा हुआ रावण किस प्रकार सुशोभित है, उसके रूप चित्रण मे कवि बीच-बीच में एक भयावह उपमा दे कर उसके रावणत्व की ओर हमारा ध्यान ले जाते है। सुन्दर आभूषणो, चीनाशुको और सुगधित चदनो से विभूषित रावण पलग पर सो रहा है, लेकिन उसकी भुजाएँ मदराचल पर स्थित पाँच मस्तको वाले नाग की तरह फन काढे थी। वह उज्ज्वल पलग पर लेटा हुआ, निर्झर के तट पर गधहस्ती की तरह सोया दीखता था। उसके वस्त्र बडे चमकीले थे, लेकिन, उसके वक्ष पर चर्चित चदन का रग शशक्षतजकल्पेन खरगोश के ताजे खून की तरह लाल था। सोता हुआ रावण उडद के ढेर की तरह जान पडता था। वह साँप की फुफकार की तरह साँस लेता हुआ, पलग पर पड़ा ऐसा सो रहा था मानो गगा जी के गहरे जल में गजराज लेटा हो :—

माषराशि प्रतीकाशं निःश्वसन्तं भुजङ्गवत्।
गाङ्गे महति तोयान्ते प्रसुप्तमिव कुञ्जरम्॥ —सु० १०।२८

एक ही व्यक्ति मे एक ही समय सुन्दर और भयकर का ऐसा कलात्मक मिश्रण कम देखा गया है। सोया हुआ काला रावण श्यामल या उडद के ढेर-जैसा दीखता था, शुभ्र पलग पर लेटा हुआ वह गगा में गजराज की तरह प्रतीत होता था। उसकी भुजाएँ मदराचल पर स्थित पाँच मस्तको वाले नाग की तरह फन काढे प्रतीत होती थी—सुगधित चदनो और कोमल चीनाशुको मे लिपटा हुआ रावण का यह रूप उसके रावणत्व को द्योतित कर रहा है।

सौन्दर्य के गतिमूलक रूप का चित्रण हनुमान् के समुद्र-लघन के समय किया गया है। उस ज्वलत रूप को देख कर योगिराज श्री अरविन्द मत्र-मुग्ध हो गये थे। उडते हुए हनुमान् का ऐसा गतिशील चित्रण उन्हे योरोपीय काव्य मे भी नही मिला। इस वेगवती सुन्दरता की ओर हमने पीछे सकेत किया है। यहाँ युद्ध काड से एक छोटा-सा उदाहरण दिया जाता है —

भ्रमन्तीं काञ्चनीं कोटिं कार्मुकस्य महात्मनः।
अलातचक्र प्रतिमां ददृशुस्ते न राघवम् ॥

—युद्ध० ९३।२८

वे राक्षस महात्मा श्रीराम के धनुष की सुनहरी कोटि (नोक) को अलातचक्र की भाँति घूमती देखते थे, किन्तु साक्षात् श्री रघुनाथ जी को नही देख पाते थे। यानी, वे श्रीराम के सुवर्णमय धनुष का अग्रभाग अधजली और घूमती हुई बनैटी की तरह सदा मडलाकार ही देखते थे। वे अलातचक्र देखते थे, राम या धनुष को नही। ठोस, सटीक, मूर्तिमती उपमा, अपना कृत्रिम अलकारत्व खो कर, बिम्ब बन जाती है। युद्ध की तीव्र गति को व्यक्त करने के लिए सुन्दर और युद्ध काड मे गत्यात्मक बिम्बो का प्रचुरता के साथ प्रयोग किया गया है।

शीलोदात्त पर पहले विचार किया गया है, अब शीलगत सौन्दय पर आप ध्यान दीजियें। उदात्त शील हमारे मानस मे विस्मय और समर्पण के भाव एव ललित या सुन्दर शील, कोमलता, सुखदता या सहानुभूति के भाव उत्पन्न करता है। शील के उन पहलुओ को हम सुन्दर कहेगे, जिन्हे हम चूमते है, दुलराते हैं और गले लगाते है। रामायण के अधिकाश पात्रो की प्रवृत्ति उदात्त तत्व की ओर है, फिर भी उन्ही के अदर ललित शील के कुछ उदाहरण मिल जाते है। उदात्त पात्र हर घड़ी उदात्त नही रह सकता है, वह तो सामान्य

घटनाओ, या मानवीय व्यापारो के बीच ही महान् होता है। यदि कोई पात्र आद्योपान्त उदात्त चित्रित किया जाय तो वह आदर्श की प्रस्तर प्रतिमा हो जायगा, हँसी और आँसू का पुतला न रह सकेगा। दशरथ और कौशल्या का वात्सल्य, सीता की सरलता, सुमत्र का स्नेह, भरत की ग्लानि, केवट की भक्ति, राम का कई स्थलो पर विलाप, आदि प्रसग हमारे मन को बडे भाते हैं। सुनते है कि आदमी आदमी की दुर्बलता को प्यार करता है, और उसकी महत्ता से ईर्ष्या। जो भी हो, रामायण के महान् पात्र अपने दुर्बल क्षणो मे और सुन्दर प्रतीत होते है। हनुमान् का यह कथन है कि सीता का सतीत्व अग्नि को शीतल बना रहा है। अग्नि देव सीता को नही जला सकते, बल्कि वही अग्नि को जला सकती है —

तपसा सत्यवाक्येन अनन्यत्वाच्च भर्तरि।
असौ विनिर्दहेदग्निं न तामग्निः प्रधक्ष्यति ॥ सु० ५५।२८

उक्त कथन सीता के उदात्त पातिव्रत को व्यक्त करता है। लेकिन, माया-मृग की विचित्र खाल को देख कर सीता का मचलना और लक्ष्मण से यह कहना कि तुम अयोध्या से ही मेरे साथ इसलिए लगे हो कि राम को मरवा कर मुझसे विवाह कर लो—उन्हे साधारण नारी के स्तर पर पहुँचा देता है। सन्यासी वेश मे रावण से अपने वनवास की सारी कथा कहना सीता का भोलापन सूचित करता है। अयोध्या मे वनवास के समय वह कटि मे पहनने के वल्कल को सिर में पहन लेती है, यह उनका विचित्र भोलापन है। वनवास की प्रथम रात्रि विताते समय राम लक्ष्मण से कहते है कि हे भाई, मेरे जैसे आज्ञाकारी पुत्र को कामी पिता ने वनवास दे दिया, यह उन्होने अच्छा नही किया। हे लक्ष्मण, तुम अभी अयोध्या लौट जाओ और कौसल्या की सेवा करो, क्योकि, हो सकता है कि कैकेयी मेरी माता को कही जहर खिला कर मार न डाले। राम के ये उद्गार उन्हे साधारण मानव के स्तर पर ले आते है। लेकिन, साधारण होते हुए भी, अतिशय मातृप्रेम से कारण, वे अतिमानव प्रतीत होते हैं। मानवीय दुर्बलताओ से मडित राम हमे प्यारे लगते है, इन्हे हटा दीजिए, तो वे पत्थर की मूरत हो जाते है। राम के स्निग्ध भ्रातृस्नेह का एक उदाहरण देखिए—

सुसंहृष्टः परिष्वज्य बाहुभ्यां लक्ष्मणं तदा।
अति स्निग्धं च गाढ़ं च वचनं चेदमब्रवीत ॥

प्रीतोऽस्मि ते महत् कर्म त्वया कृतमिदं प्रभो ।
प्रदेयो यन्निमित्तं ते परिष्वङ्गो मया कृतः ॥
भावज्ञेन कृतज्ञेन धर्मज्ञेन च लक्ष्मण ।
त्वया पुत्रेण धर्मात्मा न संवृत्तः पिता मम ॥
—अरण्य० १५।२७, २८, २९

अर्थात्, 'गोदावरी के तट पर लक्ष्मण द्वारा बनाये हुए आश्रम को देख कर राम अत्यत हर्षित हुए। अत्यत हर्ष मे भर कर उन्होने दोनो भुजाओ से लक्ष्मण को कस कर हृदय से लगा लिया और स्नेह के साथ कहा, "हे सामर्थ्य-शाली लक्ष्मण, मै तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। तुमने यह महान् कार्य किया है। इसके लिए और कोई समुचित पुरस्कार न होने से मैने तुम्हे प्रगाढ आलिगन प्रदान किया है। हे लक्ष्मण, तुम मेरे मनोभाव को तत्काल समझ लेने वाले, कृतज्ञ और धर्मज्ञ हो। तुम जैसे पुत्र के कारण मेरे धर्मात्मा पिता अभी मरे नही है। तुम्हारे रूप मै वे अब भी जीवित ही है।"' स्नेह, हर्ष और करुणा का एक साथ कैसा सुन्दर रूप यहाँ उतरा है।

राम और सीता, चाहे ये कितने ही सत्यवादी क्यो न हो, मैंने दोनो को एक-एक बार झूठ बोलते चुपके से सुन लिया है। सुमत्र राम आदि को रथ पर चढा कर वन ले जा रहे है। रथ के पीछे पुरवासियो के साथ महाराज दशरथ भी दौडते हुए चले आ रहे है। दशरथ जोर से चिल्ला कर कहते है, सुमत्र रथ को रोक लो। इस पर राम कहते है, "हे सुमत्र रथ को और तेज कीजिए। यदि पिता जी बाद में पूछे कि आपने रथ रोका क्यो नही, तो आप कह दीजिएगा कि हल्ला के कारण मैने आपकी आवाज ही नही सुनी।" राम झूठ बोलने के लिए सिखा तो रहे है। बोलना या सिखाना एक ही बात है।

नाश्रौषमिति राजानमुपालब्धोऽपि वक्ष्यसि ।
चिरं दुःखस्य पापिष्ठमिति रामस्तमब्रवीत् ॥ —अयो० ४०।४७

अब सीता का मिथ्यावादन सुनिये। राक्षसियो ने जब सीता से पूछा कि वह लाल मुँह वाला वानर अभी-अभी तुमसे क्या बाते कर रहा था? वह कौन है? कहाँ से आया है? तो उत्तर मे सीता ने कहा, "तुम्ही जानो यह कौन है और क्या करेगा? साँप के पैरो को साँप ही पहचानता है, इसमे सशय नही। मैं इसे देख कर डर गई हूँ। मुझे तो लगता है कि यह कामरूप कोई राक्षस ही है।"

यूयमेवास्य जानीत योऽयं यद्वा करिष्यति ।
अहिरेव हि अहेः पादान् विजानाति न संशयः ।।
अहमप्यति भीतास्मि नैव जानामि को ह्ययम् ।
वेद्मि राक्षसमेवैन कामरूपिणमागतम् ।।

—सु० ४२।६, १०

सीता जी किस सफाई से सफेद झूठ बोल गयी। स्त्री स्वभाव के अनुसार लोकोक्ति का भी प्रयोग कर गयी, साँप के पैर साँप पहचाने। हनुमान् को कामरूपी राक्षस भी बना दिया ! जगत्-पिता और जगन्माता को अभी मैंने झूठा कहा है। लेकिन सोचिये तो सही, यह झूठ लाख सच से सुन्दर है। राम के मिथ्यावादन मे अपने पिता के प्रति अगाध स्नेह है और सीता मे हनुमान् के कुशल की अपार चिंता। रसगुल्ले खा कर झूठी गवाही देने वाले इस मार्मिक प्रसग को क्या खाक समझेंगे।

स्वभावमूलक सौन्दर्य से मेरा आशय जीव के उस मौलिक स्वभाव के चित्रण से है, जिससे उसकी जातीय पहचान अनायास हो जाती है। बच्चे, बूढे, बदर, पिल्ले, हरिण, हाथी, भौंरे, पक्षी आदि जीवो के आतरिक स्वभाव को पकडना और उसे मौके पर चित्रात्मक शैली मे अभिव्यक्त करना वाल्मीकि के बाएँ हाथ का खेल है। सूर ने भी बाल-स्वभाव को खूब परखा है। गाय दुहते समय कन्हैया एक धार तो दोहनी में पहुँचाते है और 'एक धार जहँ प्यारी ठाढी'। नद के साथ जीमते समय मिर्च खा लेने से वे मुँह बा कर चिल्लाते हुए बाहर दौड पड़ते हैं। हिन्दी मे ही नही, सूर विश्व साहित्य मे बाल-स्वभाव का अद्भुत चितेरा है। रामायण से स्वभाव-सौन्दर्य के दो-एक उदाहरण दिये जाते है :—

रावण की शयन-शाला मे सोयी हुई मन्दोदरी के रूप सौन्दर्य को देख कर हनुमान् के मन मे होता है कि हो न हो यही सीता है। इतना सोचते ही मारे हर्ष के वे पूँछ को पटकने और चूमने लगे। वे आनदित होने लगे, खेलने लगे और गाने लगे। वे कभी खभो पर चढ जाते कभी नीचे कूद पडते।

आस्फोटयामास चुचुम्ब पुच्छं
ननन्द चिक्रीड जगौ जगाम ।
स्तम्भानरोहन्निपपात भूमौ
निदर्शयन् स्वां प्रकृतिं कपीनाम् । —सु० १०।५४

हनुमान् जी गर्जन करते हुए, सीता का पता लगा कर, लका से लौट रहे है। उनकी भुजाओ और जघाओ से निकली हुई सनसनाहट तथा गर्जन का शब्द सुन कर सभी वानर बडे प्रसन्न हुए। वे पर्वत के एक शिखर से दूसरे शिखर पर कूद-कूद कर चढने लगे। वे हनुमान् को देखने के लिए वृक्षो की फुनगियो पर चढ गये। वे अपने-अपने हाथो मे उपहारस्वरूप फूली हुई शाखाएँ लिये हुए थे। वे कपडे की तरह उन शाखाओ को हिला रहे थे। उन्होने ज्योही हनुमान् के मुख से सुना कि मैने सीता का पता लगा लिया कि कई वानर सिंह-नाद करने लगे। कई पूँछ फटकारने लगे। बडे डील वाले वानर पर्वत शिखर से कूद-कूद कर हनुमान् जी को छूने लगे। अतीव हर्षवर्द्धक समाचार से कपियो मे जो उल्लास होना चाहिए वाल्मीकि ने उसका (सुन्द० ५७।२४ से ४४) सुन्दर चित्रण किया है। आज के सभ्य नागरिक जेब से रूमाल निकाल कर हिलाते है। ये वानर फूलोभरी डालियाँ हिला रहे है। दौड-दौड कर बारी-बारी से हनुमान को छूने मे तो और ही कपि-स्वभाव का मर्म पहचाना गया है। किष्किन्धाकाड मे, सीता का पता लगने पर मधुवन मे मधु पीते हुए वानरो का अत्यत मदमस्त वर्णन हुआ है —

गायन्ति केचित् प्रहसन्ति केचि
न्नृत्यन्ति केचित् प्रणमन्ति केचित् ।
पतन्ति केचित् प्रचरन्ति केचित्
प्लवन्ति केचित् प्रलपन्ति केचित् ।
परस्परं केचिदुपाश्रयन्ति
परस्परं केचिदति ब्रुवन्ति ।
द्रुमाद् द्रुमं केचिदभिद्रवन्ति
क्षितौ नगाग्रान्निपतन्ति केचित् ॥

× × ×

—सुन्दर० ६१।१६ से २४

सीता के आश्रम के सामने मारीच विचित्र मृग बन कर घूम रहा है। उसे देख कर अन्य वनचर जतु पास तो आते है, लेकिन उसे सूँघ-सूँघ कर भाग जाते है—'उपागम्य समाघ्राय विद्रवन्ति दिशो दश'—आर० ४२।२९। यहाँ पशुओ के सूँघने का और विजातीय समझ कर भाग जाने का अच्छा चित्रण हुआ है। एक चित्र पक्षी-स्वभाव का दिया जाता है। हेमंत ऋतु की कडाके की सर्दी का

अदाज उन जलचारी पक्षियो से कुछ हो सकता है, जो नदी के किनारे कायर योद्धा की तरह चुपचाप बैठे है और ठड के कारण पानी मे डुबकी नही लगा पाते।

एते हि समुपासीना विहगा जलचारिणः ।
नावगाहन्ति सलिलमप्रगल्भा इवाहवम् ॥

—अरण्य० १६।२२

हेमत ऋतु मे यह जगली हाथी जो बहुत प्यासा है, इस अत्यत शीतल जल को, पीना तो एक ओर रहा, स्पर्श करते ही, अपनी सूँड सिकोड लेता है —

स्पृशन् सुविपुल शीतमुदकं द्विरदः सुखम् ।
अत्यन्त तृषितो वन्यः प्रति संहरते करम् ॥

—अर० १६।२१

बर्फीले पानी पर सूँड के पडते ही उसे सिकोड कर चट ऊपर उठा लेना—हाथी के स्वभाव को चित्रित करता है। भौरो के फूल पर बैठने और सहसा उड कर दूसरे वृक्ष पर चले जाने का उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है।

किसी पात्र की भावमुद्रा का सफल अकन भी एक कला है। चित्र और मूर्त्तिकला इसे बाँधने मे अपनी सार्थकता समझती है। काव्य कला भी दो-चार शब्दो मे भावमुद्रा को अकित कर सकती है। 'अश्रुपूर्ण मुखो रामो निशि तुष्णीमुपा विशत्'—(अयो० ५३।२७) मे राम की करुण भाव-मुद्रा अकित हुई है। सुमत्र से विदा लेते समय सीता की किंकर्तव्यविमूढ भाव-मुद्रा भी बडी सुन्दरता के साथ चित्रित हुई है, 'भूतोपहत चित्तेव विष्ठिता विस्मिता स्थिता।'

हमारे चित्त मे जो भाव उत्पन्न होते है उनकी शारीरिक प्रतिक्रिया हमारे अगो के द्वारा किसी न किसी प्रकार अवश्य व्यक्त होती है। चित्रगत भाव की प्रतिक्रिया का रूप प्राय मुख पर प्रतिफलित होता है। क्रोध, घृणा, स्नेह, ईर्ष्या, निराशा आदि भावो का प्रतिफलित रूप मुख पर तत्काल दिखाई देता है। हिन्दी साहित्य में अनुभाव लेखन कला मे विहारी का अपना विशिष्ट स्थान है। 'सौह करै भौहनि हँसै , नासा मोरि नचाइ दृग करी ककाकी सौह..' आदि पक्तियो मे कवि ने अपनी कला का अच्छा नमूना पेश किया है। अनुभाव का लेखन भाव की तीव्रता और आश्रय की ग्रहणशीलता पर निर्भर करता है। चालाक चतुर आदमी अपने अनुभावो को छिपाने का प्रयास करता है, वीर पुरुष

उन्हे प्रकृत रूप से व्यक्त करता है। राम की आज्ञा से क्रुद्ध लक्ष्मण भोग मे डूबे हुए सुग्रीव को चेतावनी देने जा रहे है। तीक्ष्ण क्रोध मे चलते हुए लक्ष्मण के अनुभाव देखिए (किष्कि० ३१।१३ से)—क्रुद्ध होने के कारण लक्ष्मण बडी तेजी से चलने लगे। वे रास्ते मे पडने वाले साखू, ताल, अश्वकर्ण आदि वृक्षो को तथा पर्वत-शृगो को गिराते चलते थे। वे अपने पैरो से शिलाओ को फोडते, दूर-दूर कदम रखते, तेजी से जा रहे थे, जैसे कोई मतवाला हाथी तोडता-फोडता जा रहा हो। लक्ष्मण जी को क्रुद्ध देख कर किष्किन्धा के वानर बडे-बडे वृक्षो और पर्वत शृगो को ले कर उनसे लडने खडे हो गये। इससे उनका क्रोध और द्विगुणित हो गया। वह ऐसा भभका जैसे सूखी लकडियो मे आग लग गई हो। अयोध्या काड मे शोक के और युद्ध काड मे क्रोध के अनुभाव चित्र बहुतेरे पाये जाते है।

वाल्मीकि की उदात्त और सौन्दर्य भावना पर विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है। अँग्रेजी साहित्य के आलोचको ने शेक्सपियर, शेली, कीट्स आदि के विम्बो पर अलग से पुस्तके लिख डाली है। वाल्मीकि के बिम्ब-विधान की क्या, उनके सामान्य काव्य की भी सम्यक् समीक्षा अब तक प्रस्तुत नही की जा सकी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, इलाचद जोशी और भगवत शरण उपाध्याय आदि कुछ विद्वानो ने दो-एक स्थलो पर वाल्मीकि की काव्य कला की महत्ता पर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। विदेशी काव्य की चकाचौध मे हम वर्षो अपने महाकवियों को भुलाए बैठे रहे। स्वतत्रता प्राप्ति के बाद हमारी सस्कृति का नवजागरण हुआ है। आशा है, इस युग मे प्राचीन काव्य के प्रति हमारा प्रेम उदबुद्ध होगा। रामायण के महासागर मे डूबने के लिए महीनो नही, वर्षो की तैयारी चाहिए। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास अपने आलोचको से 'जीवन-दान' माँगते है। जिस कवि के पात्रो की हजारो वर्षो से भारतीय मदिरो मे आरती उतारी जा रही है, जिस कवि के पात्रो के नाम कोटि-कोटि भारतवासी श्रद्धा और भक्ति के साथ प्रात.काल स्मरण करते है, जिस कवि के पात्रो ने अनेक महाकवियो को प्रेरणा प्रदान की है उसकी दिव्य कल्पना का साक्षात्कार आधुनिक युग को होना ही चाहिए।

हनुमान् जी का कथन है कि—

'त्रैलोक्य राज्यं सकलं सीताया नाप्नुयात् कलाम्'।

'तीनों लोको का राज्य सीता की एक कला के भी बराबर नही है।' मेरा भी निवेदन है कि तीनो लोको का राज्य वाल्मीकि की एक कला के सामने कुछ नही है। भगवान् ने विश्व की रचना की है, और वाल्मीकि ने स्वयं भगवान् की।

भगवान् वाल्मीकि की कला धन्य है।

७

व्यास की सौन्दर्य साधना

वैदिक ऋषियो ने निखिल सृष्टि के अनत रूप और ऐश्वर्य का भावन किया और उसे उदात्त शैली मे अभिव्यक्त किया। लेकिन, सिन्धु के असीम सौन्दर्य को तरगो के कलरव मे बाँधने का काम अभी पूरा नही हुआ था। यह भगवान् व्यास के द्वारा परिपूर्ण हुआ। श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कध मे श्री कृष्ण के चरित का सागोपाग निरूपण है। इसके पूवार्ध मे श्री कृष्ण की व्रज लीला का और उत्तरार्ध मे द्वारकाधीश की राजनीति और गार्हस्थ्य-जीवन का उल्लेख है। इस एक स्कध ने सम्पूर्ण भारत को पिछले कई हजार वर्षों से किस प्रकार प्रभावित किया है, इसका सहज अनुमान करना कठिन है। व्यास की चित्रण शैली मे वह कौन सा अद्भुत गुण है जो कोटि-कोटि श्रोताओ एव पाठकों को अब तक मत्रमुग्ध किये हुए है। एकमात्र व्यास की काव्य-प्रतिभा के कारण वृन्दावन सम्पूर्ण धराधाम का तीर्थ बन गया है। महापुरुष अपनी कीर्ति के कारण अमर होते है, बात सही है, लेकिन, कीर्ति यदि कलाकृति मे न ढल सकी तो अमरता के बने रहने मे सदेह है। माना, कि राम और कृष्ण, बुद्ध और ईसा अपने उज्ज्वल चरित के कारण चिर वदनीय है, रहेगे, लेकिन इनकी वदनीयता को चिरतन बनाने मे कला का प्रमुख स्थान है। कुछ लोग कहते है कि शिव और पार्वती, राम और कृष्ण हुए ही नही। यदि यह सच निकले तो फिर 'नही' को 'हाँ' बनाने के कारण कला की कितनी स्तुति की जाय। कपोलकल्पना को घर-घर मे अपना सगा-सबधी बना कर बसा देना, कोई मामूली काम नही। श्री कृष्ण की लीला धन्य है जो अनायास भक्तो के हृदय में रस बरसाती है, और व्यास की कला धन्य है जो उनकी लीला को प्रतिक्षण अभिनव बनाती है। तुलसी ने हरि को चदन-तरु और संत को समीर कहा है। वाल्मीकि और व्यास, कालिदास और जयदेव, चडीदास और विद्यापति, तुलसी और सूर ये सभी सत है, ये सभी कवि समीर है। इनकी कविता मे चदन-वन की सुगन्ध है।

उपनिषद् के ब्रह्म की छटा हमारे मानस से निकल कर आकाश में व्याप्त हो गयी। इस ब्रह्म से—जो महत् से भी महान्, अणु से भी छोटा, चलता है, नही चलता है, जो दूर भी है, पास भी है—लोक जीवन का काम नही चलने का। हमे एक ऐसा भगवान् चाहिए था जो हमारे साथ खेले, हँसे, गाये, रोये, और लडे-झगडे। ऐसा भगवान् जो पर्वत भी उठा सके और ओखली मे बाँधा भी जा सके। ऐसा, जो गौओ को चरा लावे और शत्रुओ को भगा आवे। ऐसा भगवान् जो रास-लीला भी करे और योगिराज भी रहे। व्यास ने ऐसे ही भगवान् का दशम स्कध मे चित्रण किया है। पद्मपुराण के उत्तर खड मे श्रीमद्भागवत का माहात्म्य वर्णित है। इसमे इस महा ग्रथ को भगवद्भक्ति का और श्री हरि का प्रत्यक्ष विग्रह कहा है। भगवान् भागवत रूपी समुद्र मे अतर्धान हो गये है, प्रवेश कर गए है। श्रीमद्भागवत भगवान् की साक्षात् शब्दमयी मूर्ति है—'तेनेय वाड्मयी मूर्ति प्रत्यक्षावर्त्तते हरे।' देवगण अपना अमृत कलश दे कर बदले मे शुकदेव जी से भागवत कथा माँगने आये, तो उन्होने यह विनिमय स्वीकार नही किया। यह कथा देवताओ को भी दुर्लभ है—'श्रीमद्भागवती वार्त्ता सुराणामपि दुर्लभा।' भागवत सहृदय के लिए रस की अक्षय निधि है। रस वृक्ष के कण-कण मे व्याप्त है, लेकिन फल रूप मे, वृक्ष से अलग रह कर, वह अधिक स्वाद प्रदान करता है। इसी प्रकार खाँड ईख से अलग निकल कर अधिक मीठी होती है। वस्तु का सार उस वस्तु से मधुर होता है। श्रीमद्भागवत सम्पूर्ण वेदो-उपनिषदो का सार है, 'वेदोपनिषदा साराज्जाता भागवती कथा'। इसलिए, 'पृथग—भूता च सा मिष्टा तथा भागवती कथा।' इसका श्रवण करते ही श्री हरि हृदय मे आ विराजते है—'यस्या श्रवण मात्रेण हरिश्चित्त समाश्रयेत्'। इस कथा मे अलौकिक रस-पुष्टि है, सुधा है, स्वाद है, दिव्य माधुर्य है, स्वर्गिक आनद है। श्रीमद्भागवत के पद-पद मे स्वाद है—'रसज्ञाना स्वादु स्वादु पदे पदे।' पका मीठा फल तो यो ही सुस्वादु होता है, कही उसे सुग्गा पहले ही चख ले, तो उसकी मिठास का क्या कहना। भागवत रूपी फल भी शुक के मुख से सयुक्त हो कर अपूर्व स्वादिष्ट हो गया है—'शुकमुखादमृत द्रव सयुतम्'—भाग० १।१।३। भागवत पढने के लिए नही, पीने के लिए रचा गया है। वे रस-लम्पट धन्य है, जो सतत इस कथामृत का पान करते हैं, 'श्री भागवत पीयूषपानाय रस लम्पटा।' पद्मपुराण इसके महात्म्य का वर्णन करते समय थकता नही। भागवत का सप्ताह-श्रवण तो ज्ञान, योग, यज्ञ,

व्रत इन सबो से बढ कर है, इसका प्रभाव गर्जन करता रहता है—'किं ब्रूमो गर्जन तस्य रे रे गर्जति गर्जति ।'

पद्मपुराणकार ने 'रसज्ञाना स्वादु-स्वादु पदे पदे' कह कर भागवत की रसमयता का अपूर्व परिचय दिया है। भागवत के काव्य सौन्दर्य के लिए रस, सुधा, अमृत, सार, स्वादु आदि पदो का प्रयोग किया गया है। भारतीय आचार्य की रसानुभूति सौन्दर्यानुभूति के समकक्ष कही जा सकती है। काव्य सौन्दर्य की अनुभूति तो भाव, अनुभाव, कल्पना, शैली, सवेग, उक्ति चमत्कार आदि मे भी सभव है, लेकिन रस की अनुभूति तो विभावानुभाव व्यभिचारी सयोगात् ही सभव है। किसी अलकार या चमत्कार के सफल प्रयोग मे भी सौन्दर्य आँका जा सकता है, लेकिन वहाँ रस का परिपाक हुआ, ऐसा नही कहा जा सकता। इसलिए, रसानुभूति और सौन्दर्यानुभूति दोनो समकक्ष नही है। ऐसी परिस्थिति मे पडितराज जगन्नाथ से हम सहायता ले सकते है और 'रमणीयार्थ प्रतिपादकता' को सौन्दर्यानुभूति के समकक्ष ला सकते है। लेकिन, रस का प्रयोग यदि अत्यत व्यापक अर्थ मे किया जाय, जैसा विश्वनाथ ने किया है—वाक्य रसात्मक काव्य—तो रसात्मकता और सुन्दरता समकक्ष हो सकती है। जो हो, रसानुभूति को सौन्दर्यानुभूति कहने मे कोई वाधा नही होनी चाहिए। जब हम कृष्ण के रूप सौन्दर्य का वर्णन करेगे, वहाँ सौन्दर्य का अर्थ लोक जीवन मे पुरुष के रूप का जो प्रतिमान गृहीत है, उसका प्रतिफलन काव्य मे किस प्रकार हुआ, यह समझना चाहिए। तात्विक दृष्टि से यदि सौन्दर्य पर विचार किया जायगा, तो, वहाँ इसका अर्थ वह प्रकाश तत्व होगा जो सम्पूर्ण विश्व मे चेतना और आनद की लहर के रूप मे परिव्याप्त है। भागवत मे श्री कृष्ण के इस दिव्य चिन्मय सौन्दर्य का भी पर्याप्त चित्रण है। अब श्रीमद्भागवत की सौन्दर्य और उदात्त भावना पर सक्षेप मे कुछ विचार करना अभिप्रेय है।

जिस प्रकार जल और स्थल के सौन्दर्य का मूर्तरूप कमल है, उसी प्रकार स्वर्ग और धरित्री के सौन्दर्य का प्रत्यक्ष विग्रह श्री कृष्ण है। रूप और रस, ऐश्वर्य और माधुर्य एवं प्रेम और आनद की सर्वोत्कृष्ट कल्पना की सजीव प्रतिमा श्री कृष्ण है। ज्ञान-योग से छिटकने वाला जो परमात्मा प्रेमाभक्ति की पकड मे पूरी तरह आ गया, वह श्री कृष्ण है। वेद, यज्ञ, योग, क्रिया, ज्ञान, तप, धर्म, मोक्ष—इन सबो की परिसमाप्ति वासुदेव श्री कृष्ण मे ही है :—

वासुदेव परा वेदा वासुदेव परा मखाः ।
वासुदेव परा योगा वासुदेव पराः क्रियाः ॥
वासुदेव परं ज्ञान वासुदेव परं तपः ।
वासुदेव परो धर्मो वासुदेव परा गतिः ॥

—भाग० १।२।२८,२९

व्यास को श्री कृष्ण के सगुण और निर्गुण दोनो रूपो के प्रति अडिग आस्था है । अग्नि तत्व तो वस्तुत एक ही है, परन्तु जब वह अनेक प्रकार की लकडियो मे प्रकट होता है, तब अनेक-सा मालूम होता है । वैसे ही, सब के आत्मरूप भगवान् तो एक ही है, परन्तु प्राणियो की अनेकता से अनेक जैसे जान पडते है। वे ही सम्पूर्ण लोको की रचना करते है, और देवता, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि योनियो मे लीलावतार ग्रहण करके सत्व गुण के द्वारा जीवो का पालन-पोषण करते है —

यथा ह्यवहितो वह्निर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु ।
नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान् ॥
भावयत्येष सत्वेन लोकान् वै लोकभावनः ।
लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु ॥

—भाग० १।२।३२,३४

एकमात्र श्री हरि की भक्ति से ही जीव के सारे पाप-ताप नष्ट हो सकते है, और उसे परमानन्द एव कैवल्य की प्राप्ति हो सकती है । हमारे चित्त को स्थायी आनद सच्चिदानन्द श्री कृष्ण की पुष्टि से उपलब्ध हो सकता है । देवकी नन्दन वासुदेव श्री कृष्ण साक्षात् परब्रह्म है, उन्ही की इच्छा से जगत् का सृजन, पालन और सहार होता है । वे सभी जीवो के एक मात्र आश्रय और आनद घन है । जब तक जीव को इस प्रकार का विश्वास नही हो जाता, वह भक्ति-पथ मे अग्रसर नही होगा । जीव का दुख आनद सिन्धु से मिल कर आनदस्वरूप हो सकता है । आनन्दकन्द श्री कृष्ण का रूप सौन्दर्य इतना आकर्षक है कि वह तुरत जीव समुदाय को अपनी ओर खीच लेता है । रूप नेत्र का विषय है, और इसका अधिष्ठातृ देवता सूर्य है, प्रकाश है । श्री कृष्ण का रूप, प्रकाश, अधकार के दुख मे भटकते प्राँणियो को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है । श्री कृष्ण के मुख पर स्मिति—प्रकाश के प्रतीक के रूप मे—सर्वदा वर्तमान रहती है ।

एक परमात्मा से अनेक जीवो की उत्पत्ति हुई है, इसलिए, उस एक के समान रूपवान्, प्रकाशवान्, कोई दूसरा हो नही सकता। उसकी प्रकाश-किरण से सम्पूर्ण ब्रह्माड आलोकित है, उसके रस से सर्वत्र सरसता है, उसके प्राण से सर्वत्र जीवन है। जिस प्रकार सब आकाश मे है, आकाश सब मे है, और वह फिर भी लिपायमान नही होता, उसी प्रकार सब भगवान् मे है, और भगवान् सब मे है, और वे फिर भी किसी से लिपायमान नही है। वे गुणो मे रहते हुए गुणातीत है —

'अन्तः प्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः।' —भा० १।२।३१

वही एक सबो का जन्मदाता पिता है। वही सम्पूर्ण सृष्टि का बीज है। यदि वह सुन्दर है, तो, उसके समान किसी और को सुन्दर न होना चाहिए। क्योकि, सारी सुन्दरता को वही सुन्दर वनाता है। उस आनन्द घन की एक बूंद से जब सारा जगत् आनन्दमग्न • रहता है, तो उसे दुखी या अभावग्रस्त न होना चाहिए। आनन्द सागर, आकाश की तरह प्रशात और गभीर रहेगा। उसमे ऊषा की दिव्य आभा का प्रतिबिम्ब खेलता रहेगा। ज्ञान के द्वारा उस एक तत्व को जाना जाय तो वह कुछ सत्य के रूप मे प्रकट होगा, और, भाव के द्वारा उसका भावन किया जाय तो वह आनन्द रूप मे आस्वादित होगा। इसलिए, उस एक सत्यस्वरूप आनन्द निधि का भजन करना चाहिए :—

'तं सत्यमानन्द निधिं भजेत।'—भा० २।१।३९

जब वह 'एक' श्री हरि के रूप मे अवतरित होगा, तो वह रूप और रस का, प्रेम और आनन्द का निकेत अवश्य होगा। व्यास ने श्री कृष्ण के रूप को सर्वोत्कृष्ट और भाव को परम मधुर चित्रित किया है। मनुष्य की पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ श्री कृष्ण मे अपनी पूरी सतृप्ति पा कर आनन्दमग्न हो जाती है।

अखिल ब्रह्माण्ड के रूप मे श्री कृष्ण से विराट् रूप का, शेषशायी विष्णु या नारायण के रूप मे उनके चतुर्भुज रूप का, एवं व्रजविहारी के रूप मे उनके बाल रूप का चित्रण किया गया है। भगवान का चतुर्भुज रूप, नारायण रूप, नर का विरोधी रूप नही है। नर के रूप में, गुण में, अधिकतम अभिवृद्धि कर दी जाती है, और वह नारायण हो जाता है। भगवान् का यह रूप भक्तजनों के लिए अलौकिक होते हुए भी आनंददायक है। जब तक इष्टदेव

का रूप कल्पना मे सुखदायक नही होगा, तब तक उसका ध्यान भी नही किया जा सकता। भगवान् का अलौकिक रूप लौकिक वेश-भूषा मे प्रस्तुत होने पर आत्मीयता उत्पन्न करता है। कोई भी विग्रह कितना भी विस्मयजनक या भीतिमूलक क्यो न हो, यदि उसके मुख पर आनन्द की स्मिति रेखा अंकित रहे, तो भीति की जगह प्रीति उत्पन्न होती है। भगवान् के चतुर्भुज रूप के ध्यान मे व्यास ने उनकी स्मिति का सर्वत्र वर्णन किया है। सुन्दर वस्तु मे द्रष्टा का चित्त सर्वथा रम जाता है। उदात्त रूप उसके मन मे विस्मय, आश्चर्य, भीति, श्रद्धा और समर्पण की भावना उत्पन्न करता है। भगवान् के नारायण रूप मे श्रद्धा, भय, विस्मय और प्रेम इन सभी भावो का समावेश हो जाता है। इसलिए यह रूप सुन्दर और उदात्त के मध्य मे स्थित है। यहाँ सुन्दर उदात्त होना चाहता है, और उदात्त सुन्दर। सुन्दर और उदात्त के इस मिलन-विन्दु को हम कान्तोदात्त कहेगे। इसका एक उदाहरण उद्धृत किया जाता है —

चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्ग शङ्ख—
गदाधरं धारणया स्मरन्ति ॥
प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं
कदम्ब किञ्जल्क पिशङ्गवाससम् ।
लसन्महारत्न हिरण्मयाङ्गदं
स्फुरन्महारत्न किरीट कुण्डलम् ॥

—भा० २।२।८,६

अर्थात्, भगवान् की चार भुजाओ मे शख, चक्र, गदा और पद्म है। उनके मुख पर प्रसन्नता झलक रही है। कमल के समान विशाल और कोमल उनके नेत्र है। कदम्ब के पुष्प की केसर के समान पीला वस्त्र वे धारण किए हुए है। उनके सिर पर बडा ही सुन्दर मुकुट और कानो मे कुडल है, जिनमे जडे हुए बहुमूल्य रत्न जगमगा रहे है। आगे के पदो मे कौस्तुभमणि, श्री वत्स, वनमाला आदि का उल्लेख है। इस ध्यान मे भगवान् के मधुर रूप-वर्णन मे उनकी स्मिति या हास का कई बार उल्लेख है, प्रसन्न वक्त्र, आनन हास पेशलम्, लीला हसितेक्षणम्. आदि। कान्तोदात्त का एक दूसरा उदाहरण देखिए। अक्रूर जी श्री कृष्ण और बलराम को रथ पर बिठा कर आप यमुना जी के कुड मे स्नान करने गये। वहाँ उन्होने जल में शेपशायी भगवान् के दिव्य रूप का

दर्शन किया। शेष भगवान् के सहस्र शिर है, और प्रत्येक फण पर मुकुट सुशोभित है। कमलनाल के समान उज्ज्वल शरीर पर वे नीलाम्बर धारण किये हुए है। सहस्र शिखरो से युक्त श्वेत गिरिकैलास के समान वे शोभायमान है। शेष जी की गोद मे श्याम मेघ के समान सुन्दर घनश्याम श्री कृष्ण विराजमान है। वे रेशमी पीताम्बर पहने हुए है, बडी ही शात चतुर्भुज मूर्ति है। कमल के रक्तदल के समान रतनारे उनके नेत्र है। उनका वदन बडा ही मनोहर और प्रसन्नता का सदन है। उनका मधुर हास्य चारु चितवन चित्त को चुराये लेती है। उनकी भौहे सुन्दर, नासिका ऊँची, कपोल सुन्दर और अधर लाल है। आदि ..

सहस्र शिरस देवं सहस्रफण मौलिनम् ।
नीलाम्बरं बिसश्वेतं शृङ्गैः श्वेतमिव स्थितम् ॥
तस्योत्सङ्गे घनश्यामं पीत कौशेयवाससम् ।
पुरुषं चतुर्भुजं शान्तं पद्मपत्रारुणेक्षणम् ॥
चारु प्रसन्न वदनं चारुहास निरीक्षणम् ।
सुभ्रून्नसं चारुकर्णं सुकपोलारुणाधरम् ॥

—भा० १०।३९।४५ से ५२ तक देखिए।

उपर्युक्त बिम्ब मे शेष जी की श्वेत कमल से उपमा दे कर कोमलता का विधान किया गया है। नीलाम्बर ओढ़ा कर कवि ने उन्हे श्री कृष्ण के वर्ण मे रंजित कर दिया है। मानो, सहस्र शिखरो वाला कैलास शाति प्रदान कर रहा है। उनके अक मे श्यामल मेघ के समान श्री कृष्ण विश्राम कर रहे है। इस प्रकार, सहस्र फण वाले शेष का उदात्त रूप यहाँ सुन्दर, रमणीय बन गया है। चतुर्भुज श्री कृष्ण के कान्त रूप का वर्णन श्रीमद्भागवत मे कई स्थलो पर हुआ है। दशम स्कन्ध के अध्याय ५१ मे कालयवन और राजा मुचुकुन्द को श्री कृष्ण ने चतुर्भुज रूप मे दर्शन दिया है। ये स्थल कान्तोदात्त के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते है।

श्रीमद्भागवत के श्री कृष्ण सर्वांग सुन्दर है। वे सौन्दर्य के राशिभूत रूप है। वे श्रीपति यानी शोभा के स्वामी हैं। श्री—लक्ष्मी—ने उनका वरण किया है। उनके शरीर को 'श्रीनिकेत वपु.' कहा गया है। उनका प्रत्येक अग शोभा का धाम है—'श्रियोधामाङ्गमच्युतम्'—भा० १।११।२५। भगवान् का वक्षस्थल

मूर्तिमान् सौन्दर्यलक्ष्मी का निवास स्थान है—'श्रियो निवासो यस्योर पानपात्र मुख दृशाम् ।'—भा० १।११।२६—श्री कृष्ण को अक्रूर जी ने 'लावण्य धाम्न '—(१०।३८।१०), सौन्दर्य की मूर्तिमान् निधि कहा है । ऐसे, और इस प्रकार के अनेक विशेषण दिखाए जा सकते है, जिससे यह स्पष्ट प्रतिपादित होता है कि भागवत के श्री कृष्ण सौन्दर्य के सार-विन्दु है और उनके रोम-रोम से सौन्दर्य और आनन्द की अजस्र धारा अहरह बहती रहती है। नारी का, प्रकृति का, सौन्दर्य पुरुष के सौन्दय-सिन्धु मे आ कर मिल जाता है। नारी का सम्पूर्ण यौवन, रूप, प्रणय, परम पुरुष के चरणो मे समर्पित हो जाता है । सारी सृष्टि उस परम सौन्दर्य से तदाकार होने के लिए आतुर हो रही है । नद, यशोदा, गोप, गोपी, गाय, बछडे, हिरण, मयूर, सरित् सरोवर, वृक्षवल्लरी, कुब्जा अक्रूर, कुन्ती, अर्जुन, राजा, प्रजा, बाल-वृद्ध, ये सब के सब श्री कृष्ण की सौन्दर्य-सुधा के पिपासु है । इस पुरुष की दिव्य सौन्दर्य माधुरी से सारी प्रकृति मत्रमुग्ध हो रही है । चर, अचर, सभी प्राणी श्री कृष्ण के उन्मत्तकारी रूप पर भाव विभोर हो रहे है । असुर भी इनके हाथ से मर कर देवरूप हो जाते है । जहाँ कही मन है, उसे मोहन ने मोह लिया है । मनमोहन, मदनमोहन, चितचोर, उनके असली नाम है । उन्होने अपने रूप और गुण से सबो को आकर्षित कर लिया है।

श्री कृष्ण के रूप लावण्य मे स्मिति की महिमा अत्यत गूढ है । कमल के खिलने से जैसे सुगध की लहरियाँ बह चलती है, मुख पर स्मिति के आने से उसी प्रकार आनद की धारा उमड चलती है । हँसी और मुस्कान, मै समझता हूँ, केवल आदमी के हिस्से आ पडी है । बदरो को मुस्कराते और गधो को हँसते किसी ने नहीं देखा है । ऊषा रात्रि की समाप्ति की सूचना देती है और, स्मिति भी दुख, तम या अज्ञान के विनाश की प्रतीक बनती है । विभिन्न अवसरो पर स्मिति के द्वारा हृदय की शान्ति, स्नेह, करुणा, सहानुभूति, क्षमा वात्सल्य, शृंगार आदि भावनाओ की अभिव्यक्ति होती है । यह गूढ भावो की मूक भाषा है । यह अन्तर्मानस के भाव का प्रतिफलित प्रतिबिम्ब है । भगवान् श्री कृष्ण की स्मिति कभी योगमाया के रूप मे सबो को विस्मय विमुग्ध करती है, कभी विद्या के रूप में अज्ञान का विनाश करती है, कभी पुष्टि के रूप में विदग्ध जीवो की जलन शात करती है । कभी व्यग्य बन कर आसुरी शक्ति का विनाश करती है । श्रीमद्भागवत मे श्री कृष्ण के मुख-सौन्दर्य की स्तुति मे प्राय सर्वत्र, जहाँ तक मेरा अनुमान है, स्मिति का उल्लेख हुआ है। इसके दो-एक उदाहरण दिये जाते है :—

स्मितावलोकारुण कञ्जलोचनम् । —भा० १०।३८।६
वीक्षन्तोऽहरहः प्रीता मुकुन्द वदनाम्बुजम् ।
नित्यं प्रमुदितं श्रीमत् सदयस्मित वीक्षणम् ॥
—भा० १०।४५।१८
प्रगल्भ लीला हसितावलोकनैः । भा० १०।४१।२७

श्री कृष्ण की रूप-सुधा का और उसके पान करने का वर्णन भी जहाँ कही मिलता है। उनका मुखारविन्द सुधा से भरा-पूरा मानो एक पात्र है। इससे सतत सुधा के कण छलकते रहते है। इस अमृत का पान आँखो के दोने से किया जाता है। गोपियाँ, हरिणियाँ, मथुरा और द्वारका की नारियाँ अपने नयन पुट से श्री कृष्ण की मुख-सुधा का पान करती रहती है। उनकी आँखें रूप देखती नही, वे अमृत पीती हैं। भावना की तल्लीनता मे कभी-कभी एक ज्ञानेन्द्रिय का काम दूसरी करने लगती है। कभी श्रवण देखता है और नयन पीता है; कभी अधर सुनता है और रोम गाता है। भावना की गहराई के कारण इन्द्रिय के इस धर्म-परिवर्तन को मनोविज्ञान की भाषा मे एनेसथेसिया कहते है। फ्रेंच प्रतीकवादी कवि बॉदलेअर ने अपनी कविता मे इसका यत्र-तत्र प्रयोग किया है। आँख से मुख-सुधा पीने का चित्रण श्रीमद्भागवत मे इस प्रकार है :—

तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवानोऽति बलौजसः ।
पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुज सुधा मुहु· । भा० १०।४५।१९

अर्थात्, 'मथुरा के वृद्ध पुरुष भी युवको के समान अत्यत बलवान् और उत्साही हो गए थे, क्योकि वे अपने नेत्रो के दोनो से बारबार भगवान् के मुखारविन्द का अमृतमय मकरन्दरस पान करते रहते थे।' रूप के प्रभाव से वृद्ध भी युवा बन जाय—यह भावना कितनी सुष्टु है। भगवान् के रूप को देख कर बूढे भी इतना आनदित रहने लगे कि वे मस्ती के कारण जवान हो गये। बुढापा का कारण चिंता है; चिंतामणि प्रभु के सामने चिंता कहाँ! सौन्दर्य क द्वारा वृद्ध का कायाकल्प हो जाता है, यह कथन सौन्दर्य के महत्व को बहुत बढा देता है। चक्षु से रूप पीने का एक और उदाहरण दिया जाता है। कुवलयापीड हाथी को मार कर, उसके दाँत को अपने कधे पर रखे हुए, बलराम और कृष्ण ने कंस की सभा में प्रवेश किया। सभा मे समुपस्थित सभी नागरिक उन दोनों

भाइयो के रूप को देख कर इतने प्रसन्न हुए कि उनके नेत्र और मुखकमल खिल उठे। वे नेत्रो द्वारा उनकी मुखमाधुरी का पान करते-करते तृप्त नही होते। मानो, वे उन्हे नेत्रो से पी रहे हो, जिह्वा से चाट रहे हो, नासिका से सूँघ रहे हो और भुजाओ से पकड कर हृदय से लगा रहे हो —

निरीक्ष्य तावुत्तम पूरुषौ जना ।
मञ्चस्थिता नागर राष्ट्रका नृप ।
प्रहर्ष वेगोत्कलितेक्षणाननाः
पपुर्न तृप्ता नयनैस्तदाननम् ॥
पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ।
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां श्लिष्यन्त इव बाहुभिः ॥
—भा० १०।४३।२०, २१

उपर्युक्त श्लोक—पिबन्त इवचक्षुभ्र्या. मे चिर पिपासित जीवो की सतृप्ति का कितना मूर्तिमत चित्रण है। श्री कृष्ण के दर्शन मात्र से प्रेमी दर्शको ने ऐसा अनुभव किया कि वे प्रत्यक्ष भगवान् की रूप सुधा को अपनी आँखो से पी रहे है, अपनी जीभो से उसे चाट रहे है, अपनी नाको से उसे बार-बार सूँघ रहे है, अपनी बाँहो में उसे लिपटाए हुए है। रूप का पीना, चाटना, सूँघना, गले लगाना सिद्ध करता है कि रूप पात्र मे रखा हुआ कोई तरल, सुगन्धित मधु है। भगवान् की रूपमाधुरी से दर्शक की प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय—आँख, नाक, कान, त्वचा आदि—तृप्त हो रही है। प्रियतम को देख कर प्रेमी का रोम-रोम भीग रहा है। यह प्रियतम के दिव्य रूप का अलौकिक प्रभाव है या प्रेमीजनो के स्निग्ध हृदय का अपूर्व रस—कौन कहे ! चन्द्रमा या समुद्र किसके चलते ज्वार आया कौन जाने ! जो हो, रूप प्यास बुझाता है, भूख मिटाता है, प्राण जुडाता है, जीवन को आनन्द मे डुबा देता है।

किसी के रूप या सौन्दर्य को चित्रित करने के कई प्रकार है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलकारो की सहायता से उसे हम अकित करने का प्रयास करते है। कभी-कभी अलकारो के बिना भी रूप की नैसर्गिकता का सरस स्वाभाविक चित्रण होता है। अलकार योजना, बिम्ब विधान, प्रकृत कथन के अतिरिक्त सौन्दर्य को अंकित करने की एक और पद्धति है। और यह, और सबो से, मेरे वचार मे ज्यादा कारगर है। सूर्य में कितना ताप है, इसे विज्ञान यत्र द्वारा बता

सकता है, लेकिन कला के पास तो कोई यत्र नही, वह मत्र से काम लेती है। वह ताप के प्रभाव से अभितप्त वातावरण का सजीव वर्णन उपस्थित करती है, और उसका अनुमान कराती है। श्रीकृष्ण के मोहन रूप और मधुर मुरली की सरसता का चित्रण कई स्थलो पर इस पद्धति से किया गया है। बाँसुरी मीठी बजती है, मीठी बजती है, कहते जाइए, कहते जाइए; लेकिन इससे मिठास तो पकड मे नही आती। ऐसी स्थिति मे कवि मुरली के नाद से प्रभावित वस्तुओ की विगलित दशा का चित्रण करता है। श्री कृष्ण के उन्मादक रूप-वर्णन का यह स्थल कितना आकर्षक है! बलराम और कृष्ण मथुरा के राजपथ पर विराजमान है, यह सुनते ही उनके दर्शन की आकुल लालसा नारियो मे उत्पन्न हुई। किसी-किसी ने जल्दी के कारण अपने वस्त्र और गहने उलटे पहन लिए। किसी ने एक कान मे ही कुडल पहन लिया, कोई अपनी दूसरी आँख बिना आँजे ही श्री कृष्ण को देखने अटारी पर चढ गयी। कई रमणियाँ जो भोजन कर रही थी, वे हाथ का कौर फेंक कर दौड पडी। दूध पीते हुए बच्चे को अलग रख कर माताएँ उनके दर्शन को चल पडी। जो सो रही थी, वे कोलाहल सुन कर उठ खडी हुई और उसी अवस्था मे दौड चली :—

अश्नन्त्य एकास्तदपास्य सोत्सवा
अभ्यज्यमाना अकृतोपमज्जनाः।
स्वपन्त्य उत्थाय निशम्य निःस्वनं
प्रपाययन्त्योऽर्भमपोह्य मातरः॥ —भा० १०।४१।२६

कुमारसभव के सप्तम सर्ग मे वरवेश मे शिव जी को देखने के लिए ओषधिप्रस्थ की सुन्दरियो के उतावलेपन का कालिदास ने अच्छा चित्र खीचा है —

आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या
कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न संभावित एव तावत
करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः॥
प्रसाधिकाऽऽलम्बितमग्रपादमाक्षिप्य
काचिद्द्रव राग मेव
उत्सृष्ट लीला गति राग वाक्षा—
दलक्तकाङ्कां पदवी ततान॥...

जालान्तर प्रेषित दृष्टि रन्या
प्रस्थान भिन्नां न बबन्ध नीवीम् ।
नाभि प्रविष्टाभरण प्रभेण
हस्तेन तस्थावबलम्ब्य वासः ॥
—कुमा० ७।५७,५८, ६०

अर्थात्, एक स्त्री ज्योही खिडकी की ओर हडबडी मे भागी कि उसके जूडे मे बँधी हुई फूल की माला खुल गयी और वह उसे अपने हाथ से पकडे हुए ही चली गयी, उसे बाँधने की सुध न रही। एक स्त्री अपने पैर मे महावार लगवा रही थी कि उसे अधूरा छोड़ कर ही वह झटपट खिडकी के पास तक अपने महावर-लगे पैरो की छाप बनाती हुई दौड गयी। एक स्त्री ज्योही खिडकी की जालियो मे जा कर झाँकने लगी कि उसकी कमर का नाडा खुल गया और बिना बाँधे ही उसे हाथ से पकडे जो खडी हुई तो उसके हाथ के कगन के रत्न की चमक से उसकी नाभि चमकती दिखाई देने लगी। नगर की स्त्रियाँ सब सुधबुध भूल कर इस प्रकार एक टक देखती हुई शिव जी को अपने नेत्रो से पी रही थी, मानो उनकी सब इन्द्रियाँ आ कर आँखो मे ही समा गई हो —

तमेकदृश्यं नयनैः पिबन्त्यो
नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि ।
तथाहि शेषेन्द्रियवृत्ति रासां
सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥ —कुमा० ७।६४

दशम स्कध के इक्कीसवें अध्याय में 'वेणुगीत' का गायन किया गया है। कृष्ण के वेणुवादन के व्यापक प्रभाव का वर्णन गोपियाँ एक-दूसरे से कर रही है; "अरी सखी, जब श्री कृष्ण विचित्र वेश मे मुरली बजाते है, तो ये मूढ बुद्धि वाली हरिनियाँ भी वशी की तान सुन कर अपने पति कृष्णसार मृगो के साथ नन्द नन्दन पास चली आती है, और, अपनी प्रेमभरी बडी-बडी आँखो से उन्हे निरखने लगती है। वे श्री कृष्ण के चरणो पर अपने कमल नयन को निछावर कर देती है। श्री कृष्ण भी अपनी प्रेमभरी चितवन से उनका सत्कार करते है। ये हरिणियाँ धन्य है। स्वर्ग की देवियाँ जब श्री कृष्ण की बाँसुरी को विमान मे बैठें सुन लेती है, वें वही अपनी सुधबुध खो बैठती है। उन्हे पता नही चलता कि उनकी चोटियो मे गुँथे हुए फूल पृथ्वी पर गिर रहे है। यहाँ तक कि उन्हे

अपनी साडी का भी पता नही रहता, वह कमर से खिसक कर जमीन पर गिर जाती है —

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्त विचित्र वेषम् ।
आकर्ण्य वेणु रणितं सह कृष्ण साराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥
कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सव रूपशीलं
श्रुत्वा च तत्ववणित वेणु विचित्र गीतम् ।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्न सारा
भ्रश्यत्प्रसून कबरा मुमुहुर्विनीव्यः ॥ —भा० १०।२१।११,१२

पर्वत, वृक्ष, पशु, पक्षी, मेघ, नदी, निर्झर ये सभी वशीध्वनि के अद्भुत प्रभाव से रसमग्न हो जाते है । जड-चेतन सारी प्रकृति बाँसुरी के सुर से मत्रमुग्ध हो जाती है । श्री कृष्ण की मुरली अविद्या माया का तत्काल हरण कर लेती है और वस्तु के कण-कण मे स्वर्गीय प्रेम का रस उँडेल देती है । व्यास ने नद नदन की वशीध्वनि को अपनी काव्य वीणा पर इस तरह उतारा है कि उसकी माधुरी सदा सब को पागल बनाती रहेगी । नाद-सौन्दर्य का विस्मय विमुग्ध प्रभाव 'वेणुगीत' मे जिस विदग्धता के साथ चित्रित है, वह अतुलनीय है ।

महारास की सौन्दर्य-सुधा का पान गोपी की तरह कोई दिव्य आत्मा ही कर सकती है । हमारा पकिल नयन उस दिव्य रूप को नही देख सकता । इसलिए, स्थूल दृष्टि से इस पर थोडा-बहुत विचार किया जाता है । प्राण के कारण देह की शोभा है । देह के अभाव मे अमूर्त प्राण रूपहीन हो जाता है । रूप के लिए, रस के लिए, चिन्मय को मृण्मय का स्पर्श चाहिए । चित् और मृत् के सगम से आनद की लहरी उत्पन्न होती है । लहरी न जल है, न थल—यह एक उमंग है, उल्लास है, यह चिद् विलास है । आनद रूप ब्रह्म ने अपने आनद का आस्वादन करने के लिए रास की रचना की है । वह एकाकी रमण नही कर सका । उसने अपने को अनेक भागो मे विभाजित किया और पुनः सभी अगो के साथ रमण किया । चित् और मृत उसी के एक के दो नाम है । कृष्ण और गोपी का रमण पुरुष और प्रकृति का रमण है । इसलिए, श्री कृष्ण का महारास परमानन्द की अभिव्यक्ति का पूर्ण सस्कृत रूप है । यह धरती, विशेषतः यह वृन्दावन धन्य है, जहाँ भगवान् ने रास लीला की । प्रभु की लीला भूमि

होने के कारण इसके सामने स्वर्ग अत्यत तुच्छ है। परम प्रभु ने जिन वस्तुओ का स्पर्श किया, जिनका निरीक्षण किया, वे सभी सुन्दर है। यह जगत् भगवान् की लीला भूमि होने के कारण अतीव रमणीय है। प्रकृति रगमच है, पीठिका है, अलकरण है, और, भगवान् नायक है, अलकार्य है। लेकिन भावना की तल्लीनता के कारण नायक से अधिक सुन्दर, कभी-कभी, नायक की वनमाला प्रतीत होती है। इस प्रकार, कदम्ब, यमुना, वृन्दावन, गोकुल, गोवर्द्धन मधुवन, गोधन, मोर, करील आदि सभी सुन्दर है।

प्राकृतिक छटा का वर्णन तो भागवत मे यत्र-तत्र हुआ ही है, लेकिन महारास के प्रसग मे प्रकृति का जो रस-विघूर्णित, मदमूर्च्छित और स्नेहपिच्छल रूप चित्रित हुआ है, वह रस और अलकार की चीज नही, रास और आत्मानन्द का विषय है। वाह्य दृष्टि से देखने पर वह तथ्य-कथन जैसा भी प्रतीत हो, लेकिन सहजानुभूति की आँख और रसावेश की पॉख लग जाय, तो वहाँ प्रत्येक पद कुछ और ही कहना चाहता है। यदि हमारा हृदय रास का कण पीने के लिए पहले से ही समुत्सुक है, तो, वह अपने सस्कार के कारण, भाव विदग्धता के कारण साधारण पद मे भी अपूर्व माधुरी का आस्वादन करता है। प्रकृति के हर्षोत्फुल्ल और मदविह्वल रूप का वर्णन तो कई कवियो ने किया है, लेकिन आदि प्रकृति की अन्तरात्मा का दिव्य आतरिक उल्लास इतनी मूर्त्तता, आर्द्रता और घनता साथ अन्यत्र दुर्लभ है। व्यास के पहले और किस कवि ने ऐसी एकात कमनीय और चिर रमणीय कल्पना नही की है। प्रकृति का प्रत्येक कण प्रणय की मदिरा से उद्वेलित हो रहा है। सारा वातावरण मदन के सम्मोहन से विमूर्च्छित हो रहा है। रस की पुतलियाँ गोपियाँ बेसुध हो कर नाच रही हैं। ककण, किंकिणी, नूपुर, वशी आदि का अनहद नाद दिगदिगत मे गूँज रहा है।

चन्द्रदेव ने प्राची दिशा के मुखमडल पर अपने शीतल किरण रूपी कर-कमलो से लालिमा की रोली-केशर मल दी है, मानो प्रियतम ने दीर्घ दर्शन के बाद अपनी प्रिया को आनदित किया हो। चन्द्रमा का मुख मंडल लक्ष्मी के मुख के समान सुशोभित था। उनकी कोमल किरणो से सारा वन अनुराग के रग मे रग गया था। चाँदनी के द्वारा अमृत का समुद्र उँडेल दिया गया था :—

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्ड मण्डल
रमाननाभं नव कुंङ्कुमारुणम्।

वनं च तत्कोमल गोभिरञ्जितं
जगौ कलं वामदृशा मनोहरम्
—भा० १०।२९।३

भगवान् श्री कृष्ण ने गोपियो के साथ यमुना जी के पावन पुलिन पर, जो कपूर के समान चमकीली बालू से जगमगा रहा था, पदार्पण किया। वह पुलिन यमुना जी की तरल तरगो के स्पर्श से शीतल और कुमुदिनी की सहज सुगध से सुवासित वायु के द्वारा सेवित हो रहा था :—

नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिम वालुकम् ।
रेमे तत्तरलानन्द कुमुदामोद वायुना ।
—भाग० १०।२९।४५

ऐसे प्रणय प्रदीपित प्रकृति के बीच भगवान् के रास-नृत्य की एक झाँकी देखिए —

कर्णोत्पलालक विटङ्क कपोल घर्म
वक्त्र श्रियो वलय नूपुर घोष वाद्यैः ।
गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेश
स्रस्त स्रजो भ्रमर गायक रास गोष्ठ्-याम्
—भा० १०।३३।१६

गोपियो के कानो मे कमल के कुडल शोभायमान थे। घुँघराली अलके कपोलो पर लटक रही थी। पसीने की बूँदे झलकने से उनके मुख की छटा निराली ही हो गई थी। वे रासमडल मे भगवान् के साथ नृत्य कर रही थी। उनके कगन और पायजेबो के बाजे बज रहे थे। भौरे उनके ताल सुर मे अपना सुर मिला कर गा रहे थे और उनके जूडो और चोटियो मे गुँथे हुए फूल गिरते जा रहे थे।

इस प्रकार, हम देखते है कि रासमडल के प्रसग में एक ही माथ सौन्दर्य सहस्र धार का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ है। गोपियो ने श्री कृष्ण के रूप सौन्दर्य का बार-बार स्मरण किया है, वशीध्वनि के सौन्दर्य का तो कहना ही क्या! नृत्य कला यानी गति का सौन्दर्य भी दर्शनीय है। गोपियो के सभोग एव विप्रलभ शृगार के भी रास पचाध्यायी मे पावन दर्शन हमे होते है। रूप, गीत, नृत्य, प्रणय और प्रकृति इन पाँचो के सौन्दर्य का सार महारास मे पूर्णतया निहित है।

उन्मुक्त वन्य प्रकृति का सौन्दर्य श्रीमद्भागवत मे कई स्थलो पर चित्रित हुआ है। यहाँ हम सुखी सम्पन्न गोप-ग्राम का एक चित्र उद्धृत करना चाहते है :—

प्राप्तो नन्द व्रजं श्रीमान् निम्लोचित विभावसौ ।
छन्न यानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः ॥
वासितार्थेऽभियुध्यद्भिर्नादितं शुष्मिभिर्वृषैः ।
धावन्तीभिश्च वास्राभिरूधो भारैः स्ववत्सकान् ॥
इतस्ततो विलंघद्भिर्गो वत्सैं र्मण्डितं सितैः ।
गोदोह शब्दाभिरव वेणूनां निःस्वनेन च ॥
गायन्तीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः ।
स्वलंकृताभि र्गोपीभिर्गोपैश्च सुविराजितम् ॥
अग्न्यर्कातिथि गोविप्र पितृदेवार्चनान्वितैः ।
धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम् ॥*
सर्वतः पुष्पितवन द्विजालिकुल नादितम् ।
हंस कारण्डवाकीर्णैः पद्मषण्डैश्च मण्डितम् ॥

—भा० १०।४६।८ से १३

अर्थात्, परम सुन्दर उद्धव जी सूर्यास्त के समय नन्द बाबा के व्रज मे पहुँचे। उस समय जगल से गौएँ लौट रही थी। उनके खुरो के आघात से इतनी धूल उड रही थी कि उनका रथ ढक गया था। व्रजभूमि मे ऋतुमती गौओ के लिए मतवाले साँड आपस मे लड रहे थे। उनकी गर्जना से सारा व्रज गूँज रहा था। थोडे दिनो की ब्यायी हुई गौएँ अपने थनो के भारी भार से दबी होने पर भी अपने-अपने बछडो की ओर दौड रही थी। सफेद रग के बछडे इधर-उधर उछल-कूद मचा रहे थे। गाय दुहने की 'घर-घर' ध्वनि से और बाँसुरियो की मधुर टेर से अब भी व्रज की अपूर्व शोभा हो रही थी। गोपी और गोप सुन्दर-सुन्दर वस्त्र तथा गहनो से सजधज कर श्री कृष्ण तथा बलराम के मगलमय चरित्रो का गान कर रहे थे, इस प्रकार व्रज की शोभा और बढ गई थी। गोपो के घरो मे अग्नि, सूर्य, अतिथि, गौ, ब्राह्मण और देवता पितरो की पूजा की हुई थी। धूप की सुगंध चारों ओर फैल रही थी और दीपक जगमगा रहे थे। ऐसे मनोरम गृहों से सारा व्रज और भी मनोरम हो रहा था। चारो ओर वन पंक्तियाँ फूलों से लद रही थी। पक्षी चहक रहे थे और भौरे गुजार कर रहे थे। जल और स्थल कमलों से वन शोभायमान थे। हस, कारडव आदि पक्षी वन मे विहार कर रहे थे।

उपर्युक्त ग्राम सुखी-सम्पन्न भारत का एक आदर्श ग्राम है। सफेद बछडो का उछलना-कूदना, मतवाले साँडो का लड़ना-भिडना, डकारना कितना स्वाभाविक चित्र है। गोप-गृहो मे अग्नि, अतिथि, ब्राह्मण आदि की पूजा हो रही है। धूप-दीप आदि से ग्राम का वातावरण देवोपम हो रहा है। गोप, पशु और वन तीनो की प्रकृति का यहाँ मनोरम अकन हुआ है। पढते समय लगता है कि हम भी उद्धव के साथ नन्दग्राम पहुँच गए है, साँडो को लड़ते, बछडो को उछलते और गौओ को घर-घर दुहते देख रहे है। सौन्दर्य रमणी के मुख मडल पर ही नही, साँड़ो के लड़ने, बछडो के उछलने और दूध दुहने के घर-घर मे भी देखा जा सकता है। जीवन और जगत् के प्रकृत व्यापार मे सौन्दय का अवलोकन कलाकार की सूक्ष्म दृष्टि ही कर सकती है।

श्री कृष्ण की रूप माधुरी ने तो सबो के मन को लुभाया ही है, उनके चचल स्वभाव, चपल क्रीडा और अद्भुत लीला ने हमे हमेशा के लिए गुलाम बना लिया। भक्तो को पागल बनाने के लिए उनका रूप ही पर्याप्त है; लेकिन, उनकी बाल चपलताओ का चित्रण, बाल स्वभाव के वैलक्षण्य का निरूपण, शिशु की सरलता, दुष्टता, हास्य, रुदन आदि का चित्रण तो हमे पग-पग पर भाव-विभोर करता चलता है। जवान होने पर आदमी के अदर से उसका शिशुपन, बालपन, कही भाग नही जाता। बूढा होने पर भी बालपन साथ नही छोडता। वह दोनो हाथो से अपना छोटा-सा मुँह ढाँपे हृदय के किसी कोने मे ही छुपा रहता है। मौके बेमौके वह प्रकट होता है, मुँह से हाथ हटा कर हँसता है। वह न रहे, तो आदमी न हँस सके, न रो सके, न गा सके। अपने हृदयस्थ शिशु का जहाँ भी हम असली रूप देखते है, वहाँ अपने बचपन को पहचान कर पुलकित हो जाते है। दशम स्कध में सयानी मानवता अपनी खोई शिशुता, बाल चपलता, को पा कर फूली नही समाती। बाल प्रकृति की चचलता का, दो चार रेखाओ में ही, ऐसा सजीव और सटीक चित्रण कम देखने में आता है। व्यास की बाल लीला की सरिता सूरदास के मानस मे आ कर सागर बन गयी, ऐसा सागर, जिसमे लावण्य है, लेकिन खारापन नही। लता-वनस्पति, पशु-पक्षी, बाल-वृद्ध इन्हे हम प्रतिदिन देखते हैं, लेकिन इनके स्वभाव की लुनाई नही निरख पाते। कवि हृदय उस लुनाई की भीनी खुशबू मे झूम उठता है।

दशम स्कध के आठवें अध्याय के इक्कीसवें श्लोक से बलराम और कृष्ण

की शैशव क्रीडा और बाल लीला प्रारभ होती है। यह लीला इस स्कध के कई अध्यायो मे चलती रहती है। हम यहाँ व्यास की भावुकता से परिचय प्राप्त करने के लिए कुछ 'मार्मिक स्थलो' का उद्धरण दे रहे हैं —

तावड्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ
घोष प्रघोष रुचिरं व्रजकर्दमेषु।
तन्नादहृष्ट मनसावनुसृत्य लोक
मुग्ध प्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः॥ —भा० १०।८।२२

अर्थात्, दोनो भाई—राम-श्याम—अपने नन्हे-नन्हे पाँवो को गोकुल की कीचड मे घसीटते चलते। उस समय उनके पाँव और कमर के घुँघरू रुनझुन बजने लगते। वह शब्द बडा सुहाना लगता है। वे दोनो स्वय वह ध्वनि सुन कर खिल उठते। कभी-कभी वे रास्ते चलते किसी अज्ञात व्यक्ति के पीछे हो लेते। फिर जब देखते कि यह तो कोई दूसरा है, तब झक से रह जाते और डर कर अपनी माताओ के पास लौट आते। इतना ही नही, जब वे बैठे हुए बछडे की पूँछ पकड लेते, और बछडे डर कर इधर-उधर भागते, तब वे दोनो और भी जोर से पूँछ पकड लेते। बछडे उन्हे घसीटते हुए दौडने लगते। गोपियाँ यह दृश्य देख कर हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाती—(दे० भा० १०।८।२४)। बच्चे की चचलता का एक साधारण किन्तु आकर्षक चित्र नीचे देखिए —

शृंग्यग्नि दंष्ट्र्यसिजल द्विज कण्टकेभ्यः
क्रीडापरावतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धुम्।
गृह्याणि कर्त्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ
शेकात आप तुरलं मनसोऽनवस्थाम्। —भा० १०।८।२५

अर्थात्, वे दोनो बच्चे कही हरिन, गाय आदि सीग वाले पशुओ के पास दौड जाते, कही धधकती आग से खेलने लगते, कभी दाँत से काटने वाले कुत्तो के पास पहुँच जाते। कभी वे आँख बचा कर तलवार उठा लेते, कभी मोर आदि पक्षियो के निकट जाते, कभी कुएँ मे गिरते-गिरते बचते। माताएँ अपने बच्चो को बचाने की चिंता मे ही पडी रहती।

कृष्ण के द्वारा दही और माखन की चोरी का उल्लेख कम ही पक्तियो मे किया गया है, लेकिन वह ऐसा सटीक उतरा है कि उसी के आधार पर सूर

ने अनेक पद रच डाले। दधि लीला, माखन लीला, चीर हरण लीला आदि कई प्रसिद्ध स्थल बाल लीला के है। हम दो-एक साधारण स्थलो की ओर यहाँ संकेत करते है। श्री कृष्ण गोपियो के फुसलाने से साधारण बालको के समान नाचने लगते, गाने लगते। कभी उनकी आज्ञा से वे पीढा ले आते, कभी तोलने का बटखरा उठा लाते, तो कभी खडाऊँ उठा लाते। वे प्रेमियो को आनदित करने के लिए पहलवानो की तरह ताल ठोकने लगते —

बिर्भात क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मान पादुकम् ।
बाहुक्षेप च कुरुते स्वानां च प्रीतिमावहन् ।।
—भा० १०।११।८

एक दिन कोई फल बेचने वाली आ कर पुकार उठी 'फल लो फल।' यह सुनते ही सर्वफलप्रद भगवान् अपनी छोटी-सी अजुली मे अनाज ले कर दौड पडे। उनकी अजुलि मे से अनाज तो रास्ते मे ही बिखर गया, पर फल बेचने वाली ने उनके दोनो हाथ फल से भर दिये। इधर भगवान् ने भी उसकी टोकरी रत्नों से भर दी —

क्रीणीहि भोः फलानीति श्रुत्वा सत्वरमच्युतः ।
फलार्थी धान्यमादाय ययौ सर्वफलप्रदः ।।
फल विक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं कर द्वयम् ।
फलैरपूरयद् रत्नैः फलभाण्डमपूरि च ।।
भा० १०।११।१०,११

दशम स्कध मे ऐसे कई स्थल है जहाँ व्यास ने बाल लीला के मर्म मे भलीभाँति प्रवेश किया है। लगता है कि वे स्वय कन्हैया हो कर सारा नटखटपन कर रहे है और नद यशोदा के हृदय मे भी पैठ कर यही हँसते, रोते, और गाते है। दर्शन का विश्लेषण करते समय ये मुनि के रूप मे आते है और बाल लीला का चित्रण करते समय ये ग्वाल बाल बन जाते है। व्यास की सहज, निश्छल और चित्रोपम शैली ने श्री कृष्ण की बाल लीला को परम रमणीय, 'स्वादु-स्वादु पदे पदे'—बना दिया है। श्रीमद्भागवत की रचना के उपरान्त न जाने कितनी शताब्दियाँ बीत गयी, मानव जीवन के ढाँचे मे न जाने कितने परिवर्तन हुए; लेकिन, हमारे बाल स्वभाव मे शायद कोई परिवर्तन नही हुआ। अतर यही है कि व्यासकालीन बच्चे दही और मक्खन की चोरी करते थे और आज के बच्चे

डालडा और पाउडर की। व्यास के कन्हैया माखन-रोटी के लिए मचलते थे और आज के कन्हैया चाय-विस्कुट के लिए तडपते है। व्यास के चित्रण-कौशल ने श्री कृष्ण को घर-घर का कन्हैया बना दिया। कन्हैया की क्रीडा श्री कृष्ण की लीला हो गयी। किसी कवि के वात्सल्य-वर्णन ने विश्व को इतना प्रभावित नही किया है।

ऊपर हमने रूप, नाद, प्रणय, प्रकृति और स्वभाव-सौन्दर्य की ओर थोडा सकेत किया है। अब हम श्रीमद्भागवत के उदात्त तत्व पर थोडा विचार करेंगे।

भय, विस्मय और आश्चर्य से उद्भूत उदात्त भाव का चित्रण हमारे पुराण साहित्य मे पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध है। यो, हमारा जीवन साधारणत. सुख-दुख के स्वाभाविक प्रवाह मे बहता रहता है, लेकिन, जहाँ स्वभाव से कुछ विपरीत हुआ, प्रकृत से अति प्राकृत हुआ, औचित्य की जगह वैचित्र्य हुआ, वहाँ मन चमत्कृत या विस्मित हो जाता है। मन को चकित, चमत्कृत करने वाली घटना या वस्तु मात्र मे औदम्य नही होता। वह तभी प्रकट होता है, जब हमारा मन चारो ओर से हिल उठता है, वह उस सत्ता के सम्मुख अभिभूत होने लगता है, उसमे सहसा समर्पण का भाव प्रबल हो उठता है। औदात्य मन के एक कोने पर नही, वह पूरे घर पर छा जाता है। मन के अभिभूत होने से चित्र मे सकोचन का व्यापार तीव्रता से प्रारभ हो जाता है, लेकिन वह पुन स्फीति की ओर चलता है। मन का पछी अपने पख को सिकोड कर, पुन उसे तोल कर, उडना चाहता है। उदात्त मे आश्चर्य या भय की अनुभूति के पश्चात् आत्म-स्फीति की भावना उत्पन्न होती है।

विस्मयोत्पादक उदात्त का रूप देखना हो तो नृसिंह भगवान् के प्रादुर्भाव में हम देख सकते है। उनका भयकर रूप देखते ही हिरण्य कशिपु भयभीत हो गया। तपाये हुए सोने के समान उनकी पीली-पीली भयानक आँखे थी। जँभाई लेने से गर्दन के बाल इधर-उधर लहरा रहे थे। उनकी दाढें बडी विकराल थी। उनकी जीभ तलवार की तरह लपलपाती थी और छुरे की धार के समान तीखी थी। टेढी भौहो से उनका मुख और भी दारुण हो रहा था। उनके कान निश्चल एव ऊपर की ओर उठे हुए थे। उनकी फूली हुई नासिका और खुला हुआ मुख पहाड की गुफा के समान अद्भुत जान पडता था। फटे

हुए जबडो से उसकी भयकरता बहुत बढ गई थी। उनका विशाल शरीर स्वर्ग का स्पर्श कर रहा था। उनकी गर्दन कुछ नाटी और मोटी थी, छाती चौड़ी और कमर बहुत पतली थी। चन्द्रमा की किरणो के समान सफेद रोएँ उनके सारे शरीर पर चमक रहे थे। चारो ओर उनकी सैकडो भुजाएँ फैली हुई थी, जिनके बडे-बडे नख आयुध का काम देते थे —

मीमांसमानस्य समुत्थितोऽग्रतो
नृसिह् रूपस्तदलं भयानकम् ।
प्रतप्त चामीकर चण्ड लोचन
स्फुरत्सटाकेसर जृम्भिताननम् ॥
करालद्रंष्ट्रं करवाल चञ्चल
क्षुरान्तजिह्वं भ्रुकुटी मुखोल्बरणम् ।
स्तब्धोर्ध्वकर्ण गिरि कन्दराद्भुत
व्यात्तास्यनासं हनुभेद भीषणम् ॥
दिवि स्पृशत्कायमदीर्घ पीवर
ग्रीवोरु वक्षःस्थलमल्प मध्यमम् ।
चन्द्रांशुगौरै श्छुरितं तनूरुहै—
विष्वग्भुजानीकशतं नखायुधम् ॥

—भाग० ७।८।२०,२१,२२

नृसिह भगवान् के उदात्त रूप के चित्रण मे यहाँ महाकवि ने अपने अद्भुत चित्रण-कौशल का परिचय दिया है। भयानकता का वातावरण उत्पन्न करने के लिए शैली मे ओज का समावेश किया गया है। सयुक्ताक्षर और सामासिक पदावली की आद्योपान्त भरमार है। प्रतप्त, चण्ड, स्फुरत्सटा, जृम्भित, भृकुटि, कराल द्रंष्ट्र आदि अनेक पद हमारे चित्त मे भीति और विस्मय का सचार करते है। इन पदो की ध्वनि कर्ण कुहरो मे प्रस्तर खड की तरह प्रहार करती है, और ऐसा प्रतीत होता है कि स्तभ को तोड कर दिगदिगत को प्रकम्पित करता हुआ कोई प्रलय का बादल घुमड़ता आ रहा हो। नृसिह की विकराल मूर्ति को जीवंत बनाने के लिए कवि ने उनकी आँख, नाक, कान, मुँह आदि का दो-तीन शब्दो में ही ओजस्वी चित्रण किया है। प्रतप्त चामीकर चण्ड लोचनं, स्तब्धोर्ध्व कर्ण आदि पद अत्यत तेजवंत हैं। उपर्युक्त उद्धरण में एक भी ऐसा शब्द नही है, जो चित्रण की सूक्ष्मता और सजीवता मे योगदान नही

करता हो। यहाँ प्रत्येक विशेषण नासिका, जिह्वा आदि विशेष्य को पूरी तत्परता के साथ, सारी शक्तियो के साथ उद्घाटित करता हुआ प्रकट करता है। उक्त चित्र की प्रत्येक रेखा व्यजना-शक्ति से सगर्भ है। ऐसे भयकर शरीर पर चन्द्र किरण के समान स्वच्छ निर्मल रोमराजि और विकरालतर प्रतीत होती है। इस प्रकार का ओजस्वी, प्राणवत, रोमहर्षक और ज्वलत चित्र हमारे साहित्य का गौरव स्तभ है।

नृसिंह भगवान् ने हिरण्यकशिपु के उदर को जब अपने नखो से विदीर्ण कर डाला, तो उस समय उनकी क्रोध मुद्रा अद्भुत प्रतीत होती थी :—

संरम्भ दुष्प्रेक्ष्य कराल लोचनो
व्यात्ताननान्तं विलिहन्स्व जिह्वया।
असृग्लवाक्तारुण केसराननो
यथान्त्रमाली द्विपहत्यया हरिः॥

—भा० ७।८।३०

अर्थात्, उनकी क्रोध से भरी विकराल आँखो की ओर देखा नही जाता था। वे अपनी लपलपाती हुई जीभ से फैले हुए मुँह के दोनो कोने चाट रहे थे। खून के छीटो से उनका मुँह और गरदन के बाल लाल हो रहे थे। हाथी को मार कर गले में आँतो की माला पहने हुए, मृगराज के समान उनकी शोभा हो रही थी। मुँह के दोनो कोनो को जीभ से चाटने में चित्र की गत्यात्मकता और भयकरता कितनी बढ गई है। हाथी की हत्या कर अन्त्रमाली सिंह कैसा भयावना दीखता है! नृसिंह की उपमा अन्त्रमाली सिंह से यहाँ कितनी फबती है! हिरण्यकशिपु के उदर-विदारण की घटना हमारी आँखों के सामने एक नाटकीय दृश्य की तरह घटित हो जाती है। इनके प्रचड क्रोध का प्रभाव धरती और स्वर्ग पर भरपूर पडा :—

सटावधूता जलदाः परापतन्
ग्रहाश्च तद् दृष्टि विमुष्टरोचिषः।
अम्भोधयः श्वासहता विचुक्षुभु—
र्निह्रादभीता दिग्भिा विचुक्रुशुः॥
द्यौस्तत्सटोत्क्षिप्त विमान सकुला
प्रोत्सर्पत क्ष्मा च पदातिपीडिता।

शैलाः समुत्पेतुरमुष्य रंहसा
तत्तेजसा खं ककुभो न रेजिरे ॥
—भा० ७।८।३२,३३

उस समय नृसिंह भगवान् के गरदन के बालो की फटकार से बादल तितर-बितर होने लगे। उनके नेत्रो की ज्वाला से सूर्य आदि ग्रहो का तेज फीका पड़ गया। उनके श्वास के धक्के से समुद्र क्षुब्ध हो गया। उनके सिंहनाद से भयभीत हो कर दिग्गज चिग्घाडने लगे। उनके केसर से टकरा कर देवताओ के विमान अस्त-व्यस्त हो गए, स्वर्ग डगमगा गया। उनके पैरो की धमक से भूकम्प आ गया, वेग से पर्वत उडने लगे और उनके तेज की चकाचौध से आकाश तथा दिशाएँ अदृश्य होने लगी। नृसिंह भगवान् के केसर की फटकार से बादलो का छिन्न-भिन्न होना उनकी विराटता को मूर्तिमत कर रहा है। उन नेत्रो मे कैसा तेज रहा होगा, जिससे सूर्यादि ग्रहो का प्रकाश फीका पड़ गया। उनके श्वास मे कितना बल, कितना वेग था, जिससे उसके धक्के से समुद्र भी क्षुब्ध हो गया। श्वास के जोर से समुद्र के पानी का खौलना कितना सशक्त बिम्ब है! उनके पदचाप से धरती डगमगाने लगी, स्वर्ग हिलने लगा, पर्वत उड़ने लगे। नृसिंह का प्रलयकर रूप हमारे सामने प्रत्यक्ष हो जाता है। विस्फोट, सहार, महानाश और प्रलय का कैसा युगातकारी प्रभाव यहाँ दिखलाई पडता है। भगवान् के इस रूप को देख कर द्रष्टा भयग्रस्त, आश्चर्य चकित, विस्मय विस्फारित, स्तब्ध, त्रस्त, किंकर्तव्यविमूढ, अभिभूत, श्रद्धावनत और स्वय समर्पित हो जाता है। ब्रह्मा, रुद्र, सिद्ध, विद्याधर, इन्द्र आदि देवता उनकी स्तुति कर रहे है, फिर भी उनका क्रोध शात नही होता। देवताओ ने साक्षात् लक्ष्मी जी को उनका क्रोध शान्त करने के लिए भेजा, लेकिन वे भी भयवश उनके पास नहीं आ सकी। तब, ब्रह्मा के कहने से नन्हा-सा बालक प्रह्लाद ही उनके चरणों में गिर कर उनको प्रसन्न कर सका :—

स्वपादमूले पतितं तमर्भकं
विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः।
उत्थाप्य तच्छीर्ष्ण्यदधात् कराम्बुजं
कालाहि वित्रस्त धियां कृताभयम् ॥ —भा० ७।९।५

नृसिंह भगवान् इस सम्पूर्ण एकाकी नाटक में आद्योपात प्रायः मौन ही रहते

है। अत मे प्रह्लाद की सरलता को देख कर वे द्रवित हो उठते है। दैत्यराज का उदर फाड़ने के पहले वे एक बार जोर से अट्टहास करते है। अधकार के मौन मे अट्टहास का कर्कापात वातावरण को और भयकर बना देता है। महाकवि ने सम्वाद के द्वारा नही बल्कि गति, वेग, ध्वनि और व्यापार के द्वारा ही उदात्त का इतना भव्य रूप उपस्थित किया है। नृसिह भगवान् के विराट रूप को चित्रित करने मे व्यास को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। शब्दो की पाद सज्जा, ओज की अद्भुत छटा, रेखाकन का अपूर्व कौशल, शैली की मितव्ययिता, सशक्तता और नाटकीयता एव बिम्ब-विधान का उत्कट प्रभाव देखते ही बनता है।

विस्मयमूलक के उपरान्त हम उदात्त के और दो-तीन रूपो—विराट् बोधक, ध्वसमूलक और सर्जनात्मक—पर विचार करेगे।

समुद्र, पर्वत शृग, आकाश या विस्तृत वर्न प्रातर को देख कर हमारा छोटा-सा मन कभी-कभी हतप्रभ-सा हो जाता है; साथ ही, उस विराट् सत्ता को हृदयगम करने की कल्पना से वह प्रफुल्ल भी होता है। अपने पिण्ड के अतर्गत वह ब्रह्माण्ड का दर्शन कर सकता है। जो इस निखिल ब्रह्माण्ड का नायक है, वह निश्चय ही शक्ति, गुण और परिमाण मे सर्वोपरि है। उस परात्पर शक्ति का नाम ब्रह्म है। यह अनादि और अनन्त शक्ति, विभिन्न रूपो मे अभिव्यक्त होने के कारण, विभिन्न नामो से पुकारी जाती है। विराट् इसी शक्ति का एक रूप है। श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कंध के छठे अध्याय मे विराट् की विस्तृत व्याख्या है। यहाँ, उसका कुछ अश उद्धृत किया जाता है :—

'सर्वशक्तिमान् भगवान् ने जब देखा कि आपस मे सगठित न होने के कारण ये मेरी महत् तत्व आदि शक्तियाँ विश्व-रचना के कार्य मे असमर्थ हो रही हैं, तब वे कालशक्ति को स्वीकार करके एक साथ ही महत् तत्व, अहकार, पचभूत, पचतन्मात्रा और मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ—इन तेईस तत्वों के समुदाय में प्रविष्ट हो गए। उनमें प्रविष्ट हो कर उन्होने जीवो के सोये हुए अदृष्ट को जाग्रत किया और परस्पर विलग हुए उस तत्व समूह को अपनी क्रिया शक्ति के द्वारा आपस में मिला दिया। उस तेईस तत्वो के समूह ने भगवान् की प्रेरणा से अधिपुरुष—विराट्—को उत्पन्न किया। यह तत्वों का परिणाम ही विराट् पुरुष है, जिसमे चराचर जगत विद्यमान है। यह विराट् पुरुष ही प्रथम जीव होने के कारण समस्त जीवों का आत्मा, जीव रूप होने

के कारण परमात्मा का अश, और प्रथम अभिव्यक्त होने के कारण भगवान् का आदि अवतार है। सम्पूर्ण भूत समुदाय इसी मे प्रकाशित होता है। विराट् पुरुष के पहले मुख प्रकट हुआ, उसमे लोकपाल अग्नि अपने अश वागिन्द्रिय के समेत प्रविष्ट हो गया, जिससे यह जीव बोलता है। विराट् पुरुष के नेत्र मे सूर्य ने प्रवेश किया। इस पुरुष के शिर से स्वर्ग लोक, पद से पृथ्वी और नाभि से अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ। .'

सृष्टि प्रसग मे इस प्रकार के वर्णन कई स्थलो पर पाए जाते हैं। ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, विद्याधर, नारद आदि ने समय-समय पर भगवान् की स्तुति की है। ये स्तुतियाँ उनके ऐश्वर्य को अत्यन्त विस्तार के साथ व्यक्त करती है और अत मे 'नेति नेति' कह कर भक्ति का वरदान माँग लेती है। ऐसे वर्णन को, जहाँ भगवान् या विराट् पुरुष के ऐश्वर्य और माधुर्य का दार्शनिक विवेचन रहता है, क्या हम उदात कह सकेगे ? हाँ और नही दोनो। हाँ इसलिए, कि इस वर्णन शैली मे हम साधारण को पार कर अति साधारण लोक मे पहुँचते है। इससे हमारी प्रज्ञा का विस्तार होता है, बौद्धिक चेतना ऊर्द्धगामी होती है और हम अरूप, असीम की व्याख्या के निकट पहुँचना चाहते है। दृष्टि निक्षेप में अनतता के समावेश का प्रयास उदात्त का प्रधान गुण है। काट ने एक स्थल पर कहा है कि उदात्त को बुद्धि के द्वारा और सुन्दर को सुरुचि (टेस्ट) के द्वारा समझा जाता है। उपर्युक्त वर्णन बौद्धिक चेतना के द्वारा समझा जा सकता है और इसके सम्यक् बोध से उस चेतना का विस्तार हो सकता है। इस दृष्टि से हम इसे उदात्त कह सकते है। लेकिन, काव्यगत उदात्त के लिए भावना तत्व अनिवार्य है। उपर्युक्त वर्णन हमारे मानस में कोई स्थायी बिम्ब उत्पन्न नही कर पाता, रागात्मिका वृत्ति को उत्तेजित नही करता, इसलिए यह उदात्त नही कहा जायगा। ब्रह्मा आदि की स्तुतियाँ प्रज्ञा का विजृम्भन मात्र प्रतीत होती है। यहाँ शैली मे चित्रात्मकता, वक्रता, भावात्मकता परिलक्षित नही होती है, इसलिए इन्हे उदात्त कहने में संकोच होता है। ये वर्णन व्यास के बौद्धिक उद्गार कहे जा सकते है। एक ही दार्शनिक विचार बार-बार रूढिबद्ध तरीके से दुहराया गया है, इससे कथा के लोभी मन को नीद सताने लगती है। काव्य कला की दृष्टि से स्तुतियो के कुछ अंश नीरस और अनुपयुक्त सिद्ध हो सकते हैं, लेकिन पुराण-कला की दृष्टि से इनकी पूरी सार्थकता है। पुराणकार का लक्ष्य आख्यायिका

और कथा के माध्यम से जगत् और जगन्नियता की व्याख्या करना है। मनोरजन के साथ ज्ञानवर्धन इसका उद्देश्य है। पुराणकार अपने लक्ष्य की सिद्धि में पूरी तरह सफल हुए है। काव्य का मुख्य लक्ष्य रमणीय अर्थ का प्रतिपादन, शीलनिरुपण और रसनिष्पत्ति है। पुराण जीवन के विविध ज्ञान-विज्ञान, धर्माधर्म, विधिनिषेध देवी-देवता आदि के महत्व का निरूपण करता है। पुराण जन समूह के ज्ञान, धर्म, और मनोरञ्जन की अक्षय निधि है। इसलिए उन स्तुतियो का बार-बार आना लोकमानस के शिक्षण के लिए आवश्यक है।

दैवी शक्ति की महत्ता को प्रतिपादित करने के लिए आसुरी शक्ति का निरुपण आवश्यक है। प्रकाश की दीप्ति और स्वर्णाभा को व्यक्त करने के लिए अधकार की श्यामता और प्रगाढता अनिवार्य है। भगवान् श्रीकृष्ण की दैवी शक्ति को पूर्ण प्रस्फुटित करने के लिए कस की शक्ति सामने आई है। कस के अनेक अनुचर, जो असुर है, दैवी शक्ति का विनाश करने के लिए क्रियाशील है। लेकिन, अत मे असुरो का विनाश और दिवाशक्ति की विजय होती है। व्यास ने श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व मे जितना ही सम्मोहन भरा है, उनके प्रतिद्वन्दियो मे उतनी ही क्रूरता और कुरुपता। मुरली की धुन कालियदह के बीच और मधुर हो जाती है। श्रीकृष्ण की बाल लीलाओ के अमृत वर्षण मे बारी-बारी से राक्षसी उत्पात का कर्कापात होता रहता है। व्रज-जीवन मे एक पक्ष तो आसुरी उत्पात का और दूसरा स्वर्गीय उल्लास का है। कृष्ण और शुक्ल रह रह कर अपना पक्ष फैलाते रहते है। श्रीकृष्ण के लीलामृत मे विष घोलने के लिए कितने असुर आये ! पूतना, तृणावर्त, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर, वेनुकासुर, कालियनाग, प्रलम्बासुर, अरिष्टासुर, व्योमासुर और अत मे केशी, चाणूर और स्वय दैत्यराज कस। एक दिव्य ज्योति को बुझाने के लिए अंधकार ने कितने छलबल का प्रयोग किया। व्रज का पालना कस के आसुरी-दुख और कृष्ण के वात्सल्य-सुख की डोर मे हमेशा झूलता रहा। देवता और असुर दोनो एक ही पिता की सतान हैं। दैवी और आसुरी दोनो एक ही प्राण की प्रवृत्तियाँ हैं। पहली दूसरी पर विजय प्राप्त कर भगवदीय बन जाती है। पहली सर्जनात्मक और दूसरी ध्वंसात्मक शक्ति है। दोनों के संघर्षण से जीवन का प्रकाश फूटता है। तम के अक मे ज्योति पलती है और क्रूरता के कर्दम से कोमलता का कमल निकलता है। श्रीकृष्ण की कोमलता असुरो की

क्रूरता के बीच खिलती है। दशम स्कध मे असुरो के विनाशकारी रूप का प्राणवत अकन हुआ है। यह चित्रण ध्वस शक्ति को रूपायित करता है, इसलिए इसे ध्वसमूलक उदात्त कहा गया है। इसके दो उदाहरण नीचे उद्धृत किए जाते है :—

धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठो
दर्याननान्तो गिरिशृंग दंष्ट्रः।
ध्वान्तान्तरास्यो विततध्व जिह्वः
परुषानिल श्वासदवेक्षणोष्णः॥
—भाग० १०।१२।१७

वकासुर का भाई अघासुर अजगर के रूप में, सभी गोप बालको को निगलने के लिए लेटा हुआ है। उसका शरीर एक योजन लम्बे बडे पर्वत के समान विशाल एव मोटा था। उसने गुफा के समान अपना बडा मुख फाड रखा था। उसका नीचे का होठ पृथ्वी से और ऊपर का होठ बादलो से लग रहा था। उसके जबडे कन्दराओ के समान थे और दाढें पर्वत के शिखर-सी जान पडती थी। मुँह के भीतर घोर अधकार था। उसकी जीभ एक चौड़ी लाल सडक-सी दीखती थी। उसकी साँस आँधी के समान और आँखें दावानल के समान दहक रही थी। वह अजगर बहुत बडा मुँह बाए हुए था, इस उक्ति से कोई बिम्ब उपस्थित नही होता है। सुरसा ने अपना मुँह सोलह योजन तक फैलाया—इस कथन मे भी चित्रमयता नही है। लेकिन, उस अजगर का नीचे का होठ धरती से और ऊपर का बादलो से सटा हुआ था, इस उक्ति में एक बिम्ब प्रत्यक्ष हो उठता है। उसकी लाल जीभ—एक चौडी लाल सड़क-सी दीखती थी, इसमें भी जीभ की भयकरता स्पष्ट द्योतित हो रही है। सुर्खी बिछी हुई लाल सड़क मुँह की गुफा मे विलीन हो रही है। उसकी आँखे दावानल के समान और साँस आँधी के समान थी;...व्यास ने सारे उपमान उसी वन से चुन लिए हैं।

अजगर का यह भयावह और विध्वसकारी रूप सचमुच उदात्त है।

एक दूसरा असुर केशी है। वह घोडे के रूप में श्रीकृष्ण के प्राण लेने आया है। वह मन के समान तीव्र वेग से दौड़ता हुआ, अपनी टापों से धरती खोदता आ रहा था। उसकी गरदन के छितराये हुए बालो के झटके से आकाश

के बादल और विमानो की भीड तितर-बितर हो रही थी। उसकी भयानक हिनहिनाहट सुन कर सभी प्राणी काँप उठते थे। उसकी बडी-बडी आँखे खोडर की तरह थी। उसकी गर्दन बडी मोटी और शरीर काले-काले बादलो के समान विशाल था। उसकी चाल मे भूकम्प था —

केशी तु कंस प्रहित· खुरैर्मही
महाहयो निर्जरयन् मनोजवः।
सटावधूताभ्र विमान संकुलं
कुर्वन् नभो हेषितभीषिताखिलः।।
विशालनेत्रो विकटास्य कोटरो
वृहद्गलो नीलमहाम्बुदोपमः।
दुराशयः कंसहितं चिकीर्षु—
र्व्रजं स नन्दस्य जगाम कम्पयन्।।
—भा० १०।३७।१,२

ऊपर के चित्र में घोडे की गर्दन के बाल से आकाश के बादलो का, विमानो का तितर-बितर होना अत्यन्त पुष्ट अकन है। घोडे की ऊँचाई दस हजार फीट थी, यह काव्य की उक्ति नही हो सकती। उसके छितराये बाल से बादलो का तितर-बितर होना—काव्य का सही वर्णन है। अपने वेग से व्रज को कम्पायमान करने वाला घोडा सचमुच कोई असाधारण जतु है। महानाश को बाँधने वाली यह शैली उदात्त है।

यह ध्यान देने की बात है कि व्यास ने ऐसे असुरो की मृत्यु का वर्णन भी पूरी कलात्मकता के साथ किया है। जीवन और मरण, कला दोनो मे सुन्दरता का दर्शन करती है। ये एक प्राण के दो व्यापार है। कला किसी की उपेक्षा नही करती। शृगार और वीभत्स दोनों में उसे रस की उपलब्धि होती है। केशी के मरणकाल का यह चित्र देखिए :—

समेधमानेन स कृष्णबाहुना
निरुद्ध वायुश्चरणांश्च विक्षिपन्।
अस्विन्नगात्रः परिवृत्त लोचनः
पपात लेण्डं विसृजन् क्षितौ व्यसुः।।

तद्देहत. कर्कटिकाफलोपमाद्
व्यसोरपाकृष्य भुजं महा भुजः।
—भाग० १०।३७।८,६

श्रीकृष्ण का हाथ उस घोडे के मुँह मे इतना बढ गया कि उसकी साँस के भी आने जाने का मार्ग न रहा। अब तो दम घुटने के कारण वह पैर पीटने लगा। उसका शरीर पसीने से लथपथ हो गया। उसकी आँखो की पुतली उलट गई, वह मल त्याग करने लगा, धरती पर गिर पडा और मर गया। उसका निष्प्राण शरीर फूला हुआ होने के कारण, गिरते ही पकी ककडी की तरह फट गया। महाबाहु श्रीकृष्ण ने उसके शरीर मे से अपनी भुजा खीच ली।

नरक या स्वर्ग, इन्फर्नो या पैराडाइजो, कलाकार दोनो का चित्रण उसी तन्मयता के साथ करता है।

अपने पुराणो मे एक-से-एक अनोखे बिम्ब भरे पडे है। नई आलोचना के सहारे उनका साहित्यिक अध्ययन प्रस्तुत करना एक महत्वपूर्ण कार्य होगा। पुराणो के जितने भी बिम्ब मेरे मानस मे अभी तैर रहे है, उनमे से दो मुझे सब से ज्यादा आकर्षित करते है। एक है अमृत मथन और दूसरा कालिय दमन। अनत जलराशि समुद्र के अतर्गत सोने का विशाल सुमेरु पर्वत अवस्थित है। सहस्र फणधारी शेष नाग वासुकि को रज्जु बनाया गया है। सहस्रो देवता एक ओर और सहस्रो दानव दूसरी ओर सर्पराज को ताने हुए खडे है। मदराचल को मथानी बना कर समुद्र का मथन हो रहा है। समुद्र से एक-से-एक रत्न निकल रहे है। विष भी निकलता है और अत मे अमृत भी। प्रकृति के विराट् रगमच पर एक विराट् नाटक अभिनीत हो रहा है। अमृत मथन की महान् कल्पना किसी महान् मानस मे ही उद्भूत हो सकती है। यह हमारा जातीय बिम्ब है, राष्ट्रीय बिम्ब है। इसने शतशत कलाकारों की कल्पना को अनुप्राणित किया है। भागवत के अष्टम स्कध के सप्तम अध्याय मे इसका चित्रण किया गया है। अमृत मथन की तरह कालिय दमन का बिम्ब भी अत्यन्त रोमहर्षक है। यह 'चित्र ताण्डव' यमुना के एक साधारण ह्रद में घटित होता है। नटराज श्रीकृष्ण बालवेश में कालिय नाग के ऊपर ताण्डव नृत्य कर रहे है। कालिय के एक सौ एक फण ही इसका रगमचं है। कालिय ह्रद के जल का विषाक्त प्रभाव देखिए :—

कालिन्द्यां कालियस्यासीद्ध्रदः कश्चिद् विषाग्निना ।
श्रप्यमाणपया यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः खगाः ॥
विप्रुष्मता विषोदोर्मि मारुतेनाभिमर्शिताः ।
म्रियन्ते तीरगा यस्य प्राणिनः स्थिर जंगमाः ॥
—भा० १०।१६।४,५

अर्थात्, यमुना मे कालिय नाग का एक कुण्ड था। उसका जल विष की गर्मी से खौलता रहता था। यहाँ तक कि उसके ऊपर उडने वाले पक्षी भी झुलस कर उसमे गिर जाया करते थे। उसके विषैले जल की उत्ताल तरगो का स्पर्श करके तथा उसकी छोटी-छोटी बूंदे ले कर जब वायु बाहर आती और तट के घास-पात, वृक्ष, पशु, पक्षी आदि का स्पर्श करती, तब वे उसी समय मर जाते थे। ऐसे विषैले ह्रद मे श्रीकृष्ण एक कदब के वृक्ष पर चढ कर वहाँ से कूद पडे। वे कालिय से सघर्ष कर रहे है। 'उन्होने उसके बडे-बडे मस्तको को थोड़ा दबा दिया और उछल कर उस पर सवार हो गए। कालिय नाग के मस्तको पर बहुत सी लाल-लाल मणियाँ थी। उनके स्पर्श से भगवान् के सुकुमार तलुओ की लालिमा और भी बढ़ गई। अखिल कला के आदि गुरु श्रीकृष्ण उसके सिरो पर कलापूर्ण नृत्य करने लगे, —

एवं परिभ्रम हतौजसमुन्नतास—
मानम्य तत्पृथुशिरः स्वधिरूढ आद्यः ।
तन्मूर्धरत्ननिकर स्पर्शाति ताम्र—
पादाम्बुजोऽखिल कलादि गुरुर्ननर्त ॥
—भा० १०।१६।२६

'कालियनाग के एक सौ एक सिर थे। वह अपने जिस सिर को नहीं झुकाता था, उसी को प्रचण्ड दण्डधारी भगवान् अपने पैरो की चोट से कुचल डालते। इससे कालियनाग की जीवन शक्ति क्षीण हो चली, वह मुँह और नथुनो से खून उगलने लगा। अत मे चक्कर काटते-काटते वह बेहोश हो गया। तनिक भी चेत होता तो वह अपनी आँखो से विष उगलने लगता और क्रोध के मारे जोर-जोर से फुफकारें मारने लगता। इस प्रकार वह अपने सिरो में से जिस सिर को ऊपर उठाता, उसी को नाचते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अपने चरणो की ठोकर से झुका कर रौद डालते। उस ससय उनके चरणो पर जो खून की

बूँदे पडती थी, उनसे ऐसा मालूम होता, मानो रक्त-पुष्पो से उनकी पूजा की जा रही हो' '—

> यद् यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्ण—
> स्तत्तन ममर्द खर दण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः ।
> क्षीणायुषो भ्रमत उल्बणमास्यतोऽसृङ्
> नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नागः ॥
> तस्याक्षिभिर्गरलमुद्वमतः शिरस्सु
> यद्यत् समुन्नमति निःश्वसतो रुषोच्चैः ।
> नृत्यन् पदानुनमयन् दमयाम्बभूव
> पुष्पैः प्रपूजित इवेह पुमान् पुराणः ॥
>
> —भाग० १०।१६।२८,२६

क्रोधोन्मत्त कालिय नाग की आँखें भट्ठी पर तपाये खपडे (इक्षरणोल्मुक मुख) के समान दिखाई देती है । वह अपनी दुहरी जीभ लपलपाता हुआ होठो को चाट रहा है, (त जिह्वया द्विशिखया परिलेलिहान .), वह अपनी कराल आँखो से विष की ज्वाला उगल रहा है । जिसकी सत्ता का प्रत्येक क्षरण प्रलयकर मृत्यु का आवाहन कर रहा है, उसके मस्तक पर एक सलोना शिशु मद मद मुस्कुरा कर नृत्य कर रहा है । आकाश मे विद्याधर, गधर्व, चारण आदि गायन कर रहे है । कुण्ड के किनारे हजारो व्यग्र विह्वल आँखें इस लीला को एकटक देख रही है । इस भयानक विष के अधकार मे ऊषा की अरुणाई भी झलक जाती है । कालिय नाग के मस्तको की लाल मणियाँ श्रीकृष्ण के सुकुमार तलुओ की लालिमा को और सुशोभित कर रही हैं । कालिय ने क्रुद्ध हो कर बार-बार उनके कोमल चरणो को काट खाया है; उनसे रक्त की बूँदे टपक रही है, मानो रक्त-पुष्पो से उनके चरणो की पूजा हो रही हो ।

ताण्डव नृत्य समाप्त होता है । कालिय नाग बेहोश हो कर गिर पडता है । उसकी पत्नियाँ अपने पुत्रो को साथ ले कर भगवान् की शरण मे आती हैं । वे अपने पति के प्राण की भिक्षा माँगती हैं और श्रीकृष्ण की स्तुति करती है । इस प्रकार ताण्डव नृत्य का पर्यवसान भक्ति रस में हो जाता है । देखा जाय तो प्रत्येक मनुष्य अपने आप मे छोटा या बडा कालिय नाग ही है । वह अपने ईर्ष्या-

द्वेष के गरल से जीवन की यमुना को विषाक्त कर रहा है। उसे भी तो कालिय की तरह अहकार के एक सौ एक फरण है। श्रीकृष्ण के चरण-स्पर्श से ही ये फण झुक सकते है। अहकार की समाप्ति पर जीवन अमृत हो जाता है। इस अमृत कल्पना से प्रेरणा प्राप्त कर आज भी कोई कवि उमग में गा उठता है —

झूमे जहर चरण के नीचे, मै उमंग में गाऊँ।
तान तान फण व्याल कि तुझ पर मै बाँसुरी बजाऊँ।।

वाल्मीकि, व्यास और कालिदास की काव्य-धारा भारतीय सस्कृति की साक्षात् त्रिवेणी है। इस त्रिमूर्ति ने भगवान् राम, कृष्ण और शकर के पावन यश का अमर गायन किया है। इन कवियो ने हमारे जातीय जीवन को प्रेम सुधा से सीच कर चिर उर्वर बना दिया है। ये हमारे नयनो के नयन और प्राणों के प्राण है।

८

कालिदास की सौन्दर्य-सृष्टि

कालिदास को जीवन और जगत् के प्रति अतीव अनुराग और अनन्य आस्था थी। उनके कुछ काव्य के मगलाचरण, भरत वाक्य और अन्यान्य प्रसगो से यह स्पष्ट विदित होता है कि भगवान शकर के चरणो मे उनकी अविचल भक्ति थी। शिव के आनदतत्व मे योग और भोग का अपूर्व सामजस्य घटित हुआ है। कालीदास ने भी जीवन को भोग के माध्यम से योग तक पहुँचाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। श्रुति कहती है कि सभी भूतो की उत्पत्ति आनद से है, वे आनद मे निवास करते है और पुन उसी मे लीन हो जाते है। प्रत्येक जीव आनद सिन्धु का एक विन्दु है। जीव के माध्यम से शिव का आनद व्यक्त हो रहा है। कालिदास ने सम्पूर्ण जीवन का आनद के रूप मे अनुभव किया है। प्रकृति और पुरुष का शिव और शक्ति का, महाकाल और महाकाली का नित्य लीला-विलास हो रहा है। सुख-दु.खात्मक जगत् मूलतः आनदरूप है—कालिदास की इसमे दृढ़ आस्था थी। इसलिए, उनके काव्य मे निराशा और उदासीनता की जगह सर्वत्र मधुरता और सुन्दरता है।

प्रजा की उत्पत्ति के लिए नारी और पुरुष का समागम-सुख गर्हित नही कहा जा सकता। जीव सभोग-सुख के उपारान्त काम पर विजय प्राप्त करके अत मे आत्मानन्द मे लीन हो सकता है। संभोग को उद्दीप्त करने वाला रूप और यौवन प्रकृति का उज्जवल वरदान हो सकता है। भोग इसलिए सुन्दर है कि उससे योग की प्रेरणा मिल सकती है। विषयानन्द ब्रह्मानन्द के रूप मे परिणत हो जाता है। कामदेव सभी देवताओं में सुन्दर है, और काम-सुख सभी सुखो मे रमणीय है। शिव का योग काम और भोग पर विजय प्राप्त करता है। योगी शिव से जिस कुमार का जन्म होता है, वह आसुरी शक्ति का विनाश कर सबों को निर्भय बना देता है। शिव ने धर्म विरुद्ध कामदेव को जला कर, पुनः उसे जीवनदान दिया और धर्मविहित बना लिया। बिना

तपश्चर्या के रूप तेजस्वी नही होता। तप पूत प्रणय लोक मगल मे प्रतिफलित होता है। कालिदास के काव्य मे शृगार के कुछ उल्लग चित्र देख कर पहले मन घबरा जाता है, लेकिन उसकी परिणति की दिव्य झकार से पुन. आत्मा उल्लसित हो उठती है। स्थूल भोग की तरल तरगो के अतराल मे, प्राय, आर्द्धनारीश्वर की छवि तैरती रहती है।

कालिदास की दृष्टि मे सौदर्य नित नूतन है। जब किसी वस्तु का रूप हमारे मन को फीका लगता है, तो हम उससे मुँह फेर लेते है। फीकापन और पुरानापन एक ही है। जो रूप मन की रमणशील वृत्ति को सतत उद्बुद्ध करता है, वह चिर नवीन रहता है। प्रतिक्षण आनन्द की वृद्धि करने वाला रूप नित नूतन कहलाता है। इस रूप का सबध स्थूल इन्द्रिय की भोगवृत्ति से नही, वरन् प्राण की रसमग्नता से है। व्यक्ति का तन-मन-प्राण जब आनन्द की झकार मे अविरल बहने लगता है, तो उसे वह रूप चिर सुन्दर प्रतीत होता है। कालिदास ने शिव-पार्वती के इस चिर सुन्दर रूप का भावन किया है, और, उस चिरसुन्दर की ज्योति उन्हे जहाँ कही प्रतिबिम्बित दीखती है, वह रूप भी शाश्वत आनन्द का स्रोत प्रवाहित करता रहता है। यह रूप भोक्ता के मानस मे दिव्य रागिनी बन कर गूँजता रहता है। मालविका, इन्दुमती, शकुन्तला, और उर्वशी के रूप की मादकता उनके प्रेमियों के हृदय में अपूर्व माधुरी का सचार करती है। व्यापक रूप से विचार किया जाय तो यह निखिल सृष्टि ही, जो नित नूतन वेश मे अपनी नृत्य भगिमा प्रस्तुत कर रही है, सौन्दर्य की शाश्वत दीपशिखा-सी प्रज्वलित हो रही है। सृष्टि की अभिनव सौन्दर्य-तरग की अनुभूति महाकवि को अहरह होती रहती है। राजा अग्निमित्र को देख कर गण दास कहता है :—

न च परिचितो न चाप्यरम्यश्च—
कितमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे
भवति स एव नवोनवोऽयमक्ष्णोः॥

—मालविका० १।११

राजा से मेरा पूर्व परिचय भी है. ये भयकर भी नही हैं, फिर भी, इनके निकट जाने मे मुझे हिचक हो रही है। समुद्र के समान ज्यो के त्यो सदा एक-

रस रहते हुए भी ये मेरी आँखो को पल-पल मे नवीन दिखाई देते है। ज्योति की तरगो के कारण रूप-समुद्र नित नवीन दिखाई देता है। यह सृष्टि समुद्र की तरह शाश्वत है। इसमे से उठने वाली छवियो की ऊर्मियाँ भी शाश्वत है। ये सौन्दर्य को क्षण-क्षण नव-नव रूप प्रदान करती है।

कालिदास का यह विश्वास है कि सुन्दर आकृति सभी अवस्थाओ मे सभी समय सुन्दर ही रहती है, क्योकि, आकृति की सुन्दरता का कारण उसकी आन्तरिक सौन्दर्य-चेतना है। इस चेतना के अभाव मे रूप की कोई सत्ता नही। यदि ऐसा कहा जाय कि कपोल की चिक्कणता, अधर की अरुणिमा और वक्ष का काठिन्य वार्धक्य मे शिथिल हो जाता है, तो, कालीदास यह मानने के लिए तैयार नही। यह तो रूप का परिवर्तन मात्र है। उसके अन्दर तो चेतना का वही प्रवाह जारी है। 'बचपन का कोमल गात' और 'जरा का पीला पात' कवि की दृष्टि मे दोनो सुन्दर है। सुन्दर आकृति चाहे प्रसन्न हो या उदास वह हर अवस्था मे सुन्दर प्रतीत होती है। एक ही वस्तु कभी सुन्दर और कभी कुरूप दिखाई पडे तो वह मूल रूप मे सुन्दर नही है। चेतना का रस सुन्दर आकृति को सदा सुन्दर बनाये रखता है। कचुकी उदास विरही दुष्यन्त को देख कर मन मे कहता है :—

अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृति विशेषाणाम्।

—शाकुं० अक ६

अर्थात्, जो सुन्दर होते है उनकी शोभा हर दशा मे अच्छी लगती है। महाराज ने सभी शोभाकारक अलकार उतार दिये है, उनके बाँये हाथ पर केवल एक सोने का भुजबध है। उसाँसो से उनके नीचे का होठ भी लाल हो गया है। चिन्ता के कारण रात भर जगने से उनकी आँखें भी अलसा गई है। लेकिन, खराद पर चढाये हुए महामणि की तरह क्षीण हो कर भी वे, अपनी कान्ति के कारण, क्षीण नही दीखते :—

प्रत्यादिष्ट विशेष मण्डन विधिर्वाम प्रकोष्ठार्पितं
बिभ्रत् काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः।
चिन्ताजागरणप्रतान्त नयनस्तेजो गुणादात्मनः
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते॥

—शाकुं० ६।६

मालविका के प्रथम दर्शन पर अग्निमित्र का कथन है :—

अहो सर्वस्थानानवद्यता रूप विशेषस्य —माल० अंक २

सुन्दर रूप सभी अवस्थाओ मे सुन्दर ही रहता है। उसी अक मे उक्त आशय का एक और उदाहरण द्रष्टव्य है —

अहो सर्वा स्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति।

अर्थात्, सुन्दरता को जिस भगिमा मे देखिये वह मनोहर ही लगती है। उपर्युक्त अवतरणो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कालिदास की मान्यता है कि सुन्दर आकृति सदा सर्वदा सुन्दर ही रहती है।

वाह्य अलकरण से व्यक्ति के रूप-सौदर्य मे अभिवृद्धि तो होती है, लेकिन, उसके अभाव मे भी, रूप का प्रकाश क्षीण नही होता। बल्कि, अनलकृत रूप अपनी नैसर्गिक कान्ति मे और प्रदीप्त होता है। रूप किसी के आश्रय की अपेक्षा नही करता। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह वाह्य उपकरणो से प्रकृत रूप को अलकृत कर उसे सुन्दरतर बनाना चाहता है। यह प्रयास निन्द्य नही कहा जा सकता। लेकिन, कपोल की नैसर्गिक चिक्कणता, अधर की स्वाभाविक रागमयता और बाहुओ की प्रकृत तरलता वाह्य उपकरणो के अभाव में उदास नही मालूम पडती। स्वर्णाभूषणो की अपेक्षा पुष्पो के अलकार ग्राम युवतियो के सौदर्य को अधिक निखारते है। और, जहाँ न स्वर्ण है न पुष्प है, वहाँ उसकी नैसर्गिक कान्ति ही द्रष्टा को आलोकित करती है। मधुर आकृति वाले को कुछ भी पहना दीजिए, वह मनोज्ञ ही दिखाई देता है।

सरसिजमनुबिद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मी तनोति।
इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

—शाकुं० १।१६

अर्थात्, सेवाँर से घिरा होने पर भी कमल सुन्दर लगता है। कलक चन्द्रमा की शोभा को बढाता ही है। शकुन्तला वल्कल पहने हुए और सुन्दर लगती है। सुन्दर शरीर पर सब कुछ सुन्दर लगता है। जो स्वभावतः रूपवान् है, उसे

बाह्य मडन की आवश्यकता नहीं, वह उसके बिना भी सुन्दर रहेगा, ऐसा कालिदास मानते हैं ।

व्यापक दृष्टि रखने वाले कलाकार प्रकृति सुन्दरता का भावन समन्वित रूप से तो करते ही है, फिर भी, प्रकृति के बिखरे सौन्दर्य को एक स्थान पर देखने के लिए उनका मन मचल उठता है । ब्रह्माण्ड की सुन्दरता को पिण्ड मे प्रत्यक्ष करने की आकुलता ने नायक या नायिका के सौन्दय को सर्वतोभावेन पूर्ण बनाने का प्रयास किया है । या, यो कहिये, कि प्रकृति की बिखरी हुई छवि को अपनी नायिका मे एकस्थ देख कर कवि आनन्द विभोर हो गया है । साधारण दृष्टि से देखने पर जीवन अधूरा और खण्डित प्रतीत होता है, लेकिन महान् कलाकार जीवन के विभिन्न व्यापारो को इस प्रकार सघटित करते है कि वे पूर्णता के प्रतीक हो जाते है । जिस प्रकार रगमच पर हम जीवन के अनेक व्यापार एक स्थल पर घटित देख कर आनन्दित हो जाते है, उसी प्रकार कलाकार भी प्रकृति की अनक भगिमाओ को एक पात्र मे निविष्ट कर आत्मतुष्टि का अनुभव करता है । सुन्दरता को अपनी कृति मे पूर्णतया अकित देख कर उसे अपनी सफलता पर गर्व होता है । सफल कलाकृति सुन्दरता को एक पात्र में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करती है, कालिदास की यह मान्यता कुछ उद्धरणो के द्वारा स्पष्ट की जाती है —

सर्वोपमाद्रव्य समुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन ।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थ सौन्दर्य दिदृक्षयेव ॥

—कुमार० १।४९

अर्थात्, पार्वती जी के रूप को देख कर ऐसा प्रतीत होता था कि विश्व-स्रष्टा ब्रह्मा ने सुन्दर अगो की उपमा म आने वाली सभी वस्तुओ को यत्न से बटोर कर पावती जी के अगो पर यथास्थान सजा दिया है, क्योकि वे पृथ्वी के समस्त सौन्दर्य को एकस्थ देखना चाहते थे । दुष्यत शकुन्तला के प्रथम दर्शन पर अपना यह उद्गार प्रकट करते है .—

चित्रे निवेश्य परिकल्पित सत्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृतानु ।

स्त्री रत्न सृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातृ विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ।
—शाकुं० २।६

अर्थात्, ब्रह्मा ने जब शकुन्तला को बनाया होगा, तब पहले उसका चित्र बनाकर, या मन मे ससार की सभी सुन्दरियो के रूपो को इकट्ठा करके उसमे प्राण डाले होगे । क्योकि, ब्रह्मा की कुशलता और शकुन्तला की सुन्दरता पर विचार करने से यही जान पडता है कि यह कोई अपूर्व स्त्री रत्न उन्होने बनाया है । यहाँ भी सम्पूर्ण सौन्दर्य को एकत्र करने का प्रयास एव उसे एकस्थ देखने की लालसा वर्तमान है । विशृखल ससार मे रूप का आदर्श न देख कर कालिदास ने भी ब्रह्मा की तरह अपने परिकल्पित चित्र की प्राणप्रतिष्ठा कर दी है । कलाकार अपनी कल्पना के द्वारा काट-छाँट करके चित्र को पूर्ण बनाता है, और उसमे प्राण भी डालता है । मेघदूत का यक्ष भी इस आशय का भाव प्रकट करता है :—

या तत्र स्याद्युवति विषये सृष्टिराद्येव धातुः ।
—मेघ० उत्तर २२

पार्वती को देख कर ब्रह्मचारी वेश में शकर का यह कथन भी लेखनीय है :—

त्रिलोक सौन्दर्य मिवोदितं वपुः ।
—कुमा० ५।४१

इससे यह स्पष्ट है कि कलाकार बिखरी सुन्दरता को एकस्थ देखने के लिए कृति का सृजन करता है ।

आकृतिगत रूप, जो परम रूप की एक तरग है, बिना तपस्या के लोक मगल का आधार नही हो सकता । रूप की भूमि वन्ध्या न रहे, वह फलप्रद हो, इसके लिये उसे तपोभूमि मे परिणत होना है । जो रूप सेवा, त्याग, और मातृ-महिमा से वंचित रह कर रह केलि मे लीन है, वह निन्द्यनीय है । वह क्षय रोग से ग्रस्त हो कर लोक निन्दित हो जाता है । पार्वती ने अपने उस रूप की हृदय से निन्दा की जो शिव को—लोक मंगल को—अनुरजित करने में असमर्थ सिद्ध हुआ ।

निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती
प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता। —कुमा० ५।१

शिव के समान पति और उनके अनन्य प्रेम को पाने के लिए पार्वती ने तप का ही आश्रय लिया, क्योकि, वैसे पति और वैसा प्रेम ये दोनों बिना तप के भला कही मिल सकते थे —

अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं
तथा विधं प्रेम पतिश्च तादृशः।
—कुमार० ५।२

पार्वती का शरीर शिरीष पुष्प के समान कोमल था। शिरीष भ्रमर का पद भार तो सह सकता है, लेकिन पक्षी का कदापि नही। पार्वती के शरीर ने महत् मुनि व्रत का कठिन भार उठा लिया।

दुष्यत शकुन्तला का प्रेम, वासनाग्रस्त प्रेम, मुनि का आदर नही करने के कारण, लोक मर्यादा से च्युत होने के कारण, दुर्वासा द्वारा अभिशप्त हो जाता है। वासना प्रेम के विवेक-नयन पर पट्टी बाँध देती है। कामांध व्यक्ति के गले मे कोई फूल की माला भी डाले तो वह साँप समझ कर उसे फेंक देगा :—

स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां
धुनोत्यहि शङ्कया। —शाकुं० ७।२४

वासना प्रेम रूपी चन्द्रमा के लिए ग्रहण है। विरह के तप में वासना के जल जाने पर, चन्द्र ग्रहण के बीतने पर, दुष्यन्त के रोहिणी के समान शकुन्तला प्राप्त हुई :—

उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम्।
—शाकुं० ७।२२

तप·पूत शकुन्तला के चरणो पर महाराज दुष्यन्त अपना मस्तक रख देते हैं; 'शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य...' शकुन्तला जब अपने पुत्र के साथ भगवान् मारीच के चरणों में प्रणाम करती है, तभी उसे आशीर्वाद मिलता है। भगवती अदिति आशीष देती है कि तुम पति का आदर पाओ और तुम्हारा

चिरजीवी दोनो कुलों का सुख दे। भगवान शकर तपस्विनी पार्वती से कहते हैं कि हे सुन्दरि, आज से तुम मुझे तप से मोल लिया हुआ अपना दास समझो :—

> अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः
> क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।
>
> —कुमार० ५।८६

तप पूत रूप के चरणो मे सदा सिर नतमस्तक रहता है।

लवकुश के साथ सीता की शोभा और ही पूत हो गयी है। लवकुश के साथ श्रीराम के पास जाती हुई सीताजी ऐसी लगती थी, मानो स्वर और सस्कार के साथ गायत्री सूर्य के पास जा रही हो। गेरुए वस्त्र पहने और अपनी नीची आँखे किये सीताजी अपने शान्त शरीर से ही पवित्र दिखाई देती थी :—

> स्वर संस्कार वत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया।
> ऋचेवोदर्चिष सूर्यं राम मुनिरुपस्थितः ॥
> काषाय परिवीतेन स्वपदार्पित चक्षुषा।
> अन्वमीयत शुद्धेति शान्तेन वपुषैव सा ॥
>
> —रघु० १५।७६;७७

तप स्वरूपा, पुत्रवत्सला माता सीता का यह गायत्री रूप कितना दिव्य और वन्दनीय है। तपोबल शृगार को शान्त बना देता है।

मालविकाग्नि मित्र मे मालविका राजा अग्निमित्र के यहाँ अज्ञात रूप मे रह कर अपने शाप की अवधि काट रही है। उसे एक साधु ने कभी शाप दिया था कि वह एक वर्ष तक दासी बन कर रहेगी, पीछे उसका योग्य पति से विवाह होगा। सेवा, तप के बिना सुयोग्य पति नही मिलते।

'आसवत्सरमात्रमिय प्रेष्यभावमनुभूय तत सदृश भर्तृगामिनी भविष्यतीति।' राजा और मालविका के शुभ विवाह के अवसर पर रानी धारिणी देवी के पुत्र के विजय का शुभ समाचार सामने आता है। शुभ विवाह और चिरजीवी पुत्र के विजय सवाद से पचम अक आनन्द विभोर हो रहा है। मालविका का प्रेयसी रूप धारिणी के मगलमय मातृरूप का अनुगत हो रहा है। कामिनी की श्री जननी के श्रीचरणों मे अवनत है। परिव्राजिका रानी

धारिणी से कहती है कि अब तक आप वीर पत्नियो मे शिरमौर थी, आपके पुत्र ने आपके नाम के साथ वीर माता की पदवी भी जोड दी है —

वीर सूरिति शब्दोऽयं तनयात्त्वामुपस्थितः ।

—माल० ५।१६

वीर पत्नी की शोभा वीरप्रसू होने मे है । सीता, शकुन्तला, पार्वती, धारिणी ये सभी वीर माताये है । उर्वशी और पुरूरवा मे शापवश वियोग बना रहता है । अत मे उर्वशी अपने पुत्र आयु को समर्पित कर अपना नारी जीवन धन्य बनाती है । उर्वशी भी वीरप्रसू है । और तो और, मेघदूत मे यक्ष की प्रेयसी भी मातृहृदया है । यक्ष अपने निवास का परिचय देते हुए कहता है कि इन्द्रधनुष के समान गोलफाटक उसके घर पर लगा है, उसी के पास एक छोटा-सा कल्पवृक्ष है, जिसे मेरी पत्नी ने पुत्र के समान पाल रखा है —

यस्योपान्ते कृतक तनय. कान्तया वर्धितो मे ।
हस्त प्राप्य स्तबकनमितो बालमन्दार वृक्षः ।।

—मेघ० उ० १५

बालमन्दार को तनय के रूप मे पालने वाली यक्ष की कान्ता कितनी उदारहृदया है ! युवती का रूप, अपने आप मे नही, पुत्रवती बन कर धन्य हो उठता है । रूप के सुन्दरम् को शिवम् मे परिणत हुए बिना उसका कल्याण नही । कालिदास का सुन्दर सदा शिव की ओर उन्मुख है ।

महाकवि का विश्वास है कि सुन्दरता पाप की ओर कभी नही झुकती । ब्रह्मचारी वेश मे शकर कहते है कि हे पार्वती जी, सुन्दरता पाप की ओर कभी आकृष्ट नही होती । आपका शील इतना उदार है कि बडे-बडे तपस्वी भी उससे उपदेश ले सकते है । यो तो सप्त ऋषियों के हाथ से चढाये हुए पूजा के फूल और अकाश से उतरी हुई गगा की धारायें हिमालय पर गिरती हैं, परन्तु इन सबो से हिमालय उतना पवित्र नही हुआ जितना आपके निर्मल चरित से पवित्र हुआ है :—

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये
न रूपमित्य व्यभिचारि तद्वचः ।
तथाहि ते शीलमुदार दर्शने

तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥
विकीर्ण सप्तर्षिबलि प्रहासिभिस्तथा
न गांगैः सलिलैर्दिवश्च्युतैः ।
यथा त्वदीयैश्चरितैरनाविलै
र्महीधरः पावित एष सान्वयः ॥
—कुमार० ५।३६;३७

पार्वतीजी का रूप ही ऐसा है कि उन पर न तो कोई क्रोध कर सकता है, न उनका अपमान ही। रूप को देखते ही क्रोध और अपमान नतपण हो जाते है। सर्प की मस्तकमणि को कोई छू नही सकता, रूप की दीप्ति पर कोई धब्बा नही लगा सकता —

अलभ्य शोकाभि भवेयमाकृति
विमानना सुभ्रु कुतः पितुर्गृहे ।
पराभिमर्शो न तवास्ति कः करं
प्रसारयेत्पन्नग रत्नसूचये ॥
—कुमार० ५।४३

इन उक्तियो से स्पष्ट है कि कालिदास की सौन्दर्य भावना सर्वदा शिव का वरण करती हुई, मातृमहिमा से मण्डित हो कर, निर्भयता के साथ लोक-कल्याण मे लीन रहती है। सौन्दर्य शीलवन्त है, निष्पाप है, निर्भय है, और लोकनेत्र की कौमुदी भी है।

नारी के आकृतिगत रूप के चित्रण मे सस्कृत साहित्य मे एक बद्ध परम्परा हो गई है। कल्पनाहीन बद्ध परम्परा की सज्ञा रूढि है। सस्कृत साहित्य मे अंग सौन्दर्य के अकन के लिए कुछ चुने हुए उपमान हैं, वे बारबार न जाने कितनी शताब्दियो से प्रयुक्त हो रहे है। नासिका के लिए शुक, अधर के लिए पल्लव, प्रबाल, नयन के लिए मृग, खजन; ग्रीवा के लिए कपोत शख आदि उपमान अतिपरिचित हो गए हैं। कालिदास की विशेषता है कि उन्होने पुराने घिसे उपमानो को कुछ इस ढग से सजाया है कि उनकी कविता सद्यः स्नाता हो जाती है। किस वस्तु को कहाँ रखा जाय, किसके साथ रखा जाय, सुसज्जा की कला के लिए इसका ज्ञान आवश्यक है। सम्यक स्थान का चयन, भावमुद्रा का लेखन, और समीपस्थ वस्तुओ के सस्पर्श से उत्पन्न सिहरन को

ध्यान मे रखने वाला कवि कभी पुराना नही पडता है। मुर्झायी लता फ़ुहार से और रूढ अलकार सोने के पानी से हरे भरे होते है। कवि की कल्पना ही सोने का पानी है। वह हिरण्यगर्भा है। उसके जादू भरे स्पर्श से झुर्रियाँ मिट जाती है और मधुमास साँस लेने लगता है। प्रसाद और पत मे भी जहाँ स्थान चयन, मुद्रा-लेखन और नव स्पन्दन का सयोग हुआ है, वहाँ सौन्दर्य की निष्पत्ति स्वतः हो गई है। कल्पना की रमणीयता बासी अलकार को ताजा बिम्ब बना देती है। वह सूँघे हुए फूल को अनाघ्रात पुष्प बना देती है। यह कल्पना का गन्ध-मादन पर्वत है। इसके खिले फूलो की सुवास मे चिरवसन्त का निवास है। कविता मे चित्रित और धरती पर विकसित प्रकृति को देख कर यह नही कहा जा सकता कि कविता ने धरती का या धरती ने कविता का अनुकरण किया है। कला प्रकृति का या प्रकृति कला का अनुकरण है। पार्वती ने मृगागना से या मृगागना ने पार्वती से कटाक्ष-कला ग्रहण की है, कौन जाने !

प्रवात नीलोत्पल निर्विशेषमधीर—
विप्रेक्षितमायताक्ष्या
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्य—
स्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः।
—कुमार० १।४६

विधाता ने उपमा मे आने वाली सारी वस्तुओ को यत्न से बटोर कर पार्वती जी के सब अगों पर यथास्थान सजा दिया है। क्योकि उनकी इच्छा हुई कि पृथ्वी की सारी सुन्दरता को एक साथ कैसे देखा जाय !

सर्वोपमा द्रव्य समुच्चयेन
यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थ
सौन्दर्य दिदृक्षयेव। —कुमार० १।४९

उक्त श्लोक में कवि और ब्रह्मा की कुछ सामान्य विशेषताएँ अनायास आ गई हैं। वे है :—

(१) सृजन की जन्मजात प्रतिभा।
(२) सौन्दर्य के साक्षात्कार की अभिलाषा।
(३) कलापक्ष के प्रति सतर्कता।

(४) यथाप्रदेशत्व या औचित्य का ज्ञान ।

(५) कृति को सर्वांग सु म ने का प्रयत्न ।

कालिदास के काव्य म य विशेषताये आसानी से देखी जा सकती है । उपमा-प्रयोग म कल्पना की नवीनता का दर्शन आगामी पृष्ठो मे देत हो जायगा, इसलिए अ ी कालिदास की उपमा पर कुछ न कह कर हम चि न्त। शकुन्तला पर कुछ विचार करना चाहते है ।

शाकुन्तलम् के षष्ठ अक मे चित्रफलक पर अकित शकुन्तला का चित्र चतुरिका द्वारा दुष्यन्त के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। इसके निपुण कलाकार स्वय महाराज दुष्यन्त ही है । चित्रगता शकुन्तला को लक्ष्य करके माधव्य, दुष्यन्त और सानुमती (अदृश्य रूप म उपस्थित एक अप्सरा) अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करते है । चित्रफलक के इस प्रसग मे कला सबधी कुछ गूढ सिद्धान्तो के सकेत हमे उपलब्ध होते है । यत्किंचित उद्धरण देते हुए, कालिदास की कला विषयक कुछ मान्यताओ का हम यहाँ उल्लेख करेगे ।

चित्र मे अकित व्यक्ति या वस्तु की प्रत्येक अगभगी मे मन के भाव ठीक उतर आये है, ऐसा बोध होना चाहिये । चित्र मे निम्नोच्च स्थान को दर्शाने के लिए छाया-प्रकाश का ऐसा मेल होना चाहिए कि सहृदय को ऊँचे या गहरे का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगे —

विदूषक—साहु व अस्स । महुरावत्थाणदंसणिज्जो
भावाणुप्पवेसो । खलदि विअ मे दिट्ठी
णिण्णुण्ण अप्पदेसेसु ।

(साधु वयस्य । मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः । स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नत प्रदेशेषु ।)

सानुमती—अम्मो एसा राएसिणो णिउणदा ।
जाणे सही अग्गदो मे वहदि त्ति ।

(अहो एषा राजर्षेर्निपुणता । जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति)

अर्थात्,

विदूषक—वाह, वयस्य ! वाह ! इसके अग-अग आपने ऐसे सुन्दर

बना दिए है कि इसके मन के भाव तक ठीक-ठीक उतर आए है। मेरी आँखे तो इस चित्र मे बने हुए ऊँचे-नीचे स्थलो मे जैसे ठोकरे खाती रह जाती है।

सानुमती—अरे राजर्षि तो बडे चतुर चित्रकार है। चित्र ऐसा जान पडता है मानो सखी शकुन्तला सामने ही खडी हो।

सानुमती को ऐसा प्रतीत होता है कि शकुन्तला उसके सामने ही खडी है। अर्थात् चित्र ऐसा हो कि वह यथार्थ, यथावत्, हूबहू प्रतीत हो। चित्र के प्रत्येक अवस्थान मे व्यक्ति का भाव अनुप्रवेश कर जाय। वह इतना यथार्थ दिखाई पडे कि द्रष्टा को यह बोध-सा होने लगे कि अमुक स्थान सचमुच ऊँचा है, और अमुक नीचा। विदूषक ने तो विनोद मे कहा 'स्खलतीव मे दृष्टि ' लेकिन कथन सर्वथा उचित है।

विदूषक की 'मोघ दृष्टि' सहसा शकुन्तला को पहचान नही पाती। सौन्दर्यानुभूति के लिए निश्चित रूप से अमोघ दृष्टि की आवश्यकता है। अमोघ दृष्टि सहृदय द्रष्टा की वह दृष्टि है जो कलागत सौन्दर्य को, अपनी कल्पना की सूक्ष्मता के कारण, सहसा पहचान ले और उसमे निमग्न हो जाय। कलाकार की दृष्टि भी अमोघ होती है, लेकिन अपनी कलाकृति से स्नेह होने के कारण उसे वह पूरी तरह पूर्ण नही प्रतीत होती। कलाकृति तो पूर्ण है, लेकिन, स्नेहवश उसे ऐसा लगता है कि कही कुछ और कमी रह गई है, उसे और सुन्दर होना चाहिये। पूर्णता का आदर्श बराबर कल्पनागत रहता है, इसलिए उसका महत्व है, यदि वह पूरी तरह प्रत्यक्ष हो जाय, तो, पूर्ण को पा लेने के बाद व्यथा की कथा भी पूर्ण हो जाती है। राजा उस चित्र को देख कर कहते है :—

> यद्यत् साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
> तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम्॥
>
> —शाकु० ६।१४

अर्थात्, यद्यपि मैंने इस चित्र के सब दोष ठीक कर दिए है, फिर भी इन रेखाओ मे देवी की सुन्दरता बहुत थोडी-सी ही खिंच पाई है। राजा के इस कथन पर सानुमती ठीक ही कहती है कि पश्चाताप और स्नेह से अवलिप्त प्रेमी को ऐसा कहना ही चाहिए। एक बात और। जिस प्रकार माता की दृष्टि में उसकी सन्तान पूर्ण स्वस्थ कभी नही होती उसी प्रकार कलाकार की दृष्टि में

उसकी कृति सर्वांग सुन्दर कभी नही जँचती। माता और कलावत दोनो की दृष्टि दूधो नहाती है। अपनी सन्तान को देख कर दोनो विभोर हो जाते है। दोनो उसे सदा सुन्दरतर देखना चाहते है। सुनते है कि लक्ष्मी जी ने अपने वाहन को एक सोने का हार दिया और कहा कि जो व्यक्ति सब से सुन्दर हो उसी के गले मे उसे पहना आवे। लक्ष्मीजी को यह देख कर बडी प्रसन्नता हुई कि उनके वाहन महोदय ने वह हार अपने ही बच्चे को पहना दिया है। वात्सल्य स्नेह के कारण सब से सुन्दर उसका बच्चा ही दिखाई पडा। चित्र सर्वथा निर्दोष है, फिर भी शकुन्तला का लावण्य थोडा-सा ही निखर सका है। कलाकार की स्नेह दृष्टि अपनी कृति को सुन्दर से सुन्दरतर देखना चाहती है।

चित्राकित व्यक्ति तत्क्षण सहृदय का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करे, इसके लिए आवश्यक है कि उस चित्र का चतुर्दिक वातावरण, उसके अनुभाव, भावमुद्राएँ आदि प्राणवन्त रूप मे उपस्थित किए जायँ। पात्र मुखाकृति से पहचाना जाता है, लेकिन भगी से उसका भावन किया जाता है। भाव-भगिमा, अनुभाव, और अपने उचित परिवेश से हीन पात्र कोई प्रभाव उत्पन्न नही कर सकता। शकुन्तला के सच्चे रूप को अकित करने के लिए उसके मुख पर स्वेदविन्दु का लेखन किया गया है। उसका केश बन्धन शिथिल है, उसके केशान्त से उद्भिन्न कुसुम गिर रहे है, वह ईषत् परिश्रान्त है। उसके कधे कुछ झुके हुए है। उसके सामने जल से अभिषिक्त आम्रवृक्ष के स्निग्ध तरुण पल्लव चमक रहे है। दुष्यन्त की कला निपुणता के कारण विदूषक की मोघ-दृष्टि एकाएक अमोघ हो जाती है। कला हमारे अन्तर्नयन के आवरण को हटा कर सौन्दर्य का उद्घाटन करती है।

सन्तान मे जैसे माता के स्वभाव की छाप रहती है, उसी प्रकार कृति मे कलाकार के व्यक्तित्व का स्पर्श रहता है। दुष्यन्त की विरह विधुर मलिन अँगुलियो का चिह्न चित्रफलक के एक भाग पर पड़ जाता है। राजा का अश्रु-विन्दु छलक कर चित्रगत शकुन्तला के कपोल पर चू पडा है। इससे उसके कपोल कुछ धूमिल हो गये है। दुष्यन्त ने इसे 'भाव चिह्नम्' कहा है। इससे यह प्रतीत होता है कि सर्जना करते समय चित्रकार कितना तल्लीन हो गया था। कलावंत को पता नही कि अनजाने उसकी आँखो से कब मोती ढुलक पडे! सर्जना के क्षणो मे एक क्षण ऐसा भी आता है, जब स्रष्टा अपनी सृष्टि के साथ तदाकार हो कर भाव विभोर हो जाता है। वह उन्मत्त की भाँति अपनी सारी सुध बुध

खो कर आचरण करता है। जीवन का क्षार सागर रसानुभूति के क्षणो मे क्षीर सागर बन जाता है। शेष सृष्टि पर शयन करता हुआ वह अच्युत कलावत आनद की स्मिति बिखेरता है। यहाँ दुष्यन्त का अश्रुविन्दु आनन्द-विन्दु है। 'भावचिह्नम्' की अर्थ-परिधि को कुछ बढा दिया जाय तो इसमे कवि के व्यक्तित्व का समावेश हो सकता है। कवि की वैयक्तिक अनुभूति की छाप उसकी कला पर, शब्दचित्र पर अवश्य दिखायी पडती है, लेकिन वह सहसा नही दीखती, चित्त रमाइए तो दिखाई देगी। कलाकार की वैयक्तिकता कला की समष्टिगत भावना मे इस तरह घुलमिल जाती है, कि वह अलग दिखाई नही पडती, वह अपने व्यक्तित्व को निर्वैयक्तिक बना देता है। इलियट ने इसे डिपर्सनलाइजेशन कहा है, और कहा है कि जिस कलाकार के पास व्यक्तित्व है, वही उसका निर्वैय-क्तीकरण भी कर सकता है। कलाकार दुष्यन्त का उच्छ्वास शकुन्तला के प्राणो मे आ बसा है। कलाकार का भाव चिह्नम् कृति के सुन्दरम् मे अगीभूत हो जाता है —

स्विन्नाङ्गुलि विनिवेशो रेखा प्रान्तेषु दृश्यते मलिनः।
अश्रु च कपोल पतितं दृश्वामिदं वर्तिकोच्छ्वासात्।
—वही ६।१५

स्रष्टा को अपनी सृष्टि से इतना स्नेह हो जाता है कि वह अह का विसर्जन कर अपनी कलासृष्टि को जी भर प्यार करता है। कला अपने साधक को बिन माँगे विनम्रता का वरदान देती है। इसका उपासक चक्रवर्तित्व का अभिमान भूल कर एक दासी की तरह अपनी रचना की सुश्रूषा करता है। चतुरिका जब माधव्य को वह चित्रफलक पकडाती है, तो राजा स्वय उसे हटा कर अपने हाथो उसे आदर के साथ ले लेते है। उनके इस कथन मे—अहमेवैतदव-लम्बे—कलाकार की स्वभावगत विनम्रता और स्नेह की अभिव्यक्ति होती है।

राजा ने पश्चाताप के क्रम मे उस चित्र को देख कर एक स्थल पर कहा है कि मैंने अपने पास आई हुई साक्षात् शकुन्तला का तो निरादर किया और अब इस चित्र पर इतना प्रेम दिखाने चला हूँ। यह तो ऐसा ही है कि जैसे कोई भरी हुई नदी को छोड़ कर मृग तृष्णा की ओर लपके। साक्षात् प्रिया को छोड़ कर चित्रार्पिता के प्रति प्रेम बुद्धिमानी नही। विदूषक भी कहता है कि—'नदी-मतिक्रम्य मृगतृष्णिका सक्रान्तः'—प्रत्यक्ष नदी को छोड कर कल्पित मृग तृष्णा

के पीछे दौड़ेगा। [कॉडवेल ने यथार्थ जगत् को रीयलिटी और कला जगत् को इल्युजन कहा है।] लेकिन राजा दुष्यन्त का तत्काल यथार्थ नहीं बल्कि चित्रार्पिता शकुन्तला से पहचानता मिल रही है। कलाकार ने दुष्यत के प्राण बचा लिए, नही तो, उनका हृदय विगत स्मृति मे ... हो जाता। निम्नलिखित श्लोक का अभिव्यंग्यार्थ यदि छोड़ दिया जाय तो ... से यही ध्वनित होगा कि राजा को कला की मृगतृष्णा से प्राण-पियूष की प्राप्ति हो रही है —

> साक्षात् प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं
> चित्रार्पितां पुनरिमां बहुमन्यमानः ।
> स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य
> जातः सखे प्रणयवान्मृगतृष्णिकायाम् ॥ वही ६।१६

लेखनीय वस्तु को प्राणवान बनाने के पहले उसके परिपार्श्व को जीवत करना होगा। अँगूठी का सोनापन कसौटी से चमकता है, शकुन्तला का शकुन्तलापन आश्रम से निखरता है। नगर के राजभवन मे शकुन्तला पहचानी नही जाती, लेकिन उपवन के मृगछौने के बीच वह भुलाए नही भूलती। पर्वत की उपत्यका, कृष्णसार मृग, वल्कल वस्त्र, लतावनस्पति, मालिनी नदी, हस मिथुन आदि के सम्पर्क मे ही शकुन्तला शकुन्तला बनी रहती है। जैसे बाँसुरी और मोरपख के बिना कृष्ण कभी पहचाने नही जाते, उसी प्रकार आश्रम और मृग के बिना शकुन्तला पहचानी नही जा सकती। कोई भी वस्तु अपने अभिन्न साहचर्य और प्रकृत परिपार्श्व के बिना सफलता के साथ अकित नही हो सकती। कलाकार दुष्यत परिपार्श्व को जीवन्त बनाने के लिए कुछ और वस्तुएँ अकित करना चाहते है —

> कार्या सैकतलीन हंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
> पादास्तामभितो निषण्ण हरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
> शाखा लम्बित वल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
> शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥
>
> —वही ६।१७

राजा—'सुनो ! अभी मालिनी नदी बनानी है, जिसकी रेत मे हस के जोडे बैठे हों। उसके दोनो ओर हिमालय की वह तलहटी दिखानी है जहाँ हरिण बैठे

हुए हों। मैं एक ऐसा पेड भी खींचना चाहता हूँ, जिस पर वल्कल के वस्त्र टँगे हुए हों और जिसके नीचे एक हरिणी अपनी बाइं आँख काले हरिण की सींग से रगड़ कर खुजला रही हो।' उपर्युक्त चित्र मे शान्त की स्निग्ध छाया मे शृंगार सुख से लेटा हुआ है। हिमालय—(गौरी शंकर शिखर) प्रेम की पावनता का प्रतीक है। हंस मिथुन सैकत मे लीन हो रहे हैं। मालिनी का सोता बहता जा रहा है, न जाने किससे मिलने। हरिण पद पसार कर बैठे हुए है। वृक्ष के ऊपर तो वल्कल वस्त्र है, लेकिन, नीचे मृगी अपना वाम नयन खुजला रही है कृष्ण मृग की सींग से। मृगी की बायी आँख ही क्या फडक रही है? मालिनी के तट पर राजा के मन का शृंगार हंस मिथुन और मृगी के मिस खेल रहा है। वातावरण के द्वारा सौम्य प्रणय का कितना प्रमन चित्रण है!

राजा चित्रगता शकुन्तला को दो-एक आभूषण भी पहनाना चाहते है। उसके कोमल कलेवर पर अलकार ही क्या चाहिए! मृणालिनी को सजाने के लिए मृणाल सूत्र के सिवा और क्या चाहिए! दूध और चाँदनी मे नहायी नायिका को कमल के धागे की माला पिन्हाओ। उसके कान पर हौले-हौले सिरस का फूल रख दो, उसके कोमल कपोल पर सिरस के केसर झरने दो। उसके उरोजो के अन्तर मे शरद् की चाँदनी-सा कोमल मृणाल सूत्र पिन्हा दो :—

कृतं न कर्णार्पित बन्धनं सखे
शिरीषमागण्डविलम्बि केसरम।
न वा शरच्चन्द्रमरीचि कोमलं
मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे॥ —वही ६।१८

अलकार की मर्यादा के अनुकूल ही अलंकार का नियोजन होना चाहिए। अप्रस्तुत योजना प्रस्तुत के रूप को मधुरतर बनाने के लिए आती है। कलाकार लेखन की बारीकी मे जरूर उतरे, लेकिन अलकरण देही मे मिल कर एक प्राण हो जाय। रूप को वह उभारे जरूर, लेकिन खुद उभरे कभी न। चाँदनी के गले मे चाँदनी की माला विराजे! सिरस के कपोल पर सिरस के केसर झरे!

एक मुख पर कई भावमुद्राओ को बाँधने वाला चित्र सफल हो सकता है, लेकिन श्लिष्टता के कारण वह दुरूह भी दीखता है। यदि मुख्यत: एक ही भावमुद्रा अकित की जाय तो वह चित्र अधिक प्रभविष्णु होगा। कालिदास के

शब्दचित्र प्राय एक भावभगी को अकित करने मे अधिक सफल हुए है। शकुन्तला की भयमुद्रा को विदूषक दो-चार शब्दो मे किस सुन्दरता से प्रकट करता है :—

भो किणु तत्तहोदी रत्तकुवलअपल्लव सोहिणा
अग्गहत्थेण मुहं ओवारिअ चइदचइदा विअ ट्ठिआ।

[भोः किन्नुतत्र भवती रक्तकुवलयपल्लवशोभिनाऽग्रहस्तेन मुखमपवार्य
चकितचकितेव स्थिता।]

अर्थात्, 'क्यो मित्र ! ये देवी अपनी कमल की पखडी के समान कोमल और लाल हथेलियो से अपना मुँह ढके बहुत डरी हुई-सी खडी क्यो दिखाई दे रही है।'

कला-सौन्दर्य का प्रेमी क्रूर कदापि नही, वह कोमल हो जाता है। विरहानुभूति से प्रेमिक और सौन्दर्यानुभूति से रसिक कोमलमना हो जाते है। प्रणय और सौन्दर्य मानव को फूलो के देश का वासी बनाता है। विष का फण बाँसुरी से मन्त्रमुग्ध हो कर अमृत मे डूबने लगता है। कला के कर स्पर्श से कालियदह अमृतसर हो जाता है। चित्रगता शकुन्तला को कष्ट पहुँचाने वाले भौरे के प्रति दुष्यत का क्रोध स्नेह मे परिणत हो जाता है। भौरे से बात करते समय वह मोम बन जाते है :—

अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे ! किमत् परिपतन ।
खेदमनुभवसि।......

'ओ रे फूलो लताओ के प्यारे अतिथि, इस मुँह पर मँडराने का कष्ट क्यो करता है ? तेरे प्रेम की प्यासी भौंरी तेरी ओर आँख लगाए फूल पर बैठी हुई है और तेरे बिना मकरन्द नही पी रही है।'

जब भौरा इस पर भी कहना नही मानता है तो राजा उसके लिए दण्ड का विधान करते हैं —

अक्लिष्ट बालतरुपल्लव लोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद् भ्रमर प्रियाया—
त्वां कारयामि कमलोदर बन्धनस्थम्—वही ६।२०

'मेरी प्यारी के जो ओठ अछूते नन्हे पौधे की कोमल कोपलो के समान लाल है और जिन्हे मैने रति के समय भी बचा-बचा कर पिया था उन्हे यदि तूने छुआ तो तुझे कमल के कोश मे डाल कर बन्दी करा दूँगा ।'

प्रणय और सौन्दर्य मे पगा हुआ व्यक्ति कभी कठोर नही हो सकता, कालिदास की यह मान्यता कितनी मनोरम है ? इसकी पुष्टि के लिए दो उदाहरण और दिये जाते है —

न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो
धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु ।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः
कृतइव मुग्धविलोकितोप देशः ॥

—वही २।३

अर्थात्, 'जिन हरिणो ने शकुन्तला के साथ रह कर उसे भोली चितवन सिखायी है, उन्हे मारने के लिए यह वाण चढाया हुआ धनुष मुझसे खीचते ही नही बनता ।'

हरिण की आँखो मे अपनी प्रेयसी का सौन्दर्य देख कर दुष्यत प्रेमाभिभूत हो जाते हैं । चढाया हुआ वाण नीचे गिर पडता है । हिंसावृत्ति पर सौन्दर्य की कितनी सुन्दर विजय है । राजा दशरथ मयूर पर वाण नहीं चलाते । क्यो :—

अपि तुरग समीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिर कलापं बाण लक्ष्यी चकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रति बिगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥

—रघु० ९।६७

अर्थात्, 'कभी-कभी उनके पास से सुन्दर चमकीली पूछो वाले मोर भी उड़ जाते थे । पर ये उन पर वाण नही चलाते थे । क्योकि उन्हें देख कर दशरथ जी को रंग-बिरगी मालाओ से गुँथे हुए और संभोग के कारण खुले हुए अपनी प्रिया के केशो का स्मरण हो आता था ।' सौन्दर्य और प्रणय एक-दूसरे को किस बारीकी से यहाँ जगा रहे हैं । इन दो विन्दुओं के मिलन से जीव मात्र के प्रति करुणा

और मैत्री की उत्पत्ति हो सकती है। सुन्दरता कठोर को कोमल बना देती है, हिंसा को दया में परिवर्तित करती है।

रसानुभूति के क्षणों में रसिक अपनी सुध-बुध खो कर उन्मत्त हो जाता है। कला की अंगुली जिसे छूती है, उसे पागल बनाती है। कला का भावोन्माद एक संक्रामक रोग है। कवि की अनुभूति जितने श्रोताओं को छूती है और वे फिर जिन-जिन को छूते है, सब के सब पागल होते जाते है। यह रोग युगो और देशो को पार करता हुआ प्रसार पाता आ रहा है। दुष्यत चित्रगत भौंरे को दड देने के लिए तैयार है, इसमे एक भावुकता है, यथार्थता नही। बनियों की दुनिया इसे पागलपन कह कर हँसगी। विदूषक भी कुछ क्षणों के लिए उस भौंरे को यथार्थ समझ कर क्रोध कर रहा है। सानुमती भी उस चित्र को साक्षात् शकुन्तला समझ कर सुध-बुध खो बैठी है। विदूषक कहता है कि राजा तो उन्मत्त हो ही गये है, इनके सग मै भी वैसा ही हो रहा हूँ —

एसो दाव उम्मतो। अहं पि एदस्स सगेण ईदिस वण्णो विग्र संवुत्तो।

[एष तावदुन्मत्तः। अहमप्येतस्य सङ्गेनेदृश वर्ण इव संवृत्तः।]

कहने का आशय यह है कि उस चित्र के सम्पर्क मे आने वाला प्रत्येक सहृदय उन्मत्त हो रहा है। उन्मत्तता सक्रामक हो गई है। दुष्यन्त के ही नही, कालिदास के भी सग मे रहने वाला व्यक्ति सौन्दर्य-सुरा का पान कर उन्मत्त हो जायगा। काव्य-सौन्दर्य सक्रामक होता है।

रसानुभूति के समय हमारा प्राण कुछ क्षणो के लिए समाधि की भूमिका में पहुँच जाता है। ध्यान की इस निष्कम्प शिखा मे हमे रसेश्वरी के दर्शन होते है। इस समाधि में चित्त का चाँचल्य दूर हो जाता है, इन्द्रियाँ एकाग्र हो जाती है, ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनो एकलय हो जाते है। रसानुभूति मे आश्रय और आलम्बन का अन्तर बोध नही होता। कुछ क्षणो तक हमें ब्रह्मानन्द सहोदर का अनुभव होता है। लेकिन यह स्थिति क्षण-स्थायी होती है, और हम इन्द्रधनुष के लोक से हठात् 'जिन्दगी के कॉटो पर गिर पड़ते है।' ससार का यथार्थ बोध हमारे रसानन्द को भंग कर पहुँचाता है। उर्वशी के अधरो से बिछुड कर हम कबध की बाहों मे पड़ जाते है। कला का आनन्द मन की तन्मयता का, ध्यान-योग का आनन्द है। इसका लक्षण है आत्म-विस्मृति। यथार्थ जगत् के दैन्य को, अह के

क्लेश को भूल कर हम क्षण भर मधुमती भूमिका मे प्रवेश करते है, बाद मे फिर वही दैन्य, फिर वही हाहाकार।

राजा दुष्यन्त चित्रार्पिता शकुन्तला के साथ तल्लीन है। वे तन्मय हृदय से अपनी प्रेयसी का साक्षात् दर्शन-सुख प्राप्त कर रहे है। लेकिन विदूषक बीच मे ही बोल उठता है, 'भो चित्त क्खु एद'—(भो चित्र खलु एतत्); हे मित्र, यह कोरा चित्र है। भावस्थ राजा घबडा कर कहते है, 'कथ चित्रम्।' अरे, तो क्या यह सचमुच चित्र है? हे मित्र, तुमने यह क्या दुष्कर्म कर डाला। मैं तन्मय हृदय से साक्षात् शकुन्तला के दर्शन का आनन्द ले रहा था। पर तुमने स्मरण दिला कर मेरी प्यारी को फिर चित्र ही बना डाला।

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता॥
—वही ६।२१

कल्पना की कान्ता यथार्थ की स्मृति से चित्रीकृता हो जाती है। यथार्थ की धूप कल्पना की कौमुदी को नष्ट कर देती है। आनद के लिए हृदय की तन्मयता अनिवार्य है।

शकुन्तला के चित्रफलक प्रसग पर पटाक्षेप महारानी वसुमती के प्रवेश से होता है। राजा अपनी रानी के भय से चित्र छिपा देते है। वसुमती के आते ही कला का आनन्द तिरोहित हो जाता है। यानी, बुद्धिमती दुनिया का नाम सुनते ही कला की अमरावती ओझल हो जाती है। शकुन्तला के प्रेम ने राजा को वसुमती से विमुख कर दिया है। ससार के प्रति 'अति शिथिल सौहार्द' वाला व्यक्ति ही कला लोक में अति प्रगाढ सौहार्द प्राप्त करता है।

इस प्रकार, अभिज्ञान शाकुन्तलम् का चित्रफलक प्रसग सौन्दर्य शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कालिदास की कलाविषयक मान्यताओं को समझने मे यह अंश अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा, इसमे कोई सन्देह नही।[1]

---

[1]**विशेष के लिए देखिये लेखक का :—**
'कालिदास के सौन्दर्य सिद्धान्त और मेघदूत'

सौन्दर्यानुभूति मे रुचि का क्या स्थान है, इस पर रघुवंश का यह प्रसिद्ध श्लोक है —

अथाङ्ग राजादवतार्य चक्षुर्याहीति—
जन्यामवदत्कुमारी।
नासौ न काम्यौ न च वेद सम्यग्
द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः।
—रघु० ६।३०

इन्दुमती ने अगदेश के राजा से आखे हटा कर सुनन्दा से कहा, आगे बढो। यह बात नही थी कि राजा सुन्दर नही था, और न यही बात थी कि इन्दुमती उसके सौन्दर्य को नही परख सकी। यह तो अपनी-अपनी रुचि है, किसी को कोई अच्छा लगता है, किसी को कोई।

इन्दुमती के उदासीन व्यापार पर कालिदास की यह एक स्वतन्त्र टिप्पणी है। इससे यह ध्वनित होता है कि सौन्दर्यानुभूति का कारण सर्वदा वस्तु या व्यक्ति नही हुआ करता, वह अनुभव करने वाले पात्र पर, द्रष्टा या भोक्ता की चित्त दशा की अनुकूलता पर निर्भर करता है। उस राजा का तन सुन्दर है, इन्दुमती का मन सुन्दर है, फिर भी मन को तन न जंचा। इसका एकमात्र कारण है रुचि की भिन्नता। व्यक्ति अपनी रुचि के अनुकूल किसी वस्तु को सुन्दर मानता है। तब तो सुन्दरता 'ऊधो, मन माने की बात' हो गयी। अगदेश का राजा सुन्दर है, इन्दुमती की परख सुन्दर है, लेकिन उसके मन को वह नही रुचा। प्रश्न उठता है, यदि वस्तु मे सौन्दर्य है, तो हर द्रष्टा को वह सुन्दर लगेगी। यदि द्रष्टा के मन मे सौन्दर्य है तो उसे कुरूप वस्तु भी सुन्दर लग सकती है। तो सौन्दर्य आत्मनिष्ठ है या वस्तुनिष्ठ ? कालिदास की एक मान्यता यह भी ऊपर दिखाई गई है, कि सुन्दर वस्तु सभी अवस्थाओ मे सुन्दर रहती है। तो क्या, कालिदास की सौन्दर्य सबधी मान्यताओ मे परस्पर विरोध है ? उत्तर मे निवेदन है कि कालिदास सौन्दर्य को न एकमात्र वस्तुनिष्ठ मानते है, न एकमात्र आत्मनिष्ठ। आलम्बन और आश्रय के अनुकूल सयोग से सौन्दर्य की निष्पत्ति होती है। भोक्ता के हृदय का स्थायी भाव रस रूप में अभिव्यक्त होता है। भोक्ता के स्थायी भाव के निर्माण मे रुचि का भी प्रमुख हाथ रहता है।

मनुष्य, पशु, पक्षी, तितली, फूल, पौधे इन सबो का अपना-अपना स्वभाव होता है। इस स्वभाव की सही पकड जिसे आ गई, समझ लीजिये कि वह पहले से ही कवि है। साधारण वस्तु को वह असाधारण दृष्टि से परखता है। न जाने कौन सी माया है, कि, मामूली चीजो की खूबसूरती से हमारी निगाहे हमेशा फिसलती ही रहती है। उन पर वे कभी टिक नही पाती। यदि टिक पाये, तो क्या नही पा जायँ! सफल कवि जीव-जन्तु, पेड-पौधे, पत्थर-रोडे सबो के भीतरी स्वभाव मे अनायास पैठ जाते हैं और उनके दिल की बाते सामने लाते है। हमारी आँखे सब कुछ देख कर भी कुछ नही देख पाती, और उनकी कुछ न देख कर भी सब कुछ देख जाती है। कालिदास ने अपने काव्य मे विशाल ऐरावत से ले कर कीट पतग तक, कल्पतरु से ले कर दूर्वादल तक, देवाधिदेव से ले कर अधमाधम प्राणी तक के स्वभाव का, दो-एक शब्दो मे ही सही, कही न कही, सटीक चित्रण किया है। सिद्धहस्त चित्रकार दो-एक आडी-तिरछी रेखाएँ खीच कर सुन्दरी के उलझते हुए केश, चौकडी भरते हुए हरिण, और फन काढते हुए साँप को पकड लेता है। अनाडी रगरेज नाँद का नाँद रग खर्च करने पर भी रग नही जमा पाता। आँखे बन्द कर देखता हूँ तो मेरे सामने कालिदास के अनेक रेखाचित्र प्रकट होने लगते है। किसी के स्वभाव की बारीकी को उपयुक्त शब्दावली द्वारा सीधे-सादे ढग से प्रकट करना, कालिदास के सौन्दर्य चित्रण का एक अद्भुत गुण है। 'उपमा कालिदासस्य' तो प्रसिद्ध है ही, लेकिन, कही-कही बिना उपमा के वे और अनुपमेय हो जाते हैं। अलकार के बिना चित्रण कितना सुन्दर हो सकता है, यह आप नीचे उद्धरणो में देखेंगे। हम यहाँ मृग, शूकर और गधहस्ती इन तीन के प्रकृत रेखाचित्र उद्धृत कर रहे है —

मृग का चित्र :—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्ध दृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥

—शाकुं० १।७

अर्थात्, कृष्ण मृग के पीछे दौड़ने वाले साक्षात् पिनाकी की तरह राजा दुष्यन्त

की यह उक्ति है। हरिण बाण के भय से अपने पिछले आधे शरीर को आगे के भाग से मिलाता हुआ कैसा दौड रहा है ! वह बार-बार पीछे मुड कर रथ को एकटक देखता है। उसके खुले हुए मुँह से आधी चबाई हुई कुशा मार्ग मे गिरती जा रही है। वह थका हुआ है। वह ऐसी लम्बी छलागे मार रहा है कि धरती पर उसके पॉव पडते नही नजर आते। लगता है कि वह आकाश मे उडा जा रहा है। बाण के भय से भागते हुए मृग का कैसा सुन्दर चित्रण है !

शूकर का चित्र :—

सभद्रमुस्तं परिशुष्ककर्दमं
सरः खनन्नायतपोत्र मण्डलैः ।
रवेर्मयूखैरभितापितो भृशं
वराह यूथो विशतीव भूतलम् ॥
—ऋतु सं०—१।१७

अर्थात्, ग्रीष्म की जलती हुई धूप से एकदम झुलसा हुआ यह जगली सूअरो का झुंड अपने लम्बे-लम्बे थुथनो से नागरमोथे से भरे हुए बिना कीचड वाले गढे को खोदता हुआ ऐसा लगता है मानो धरती मे घुसा जा रहा है। 'विशतीव भूतलम्' मे गढे के खोदने की कैसी व्यग्रता है।

राजकुमार अज को विदर्भयात्रा के मार्ग मे एक जगली हाथी मिलता है। कालिदास ने उसकी अल्हड मस्ती और भयकर रूप का वर्णन सात-आठ श्लोको मे किया है। यहाँ केवल एक श्लोक उद्धृत किया जाता है :—

निःशेष विक्षालित धातुनापि—
वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु ।
नीलोर्ध्व रेखा शबलेन शसन्
दन्तद्वयेनाश्म विकुण्ठितेन ॥
—रघु० ५।४४

यद्यपि नहाने से उस जंगली हाथी के दाँतो मे लगी गेरू की लाली तो छूट गई थी, फिर भी, पत्थर की रगड से उसके दाँतो पर जो नीली-नीली रेखाएँ बन गई थी, उनसे जान पडता था कि उसने ऋक्षवान् पर्वत की शिलाओ मे टक्करें मारी है। कवि ने आगे दिखाया है कि यह हाथी किस प्रकार सेवॉर को अपने

साथ खीचता हुआ, पानी मे हलकोरे उठाता हुआ, मदभरे कपोलो पर मधु-मक्खियो को साथ लेता हुआ प्रकट होता है। उसके मद की कसैली गध लगते ही अज के हाथी भडक जाते है, घोडे रस्से तुड़ा कर भागते है। हाथी के उजले दाँत पर चट्टान की लगी नीली खरोच का कैसा स्पष्ट अकन हुआ है! वह गजहस्ती अपनी मस्ती, डील-डौल और पूरे अल्हडपन के साथ आँखो के सामने दिखाई पडता है। कालिदास ने जो कुछ लिखा है उसे पहले अपने मन की आँखो से देखा है। अपने चित्रो मे वे दो-एक ऐसे चिह्न छोड जाते है, जिससे प्रतीत होता है कि उन्होने जी भर निहार कर उनका चित्रण किया है। वे मृग के खुले हुए मुख से आधी चबाई हुई कुश को गिरते दिखाते है, नागरमोथे वाले सूखे गढे मे सूअर की घुसते दिखाते है और उजले हाथी-दाँत पर चट्टान की नीली खरोच दिखा देते है! चित्र को विश्वसनीय और जीवन्त बनाने के लिए वे कुछ ऐसे प्रमाण रख देते है कि फिर सन्देह की कही गुँजाइश नही रह जाती।

माता, पिता, प्रिया, सखी, शिशु आदि के स्वभाव की अचूक पहचान के प्रमाण भी इनके काव्य मे कम नही पाये जाते। शेक्सपियर ने मानव स्वभाव के स्वर्गीय वातायन से तो झाँका ही है, उन्होने शैतान की आँत मे भी पैठ कर उसकी बोटी-बोटी पहचान ली है। भोली सज्जनता और परले सिरे की धूर्त्तता उनके काव्य मे दोनो वर्तमान है। लेकिन कालिदास ने अपनी गोद मे मृगछौने को ही दुलराया; चीते और लोमडी को तो बस दुरदुरा दिया है। उनकी कल्पना फूलो का मधु पी कर पली है। उन्हे गुजन का अधिक लेकिन दशन का कम अनुभव है। शेक्सपियर की कल्पना ने जी भर घी पीया है, मन भर शहद चाटा है, और शहद-घी मे पली विषकन्या को प्यार भी किया है। कालिदास शिरीष सौन्दर्य के सुकुमार कवि है, शेक्सपियर काँटो भरे गुलाब के चतुर चित्रकार। विस्तार भय से प्रिया, सखी, कन्या, शिशु आदि के स्वभाव का उल्लेख न कर के हम यहाँ केवल आश्रमवासी पिता के स्नेहसिक्त हृदय का एक चित्र प्रस्तुत करते है :—

> यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
> कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्ति कलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
> वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
> पीड्यन्ते गृहिणः कथंनु तनयाविश्लेष दुःखैर्नवैः॥
>
> —शाकुं० ४।६

अर्थात्, 'आज शकुन्तला चली जायगी, यह सोचते ही जी बैठा जा रहा है। आँसुओ को रोकने से गला इतना रुँध गया है कि मुँह से शब्द नही निकल रहे हैं और इसी चिन्ता मे मेरी आँखे भी धुँधली पड गई है। जब मुझ जैसे वन-वासी को इतनी व्यथा हो रही है तब उन बेचारे गृहस्थो को कितना कष्ट होता होगा जो पहले-पहल अपनी कन्या को विदा करते होगे।' अपनी कन्या की विदा की कल्पना मात्र से स्नेह विदग्ध हृदय का कैसा मार्मिक अकन हुआ है। आज शकुन्तला जायगी—जब इतना सोचते ही कण्व का कण्ठ बाष्प गद्गद् हो रहा है, तो उसके जाते समय वे अपने को कैसे सम्हाल सकेगे। विदाई की कल्पना मात्र से उनका गला रुँध रहा है, आँखे धुँधली हो रही है, तो वे उसे विदा कैसे करेगे। वे वनवासी है, वीतराग है, यह कन्या उनकी पालिता है फिर भी जब उन्हे इतनी विकलता हो रही है तो फिर स्नेहशील गृहस्थ को अपनी कन्या को विदा करते समय कितनी वेदना होती होगी। पहली कन्या की विदाई के समय वह मोहमाया मे लिपटा हुआ गृहस्थ अपने हृदय के नये दुख को कैसे झेलता होगा। गृहस्थ के दुख की कल्पना करके कण्व और व्यथित हो गए होगे। वनवासी मुनि की वेदना का कितना सयमित, मर्यादित, और मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। कण्व की वेदना मे आँसुओ का कोलाहल नही, वेदना का प्रदर्शन नही, भाव का उद्वेलन भी नही, लेकिन है वहाँ अन्तरहृदय का एक नीरव रुदन। कण्व की वेदना मधुमौन हो गई है। ऐसा साकेतिक चित्रण हमारी कल्पना को कुछ और सोचने के लिए विवश करता है। शब्दो की मितव्ययिता मे गूढ वेदना का ऐसा मर्यादित चित्रण काव्य मे कभी-कभी उतरता है।

कालिदास प्रकृति-सौन्दर्य के भी अनुपम चितेरे है। इनके काव्य का शायद ही कोई पृष्ठ प्रकृति-सौन्दर्य से अछूता हो। इनके कण-कण मे प्रकृति की कोमल माधुरी मिली हुई है। उपमाओ के प्रयोग मे तो प्रकृति रह रह कर अपनी मधुर झाँकी दिखा जाती है। शकुन्तला और शाकुन्तलम् के कवि दोनो को प्रकृति से हटा लीजिए तो वे पहचाने न जायेगे। लता-वनस्पति, ताल-पोखरे, वन-पर्वत, नदी-समुद्र, सध्या-उषा, पशु-पक्षी आदि से उन्होने अपना अगाध प्रेम प्रदर्शित किया है। शकुन्तला आश्रम की लताओ को मात्र पिता के आदेश से नही सींचती, बल्कि, उनसे उसका सहोदर भाई-बहन जैसा सबध है; 'न केवल तात नियोग एव। अस्ति मे सोदर स्नेहोऽप्येतेषु।' उसी प्रकार कालिदास

कवि-धर्म के अनुशासन से प्रकृति का वर्णन नही करते, बल्कि, उससे उनका 'सोदर स्नेह' है। कालिदास को न अपने स्थान की प्रकृति से, न अपने प्रान्त की प्रकृति से प्रेम है, बल्कि उनको भारत की प्रकृति से अनुराग है। या, यो कहे कि उनको प्रकृति मात्र से अनुराग है। वास्तव मे सच्चा प्रेमी केवल प्रेम का प्रेमी होता है, वह चाहे उसे जिस माध्यम से उपलब्ध हो। रघु के दिग्विजय के अवसर पर उनकी सेना ने, एक तरह से, भारतमाता की ही परिक्रमा की है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम भी रघु की सेना के एक सैनिक हो कर अपने प्यारे देश की पदयात्रा कर रहे है। भारत के अधिकाश प्रान्तो की सूचना कवि ने उन स्थानो पर विशेष रूप से उत्पन्न होने वाले वृक्षो के द्वारा दी है। पूर्व दिशा मे समुद्र देश तालवन की छाँह के कारण अजन के समान श्यामल दिखाई देता था। सुह्म देश के राजा ने रघु के सामने नदी की वेत्रलता के समान झुक कर अपने प्राण बचा लिए। रघु ने गगासागर के द्वीप के राजाओ को उखाड कर फिर एक दूसरी जगह उसी प्रकार बसा दिया, जैसे धान के छोटे पौधो को फिर से रोप दिया जाता है। वग मे उनके सैनिको ने नारिकेलासव का पान किया। कलिग नरेश ने हस्ति सेना से रघु का विफल सामना किया। रघु के वीर सैनिको ने महेन्द्र पर्वत पर ताम्बूल दल (पान के पत्ते) बिछा कर आपान भूमि बना डाली और नारिकेल के आसव के साथ वे अपने शत्रु का यश भी पी गए। कलिंग से दक्षिण चलने पर उनकी सेना को पूगीफल (सुपारी) के वृक्ष मिले। कावेरी का मथन करने के बाद उनकी सेना दक्षिण के चन्दन वन मे पहुँची, वहाँ काली मिर्च की झाडियो मे हरे-हरे सुग्गे इधर-उधर उड रहे थे—'मारीचोद्भ्रान्त हारीत'। वहाँ घोडे की टापो से लवग के फल मसल डाले गए। उनकी खुशबू चारो ओर फैल गई। उनके सैनिको ने सर्पो से वेष्टित चन्दन के वृक्षो मे हाथियो को बाँध दिया। पाण्ड्य देश के राजा ने ताम्रपर्णी और समुद्र के सगम से निकाले हुए मोतियो से राजा रघु का स्वागत किया। सह्याद्रि को पार कर रघु की सेना केरल देश में पहुँची। वहाँ की योषिताओ की अलको पर कस्तूरी का चूर्ण लगा था। मुरला नदी से बहने वाली वायु मे केवडे की सुगन्ध भरी हुई थी। राजा रघु के हाथी वहाँ खजूर की डालियो मे बँधे हुये हैं। भौरे नागकेसर के फूलो से उड-उड कर हाथी के मस्तक पर बैठ रहे है। फिर, उनकी सेना स्थल मार्ग के सहारे पारसीक देश पहुँची। रघु का आक्रमण सुन कर मदिरा से लाल गालो वाली यवनियो के मुखकमल मुरझा गए। कम्बोज (काबुल) मे अखरोट ('द्राक्षावलय भूमि') की डाले हाथियो के

बाँधने से झुक गई। वहाँ के राजा भी झुकी डालियो की तरह विनीत हो गए। राजा रघु घुडसवारो को ले कर हिमालय पर्वत पर चढ गए। घोडो की टाप से वहाँ के गेरुपर्वतो की धूल उडने लगी, लगता था कि हिमालय और ऊँचा उठ रहा है। हिमालय की गुफाओ मे बैठे हुए सिंह उनकी सेना को घूरने लगे। भोज-पत्रो मे मर्मर करती हुई, बाँसो के छेदो मे घुस कर बाँसुरी-सी बजती हुई गगा जी की फुहारो से शीतल वायु रघु की सेवा कर रही थी। उनके सैनिक नमेरू वृक्ष की छाया मे विश्राम करने लगे। देवदारु वृक्षो मे बँधे हाथियो की साँकले हिमालय की औषधियो के प्रकाश मे चमकती थी। हिमालय की उत्सव सकेत नामक पहाडी जाति से रघु का युद्ध हुआ। वहाँ के पहाडी लोग पत्थर चला-चला कर युद्ध करते थे। वे कैलास की ओर न जा कर प्राग् ज्योतिष (असम प्रात) की ओर चले आए। कैलास पर्वत मन-ही-मन बहुत लजा गया कि एक बार रावण ने उसे क्या उठा लिया, कि दुनिया ही उसे हल्का समझने लगी। राजा रघु ने कैलास को यो ही छोड दिया था। प्राग् ज्योतिष के कालागुरु वृक्ष हाथियो के बाँधने से काँपने लगे। कामरूप के नरेश ने उपहार मे हाथी भेज कर रघु का सम्मान किया। इस प्रकार रघु की सेना दिग्विजय कर के पुन अयोध्या लौट आई।

रघु और मेघ की यात्रा मे प्रकृति की माधुरी का सम्बल सदा साथ रहता है। प्रकृति के अनन्य प्रेम ने कवि को भारत की तीर्थ यात्रा करा दी है। प्रकृति के उन्मुक्त रूप और स्वच्छन्द व्यापार मे कालिदास के हृदय ने अपूर्व रमणीयता का अनुभव किया है।

ऋतुसहार की शैली से विदित होता है कि यह कवि के किशोर काल की रचना है। इसमे श्रृगार के बडे चटकीले चित्र मिलते है; लेकिन, बीच-बीच मे प्रकृति के स्वाभाविक सरल रूप का हृदयहारी चित्रण मिलता है। ऋतुसहार की प्रत्येक ऋतु का प्रारम्भ उत्कट कामोद्दीपन के साथ होता है। प्रत्येक ऋतु पहले श्रृगार के उद्दीपन के रूप मे चित्रित होती है। ऋतुओ का शुभागमन मदनोत्सव का मानो अभिन्न अग हो जाता है। ऋतुसहार की ऋतुओ को राज-प्रासादो, सम्पन्न सुकुमारियों और मधुशालाओ से अधिक प्रेम प्रतीत होता है। अभिजात वर्ग की उत्कट भोग लालसा को उभारने के लिए ही मानो वसत और हेमत आया करते है। भोगविलास में आकठमग्न अभिजात वर्ग की प्रकृति का यह रूप देखिए :—

ग्रीष्म :—

सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं
    प्रियामुखोच्छ्वास विकम्पितं मधु ।
सुतन्त्रिगीतं मदनस्य दीपनं
    शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः ॥
नितम्बबिम्बैः सुदुकूल मेखलैः
    स्तनैः सहाराभरणैः सचन्दनैः ।
शिरोरुहैः स्नानकषायवासितैः
    स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम् ॥

—ऋतु० १।३,४

हेमन्त :—

काचिद्विभूषयति दर्पणसक्त हस्ता
    बालातपेषु वनिता वदनारविन्दम् ।
दन्तच्छदं प्रियतमेन निपीतसारं
    दन्ताग्रभिन्न मवकृष्य निरीक्षते च ॥
अन्या प्रकामसुरतश्रम खिन्न देहा
    रात्रि प्रजागरविपाटलनेत्रपद्मा ।
स्रस्तांसदेश लुलिताकुलकेशपाशा
    निद्रां प्रयाति मृदुसूर्यकराभितप्ता ॥

—ऋतु० ४।१४,१५

अर्थात्, ग्रीष्म ऋतु मे प्रेमियो के मनोविनोदन के लिए कुछ वस्तुएँ आवश्यक हैं; जैसे, सुन्दर सुगंधित जल से धुला हुआ भवन का तल, प्यारी के मुखोच्छ्वास से विकम्पित मदिरा और सुन्दर वीणा के साथ गाए हुए गीत। इन वस्तुओं से प्रेमी जनो का कामोद्दीपन होता है। इन दिनो सब प्रेमिकाएँ अपने गर्मी से सताए हुए प्रेमियो की तपन मिटाने के लिए उन्हें अपने उन नितम्बो पर लिटाती है, जिन पर रेशमी वस्त्र और करधनी पडी होती है, अपने उन चन्दन पुते हुए ठंढे स्तनों से लिपटाती है जिन पर हार और दूसरे गहने पडे होते हैं और अपने उन जूड़ो की गन्ध से प्रमुदित करती हैं जो उन्होने स्नान के समय सुगंधित इत्रो में बसा लिए थे।

हेमन्त मे प्रेमियो का काम सुख और बढ जाता है। देखो ! एक स्त्री हाथ मे दर्पण लिये हुए प्रात काल की धूप मे बैठी अपने कमल जैसे मुँह का सिंगार कर रही है और अपने जिन ओठो का प्रियतम ने रस पी लिया है, और जिन पर दन्तक्षत बने हुए है, उन ओठो को खीच-खीच कर देख रही है। अत्यत सभोग से थक जाने के कारण एक दूसरी स्त्री की कमल जैसी आँखे रात भर जागने से लाल हो गई है, उसके कधे झूल गए है, उसके बाल इधर-उधर बिखर गए है और वह प्रात काल के सूर्य की कोमल किरणो मे धूप खाती हुई सो गई है।

प्रत्येक ऋतु के प्रारम्भ मे इसी प्रकार शृगार के उत्तेजक चित्र मिलते है। ऐसा चित्रण श्लील है या अश्लील—सो तो मै नही कह सकता, लेकिन कलात्मक है, स्वाभाविक है—इतना जरूर कहूंगा। ऐसे शृगार प्रेरक चित्रो के अतिरिक्त ऋतुसहार मे कुछ ऐसे भी स्थल है, जहाँ कवि ने प्रकृति के कुछ अन्य व्यापारो पर दृष्टिपात किया है। ग्रीष्म मे जहाँ प्रियामुखोच्छ्वास विकम्पित मधु का उल्लेख है, वहाँ भैस की प्यास की ओर भी कवि का ध्यान गया है —

सफेन लालावृतवक्त्र संपुटं
विनिःसृतालोहित जिह्वमुन्मुखम्।
तृषाकुलं निःसृतमद्रिगह्वरा—
दवेक्षमाणं महिषीकुलं जलम्।
—ऋतु० १।२१

अर्थात्, जुगाली करने से जिन भैसो के मुँह से फेन निकल रहा है, और लार बह रही है, वे अपना मुँह खोल कर, अपनी लाल-लाल जीभे बाहर निकाले हुए, प्यास के मारे ऊपर मुँह उठाए, पहाड की गुफा से निकल-निकल कर, जल की ओर लपकी चली जा रही है। प्यासी भैस की इतनी अच्छी तस्वीर यहाँ उतरी है कि लगता है कि अपने कैशोर मे कालिदास ने भी, मेरी तरह, किसी लोरिक के गीत गाते हुए, महिषीकुल-चारण-कला मे नैपुण्य प्राप्त किया था।

सुरतोत्सव की सखी के रूप मे प्रकृति का मनहर रूप तो हम देखते ही हैं, उसका सरल सहज नैसर्गिक भोला मुखडा भी हमे देखने को मिलता है। 'मालविकाग्निमित्र' मे ग्रीष्म के मध्याह्न की बढती हुई गर्मी का एक चित्र देखिए :—

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलित नयना दीर्घिका पद्मिनीनां
सौधान्यत्यर्थ तापाद्वलभि परिचय द्वेषि पारावतानि ।
बिन्दुक्षेपान्पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रं
सर्वैरुस्त्रैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः ॥

—माल० २।१२

अर्थात्, दोपहर हो गया है, क्योकि बावडी मे कमल की छाया मे हस आँख मूँद कर विश्राम कर रहे है, धूप से भवन ऐसा तप गया है, कि छज्जो पर कबूतर तक नही बैठ रहे है, चलते हुए रहट से उछलती हुई पानी की बूँदे पीने के लिए मोर उसके चारो ओर चक्कर काट रहे है। अभी सूर्य अपनी सारी किरणो के साथ चमक रहे है। यह उक्ति बैतालिक की है, वह राजा को मध्याह्न वेला की सूचना उक्त श्लोक के द्वारा दे रहा है। ग्रीष्म की तेज होती हुई धूप का वर्णन तीन पक्षियो को सामने ला कर किया गया है। हस, कपोत और मोर के ऊपर मध्याह्न का क्या प्रभाव पडा है, इसका सरल उल्लेख किया गया है। बावडी के कमल की छाँह मे हस आँख मूँद कर आराम कर रहे है, जल गर्म हो जाने के कारण उसने तैरना छोड दिया है। छत तप जाने के कारण कपोत नीचे उतर रहे है क्योकि उनके कोमल पाँव जलते होगे। मोर प्यास से आकुल हो उठे है, वे उछल-उछल कर रहट से छलकती बूँदो को पीना चाहते है। इस श्लोक की प्रत्येक पक्ति मे एक-एक बिम्ब का स्वत. विधान हो गया है। सोते हुए हस, उतरते हुए कपोत और चक्कर काटते हुए प्यासे मोर आँखो के सामने प्रत्यक्ष हो जाते है। ये तीन बिम्ब तत्वत एक है, क्योकि इनसे तप्त मध्याह्न का बोध होता है। उस समय तक राजभवन मे मालविका के नृत्य का अभिनय चल रहा था। राजा के शृगारसिक्त श्रवण को हस, पारावत और शिखी और अच्छे भाते होगे। ये पक्षी गति, प्रणय और सौन्दर्य की भावना को भी व्यक्त कर रहे है। मध्याह्न का वर्णन बाहर से नही राजभवन के पक्षियो से ही कर दिया गया है। अलकारो के चमत्कार से विहीन सरल रेखाओ के माध्यम से यह कैसा नयनाभिराम चित्रण हुआ है! ये भोले-भाले बिम्ब हमारे मन मे समा गए है। शाकुन्तलम् के प्रारम्भ मे ग्रीष्म का एक ऐसा ही सलोना सुहावना चित्र आता है —

सुभग सलिलावगाहाः पाटल संसर्गि सुरभि वनवाताः ।
प्रच्छाय सुलभ निद्रा दिवसाः परिणाम रमणीयाः ॥

—शाकु० १।३

अर्थात्, इन दिनो नहाने मे जल बडा भाता है, पाटल मे बसा हुआ वन का पवन भी बडा सुहाता है, वृक्षो की घनी छाया मे नीद भी अच्छी आती है और आजकल की सध्या तो इतनी सुहावनी होती है कि कहना ही क्या ! शीतल जल मे स्नान, वन के पाटल की सुगध, वृक्ष की छाँह मे नीद और सध्या की रमणीयता, ग्रीष्म मे ये चार चीजे बडी लुभावनी होती है। ग्रीष्म कितना भी प्रचड क्यो न हो, लेकिन इन चारो चीजो के चलते वह बडा प्यारा लगता है। महाकवि जब प्रकृति को इस रमणीय रूप मे उपस्थित करता है तो जीने का मोह बढ जाता है। माना की ससार मे दुख है, लेकिन इतना सस्ता सुख स्वर्ग में भी तो नही। कालिदास की यह प्रकृति शकुन्तला की तरह सरल, अनसूया की तरह निर्मल और प्रियम्वदा की तरह प्रियकर है !

यदि कविता के आधार पर कवि के स्वभाव का निरूपण किया जाय, तो कालिदास की प्रकृति नितान्त नवनीत बनी प्रतीत होती है। वे नवनीत के समान कोमल, कठिन और द्रवणशील थे। उन्होने जीवन के भयकर और उदास पक्ष को भी सुन्दर और सरस बना दिया है। कवि ने जहाँ काल की विभीषिका और भग्नावशेष की शून्यता का चित्रण किया है, वहाँ भी हमे कलात्मक सौन्दर्य की अनुभूति होती है। कुमार सभव के त्रयोदश और रघुवश के षोडश सर्ग मे खडहर या भग्नाववेश का वर्णन कुछ विस्तार के साथ आया है। कुमार सभव से एक उद्धरण दिया जाता है —

दैतेयदन्त्यावलिदन्तघातैः
क्षुण्णान्तराः स्फाटिक हर्म्यपंक्तीः।
महाहिनिर्मोकपिनद्धजालाः
स वीक्ष्य तस्यां विषसाद सद्यः ॥
उत्कीर्ण चामीकर पंकजाना
दिग्दन्तिदानद्रव दूषितानाम्।
हिरण्य हंस व्रज वर्जितानां
विदीर्ण वैदूर्य महाशिलानाम् ॥
आविर्भवद्बालतृणाञ्चितानां
तदीय लीलागृह दीर्घिकाणाम्।
स दुर्दशां वीक्ष्य विरोधिजातां
विषाद वैलक्ष्यभरं बभार ॥

तद्दन्ति दन्तक्षत हेम भित्ति—
सुतन्तुजालाकुल रत्नजालाम् ।
निन्ये सुरेन्द्रेण पुरोगतेन
स वैजयन्ताभिधमात्म सौधम् ॥

—कुमार० १३।३८ से ४१

अर्थात्, तारकासुर के द्वारा ध्वस्त की गई देवताओ की अमरावती का यह दृश्य है। वहाँ के स्फटिक के बने हुए बडे-बडे भवन दैत्यो के हाथियो की दाँतो की टक्करो से तडक गये थे और जहाँ-तहाँ बडे-बडे साँपो की केचुलियाँ छुटी पडी थी। देवताओ के विलास-गृहो मे बनी हुई बावलियो मे से सोने के कमल उखाड लिये गये थे, दिग्गजो के मद से उनका जल गँदला हो गया था, सुनहरे हस वहाँ से उड गये थे, पन्नो की बनी बडी पटिएँ भी टूट-फूट गई थी और चारो ओर छोटी-छोटी घासे उग आई थी। इन्द्र के वैजयन्त-भवन की सुनहली दीवारे दैत्यो के हाथियो के दाँतों की टक्टर से फट गई थी और मकडियो ने वहाँ जाले तान दिये थे। इन्द्र कुमार कार्तिकेय को इस प्रकार अमरावती दिखाते चल रहे थे। कुमार को यह दृश्य देख कर बडा विषाद हुआ।

अयोध्या की नगरदेवी कुश से अयोध्या की दुर्दशा का वर्णन करते हुए कहती है :—

सोपान मार्गेषु च येषु रामा
निक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान्।
सद्यो हतन्यंकुभिरस्रदिग्धं
व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे ॥
चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः
करेणुभिर्दत्तमृणाल भङ्गाः ।
नखाकुशाघात विभिन्न कुम्भाः
संरब्ध सिंह प्रहृतं वहन्ति ॥
स्तम्भेषु योषित्प्रतियात नाना—
मुत्क्रान्त वर्णक्रम धूसराणाम्
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गा—
न्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥

—रघु० १६।१५ से १७

अर्थात्, पहले अयोध्या की जिन सीढियों पर सुन्दरियाँ अपने महावर लगे लाल लाल पैर रखती चलती थी, उन्ही पर मृग मारने वाले बाघ अपने रक्त से सने लाल पैर रखते चलते है। जिन चित्रो मे ऐसा दिखाया गया था कि हाथी कमल के तालो मे उतर रहे है और हथिनियाँ उन्हे सूँड से कमल की डण्ठल तोड कर दे रही है, उन चित्रित हाथियो के मस्तको को सिहो ने सच्चे हाथी का मस्तक समझ कर नखो से फाड दिया है। बहुत से खभो मे जो स्त्रियो की मूर्तियाँ बनी हुई थी, आजकल उन मूर्तियो का रग उड गया है। उन खभो को चदन का वृक्ष समझ कर जो साँप उनसे लिपटे है उनकी केचुले छूट कर उन मूर्तियो से सट गई है, और वे ऐसी लगती है मानो उन स्त्रियो ने स्तन ढकने के लिए कोई कपडा डाल लिया हो।

कालिदास की दृष्टि ने भग्नावशेष को कल्पना से इस तरह अनुरजित कर दिया है कि व्याघ्र के रक्तचरण चिह्न और सुन्दरियो के अलक्तक दोनो एक से सुन्दर प्रतीत होते है। चित्रकार की सफलता ही कहिए कि चित्रित हस्तिमस्तक पर असली सिंह झपट रहा है। साँप की केचुल चित्रित रमणी का आँचल हो रही है। कवि की कल्पना धन्य है जो निर्मोक को स्तनोत्तरीय बना देती है।

कालिदास की कल्पना खडहरो मे तो खेलती ही है, रण प्रागण के बीच भी वह किलोल करती है। इन्दुमती को छीनने वाले राजाओ के साथ अज के सैनिक युद्ध कर रहे है। अज के एक योद्धा ने अपनी नगी तलवार से एक हाथी के विशाल दाँत पर ऐसा प्रहार किया कि उससे आग निकलने लगी। वह भयभीत हाथी अपनी सूँड के जलसीकर से आग बुझाने लगा। वह युद्ध क्षेत्र से मृत्युदेव का मदिरालय बन गया था। मानो, वाण से कटे हुए सिर फल हो, उलट कर गिरे हुए कूँड प्याले हो और बहता हुआ रक्त मदिरा हो। गिद्ध आदि पक्षियो से नोची हुई किसी योद्धा की कटी हुई बाँह को एक सियारिन खीच ले गई, पर ज्यो ही उसने उस पर मुँह मारा, बाँह मे बँधे हुए भुजबध की नोक से उसका तालू छिद गया। एक योद्धा युद्ध मे तलवार से कट कर विमान पर चढा और आकाश मे उडा। उसकी बाँयी ओर एक अप्सरा भी थी। वह विमान मे बैठा हुआ रणभूमि मे अपने नाचते हुए धड को देख कर प्रसन्न है। दो वीर योद्धा जब रथ, गदा और मल्ल-युद्ध से आपस मे कट-मर कर स्वर्ग पहुँचे, तो वहाँ, एक अप्सरा पर दोनो रीझ कर पुनः आपस मे झगडने लगे; (रघुवश

७।४८ से ५३) युद्ध-भूमि मे हाथी के दाँत पर अग्नि और जल का एक साथ वर्णन समरागण का मधुशाला मे रूपान्तरण, भुजबध मे तालू छिद जाने पर सियारिन का भागना, विमानस्थ योद्धा का अपने नाचते हुए धड को देखना, स्वर्ग मे भी एक अप्सरा को ले कर दो वीरो का झगडना आदि ऐसे दृश्य है, जो हमे रण की विभीषिका से क्षण भर हटा कर कल्पना की मधुशाला मे ले जाते है। कवि की कल्पना कही रहेगी वह मनोरजन के लिए सामग्री जुटा लेती है। कुमार सभव के अतिम चार सर्गो म युद्ध जनित भावो का उल्लसित चित्रण हुआ है। कुमार और तारक के युद्ध मे वीर रस की सफल निष्पत्ति हुई है। लेकिन, वहाँ भी कल्पना के नदन मे पारिजात की सुरभि सदा साथ रहती है। देव-सेना को पराजित करने के लिए तारकासुर ने वायव्य नामक अस्त्र छोडा है। उस बाण से ऐसा अधड चला कि कुद फूल के समान उजले देव-सैनिको के छत्र ऐसे उडने लगे, जैसे मेघपूरित आकाश मे राजहस उडे चले जा रहे हो। चमेली के फूल के समान उनकी उजली पताकाएँ आकाश मे इस तरह छितरा गयी कि आकाश-गगा की उछलती हुई सैकडो लहरियो के समान वे दीखने लगी —

कुन्दोज्ज्वलानि सकलातपवारणानि
धूतानि तेन मरुता सुरसैनिकानाम् ।
उड्डीयमान कलहंसकुलोपमानि
मेघाभिधूलिमलिने नभसिप्रसस्रुः ॥
विध्वस्य तेन सुरसैन्य महापताका
नीता नभस्थलमलं नवमल्लिकाभाः ।
स्वर्गापगाजलमहौघ सहस्र लीलां
व्यातेनिरे दिवि सिताम्बर कैतवेन ॥
—कुमार० १७।२७,२८

रण-प्रागण के गगन-मडल मे कल हंस और आकाश गगा के दर्शन कालिदास ही करा सकते है। पुष्पोद्यान और श्मशान मे समान रूप से सौन्दर्य देखने वाले इस कवि की मधुलोभी कल्पना की कितनी स्तुति की जाय! कालिदास की बिम्ब-विधायिनी कल्पना का एक उत्कृष्ठ रूप कुमार सभव के त्रयोदश सर्ग मे देखा जा सकता है, जहाँ कुमार और इन्द्र आकाश गगा के दर्शन कर रहे है। आकाश गगा का जल विहार करने वाली अप्सराओ के अग-राग से रग जाया करता है। उसमे विहार करते समय दिग्पालों के हाथी लहरो पर अपनी सूँड

पटका करते है और उसकी लहरो के जल से तीरस्थ वृक्षो के आलवाल सदा सिंचे रहते है। वहाँ देव-कन्याओ ने खेलने के लिए बीच-बीच मे मणि दे कर बालू की वेदिकाएँ बना रखी है। वहाँ सुगध के लोभी भौरे सदा गूँजते रहते है, सोने के कमल सदा खिले रहते है, जिनके गिरे हुए पराग से वहाँ का जल पीला हो जाता है। देवताओ की सुन्दरियाँ मन बहलाव के लिए वहाँ तट पर आ कर बैठती है, और, तरगो मे पड़ती हुई जिनकी परछाई उधर से आने-जाने वाले पथिक का जी लुभाती है :—

कुतूहला द्रष्टुमुपागताभि—
स्तीर स्थिता भिः सुर सुन्दरीभिः।
अभ्यूर्मिराजि प्रतिबिम्बताभि—
र्मुदं दिशन्तीं व्रजतां जनानाम् ॥
कुमार० १३।२४ से २६ तक देखें।

आकाश-गगा की लहरो पर दिग्गजो का सूँड पटकना, लहर-जल से उसके तीरस्थ वृक्षो के थाले का सीचा जाना, ऊर्मियो मे प्रतिबिम्बित सुर-सुन्दरियो के मुख का पथिको द्वारा निहारा जाना आदि व्यापार कितने मनोरम हैं। कुमार के साथ हम भी अमरावती पहुँचते है, और आकाश गगा के दर्शन से आत्म-विभोर हो जाते है, लहरो मे प्रतिबिम्बित सुर-सुन्दरियो के मुख-सौन्दर्य का हम अवलोकन करते है। कवि-कल्पना के प्रसाद से आकाश गगा हमारे आँगन में उतर आती है। धरती स्वर्ग बन जाती है। जीवन अमृत हो जाता है।